काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २९

श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिप्रणीतः

जीवन्मुक्तिविवेकः

ठाकुर उदयनारायणसिंह-
प्रणीत-हिन्दी-टीकया-समन्वितः

डा० महाप्रभुलालगोस्वामिना

विस्तृतभूमिकया सारसङ्कलनेनालङ्कृत्यानुवादश्च
परिष्कृत्य सम्पादितः

चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

३९
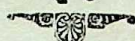
श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिप्रणीतः

जीवन्मुक्तिविवेकः

ठाकुर उदयनारायणसिंह-

प्रणीत-हिन्दी-टीकया-समन्वितः

डा० महाप्रभुलालगोस्वामिना

विस्तृतभूमिकया सारसङ्कलनेनालङ्कृत्यानुवादश्च

परिष्कृत्य सम्पादितः

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)
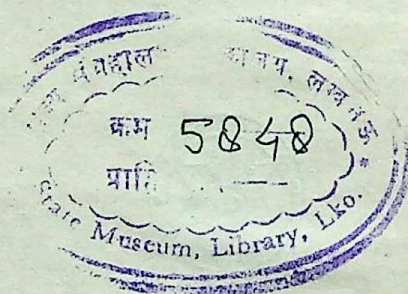
THE
KASHI SANSKRIT SERIES
39
*****

JIVANMUKTIVIVEKA

OF

ŚRĪMAD. VIDYĀRAṆYA SVĀMĪ

with Hindi Commentary
THĀKUR UDAYANĀRĀYAṆA SINHA

Critically Edited with exaustive introduction
by
Dr. MAHĀPRABHU LĀL GOSWĀMĪ

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

Second Edition : 1984

Price : Rs. 75-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

भूमिका

किसी भी शास्त्र या ग्रन्थ के अर्थ को हृदयङ्गम करने के लिए एक भूमिका का निर्माण आवश्यक होता है। विशिष्ट भवन के निर्माण करने की इच्छा होने पर भूमि का शोधन अनिवार्य रहता है। भूमि ही भूमिका है।

प्रथम गुरु का नमस्कार करते हुए लिखा है "विद्यातीर्थ-महेश्वरम्"। पाराशर-माधव के अनुसार हृदय में विद्यातीर्थ का आश्रयण करते हुए मैं इसकी रचना कर रहा हूँ। भारतीतीर्थ परमगुरु है और विद्यातीर्थ गुरु है। "विद्यातीर्थमुपाश्रयन्हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम्"।

आचार्य विद्यारण्य का "जीवन्मुक्तिविवेक" एक प्रकरणग्रन्थ है। अद्वैतात्मतत्त्व का अपरोक्षज्ञान करने की इच्छा होने से साधन के साथ कर्मों का परित्याग हो जाता है, यह विविदिषान्यास है और अद्वैतात्मतत्त्व के अपरोक्ष रूप ब्रह्म विद्या का ज्ञाता विद्वान् कहा जाता है। यह सत्य है वृत्यात्मक ज्ञान तीन क्षण तक ही अवस्थान करता है, किन्तु ज्ञान का फल अज्ञान ध्वंस के अधिष्ठान स्वरूप अद्वैत स्वप्रकाश आत्मरूप होने से नित्य अपरोक्षात्मक है और वह सदा वर्तमान रहता है, इस कारण से किया गया न्यास साधन-सहित कर्मादिकलाप का विधिपूर्वक परित्याग है--यही विद्वत्सन्न्यास है।

मानव के हृदय में सभी वस्तुओं के प्रति वितृष्णा का भाव आने पर सन्न्यास की इच्छा होती है और इसके विपरीत आचरण करने से पतित हो जाता है। अत्यन्त वैराग्य के बाद पदार्थों के प्रति वासना होना ही पशुता है। तीव्रतर वैराग्य का हंस नाम है। विज्ञान साधन अर्थात् तत्त्ववेत्ता सन्न्यासी परमहंस संज्ञक नाम से कहा जाता है जिज्ञासु और ज्ञानवान् के भेद से **परमहंस** दो प्रकार के कहे गये हैं। दो लोक कहे हैं—एक आत्मलोक और दूसरा अनात्मलोक। अद्वैत रूप से सम्पूर्ण विश्व के साथ तादात्म्य की स्थिति आत्मलोक की प्राप्ति है।

विषयों को आत्म रूप से प्राप्त करता है, आत्मरूप से विषयों का आदान करता है, विषयों को आत्मसात् करता है, सदा यही भाव परिव्याप्त रहता है, अतः यह आत्मलोक है।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति भण्यते॥

आत्मलोक की आराधना से सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं सम्पूर्णानन्देन्दु कौमुदी लोकन अर्थात् अनुभव किये जानें से लोक कहा जाता है। यह अनुभव आत्मविषयक अनुभव है, इसकी इच्छा करता हुआ नाम रूप में अवस्थित विषयों से दूर हटना ही परमहंसात्मक आत्मानुभव है।

याज्ञवल्क्य ने जीवन्मुक्तावस्थाको व्यतीत करने की दृष्टि से सन्न्यास को स्वीकार किया है--यही अमृतत्व है--यह सूचित कर सन्न्यास का ग्रहण किया। आत्मपुराण में कहा गया है--योग-सम्पत्ति-सम्पन्न व्यक्ति भी सङ्ग के कारण निश्चित ही पतित हो जाता है। कामक्रोध आदि के संसर्ग से मन अशुद्ध हो जाता है, जैसे भयङ्कर वायु के संसर्ग से प्रदीप्तदीप भी प्रकाश प्रदान करने में समर्थ नहीं होता है वैसे ही विषयसङ्ग से ब्रह्मज्ञान होने पर भी--वह व्यर्थ हो जाता है।

महावाते स्थितो दीपो यथा कार्यकरो नहि।
सङ्गे सति तथा ब्रह्मज्ञानं कार्यं करोति नः॥

सङ्ग के कारण मनुष्य बन्धन में पड़ जाता है और निःसङ्ग बन्धन शून्य करता है। मन काम और सङ्कल्प के कारण अशुद्ध रहता है और निष्काम मन शुद्ध रहता है। अव्यय वासुदेव के स्वरूप में अपनी अनुभूति की दृढता ही जीवन्मुक्तावस्था है। योगाभ्यास से कामादि का अभिनव सम्भव है, अतः, जीवन्मुक्ति में किसी प्रकार का विवाद नहीं है।

जीवन् एवं मुक्तः जीवित रहता हुआ मुक्त जीवन्मुक्त है। और जीवन्मुक्ति शब्द से जीवन की दशा में संसार बन्धन से रक्षा होती है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सभी अभिमानका त्याग होने से आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, पुनर्जन्म की सम्भावना न होने से जन्म, मृत्यु आदि क्लेश समूहों का उच्छेद हो जाता है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर जीवन की अवस्था में ही संसार रूपी बन्धन से मुक्ति की प्राप्ति होती है। अज्ञानरूपी अन्धकार का भेदन कर सुख-दुःख आदि से परे हो जाते हैं। अखण्ड चैतन्यस्वरूप ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है। सर्वव्यापी स्वरूप चैतन्य का साक्षात्कार हो जाता है, फलतः अज्ञान और अज्ञान के कार्य पाप-पुण्य, संशय, भ्रम आदि

की निवृत्ति होने से संसार बन्धन से मुक्त होने पर जीवन्मुक्त होता है[1]।

कारण के न रहने पर कार्य नहीं हो सकता है। सुखदुःखादि या संसार का कारण अज्ञान दूर हो जाता है। यह जिज्ञास्य है कि किस प्रकार अज्ञान का कार्य संसार है?

पर ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर अन्तःकरण के सभी भ्रम नष्ट हो जाते हैं। संशय की निवत्ति होने पर एवं सत् और असत् सभी कर्मों का ध्वंस होने पर जीव की जीवन् मुक्त अवस्था आती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष जाग्रत् काल में रक्त, मांस, विष्ठा, मूत्रादि के आधाररूप षाट्कौशिक शरीर से, आन्ध्य मान्द्य अपटुतादि के आश्रयस्वरूप इन्द्रियों से, वधिरता कुण्ठता, अन्धत्व, जडता, जिघ्रता, मूकता, कौण्य, पङ्गुत्व, क्लैव्य, उदावर्त, मन्दता इन ग्यारह इन्द्रियों के वध से एवं अशन, पिपासा, शोक मोहादि के आकाररूप अन्तःकरण से पूर्व-पूर्व वासना के द्वारा प्राप्त संस्कार दूर हो जाते हैं।

सैकड़ों कल्प के व्यतीत होने पर भी कर्म का भोग किये विना वे संस्कार विनष्ट नहीं होते हैं।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"

शास्त्र में निष्काम कर्म की विशेष प्रशंसा है। कामना से रहित व्यक्ति किस प्रकार से संसार के वशीभूत नहीं होते हैं।

कर्म के द्वारा पूर्व के सभी संस्कारों का नाश मानने पर सकाम से भिन्न निष्काम कर्म के द्वारा नवीन संस्कारों का सञ्चय नहीं होता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान के विरोधी प्रारब्ध फलों का भोग कर दृश्यमान यह जगत् यथार्थ वस्तु नहीं है, अपि तु जैसे कोई इन्द्रजाल करनेवाले व्यक्ति के इन्द्रजाल को देखकर इन्द्रजाल का दर्शक व्यक्ति—यह वास्तविक सत्य नहीं है, यह स्थिर करता है। बाह्य विषय में चक्षु रहने पर भी चक्षुहीन, कान रहने पर भी कर्णहीन, मन रहने पर भी मनहीन, प्राण रहने पर भी प्राणहीन, इस प्रकार से जो ज्ञान करता है, वह जाग्रत् अवस्था में भी सोये हुए के समान बाह्य

---

१. जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डशुद्धब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डे ब्रह्मणि साक्षात्कृते सति अज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मविपर्यादीनामपि बाधितत्वादखिलबंधरहितो ब्रह्मनिष्ठः॥ (वेदान्तसार)

वस्तुओं को नहीं देखता है। द्वैत वस्तुओं में भी अद्वितीय का दर्शन करता है, बाह्य कर्म करके भी अन्तःकरण में निष्क्रिय रहता है–वही जीवन्मुक्त है। इससे अतिरिक्त व्यक्ति जीवन्मुक्त नही है। जीवन्मुक्ति के बाद जीवन्मुक्त पुरुष के तत्त्व ज्ञान से पूर्व में किये गये विहार आदि कर्मों की जैसे अनुवृत्ति होती है, उसी प्रकार शुभ कर्मो की सभी वासनाओं की अनुवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति में अशुभ कर्म की वासना नहीं होती है, एवं बाद में शुभाशुभ दोनों कर्मो के प्रति औदासीन्य हो जाता है। अद्वैत तत्त्व के ज्ञान होने पर भी यदि इच्छा के अनुरूप आचरण की वासना होती है तो अशुचि भक्षण में कुत्ते आदि पशुओं से ज्ञानियों में कैसा भेद रहता है? अतः ज्ञान होने पर भी यदि व्यक्ति अपनी अवस्था को जैसे स्वतःशुभ्रवस्त्र, अन्नविलिप्त, काली के आकार से युक्त लाञ्छित और किसी वर्ण से रञ्जित-एक ही चित्रपट की चार अवस्था होती है, यह समझता है, माया और उसके कार्यरूप उपाधि से रहित आत्मा शुद्ध है, माया से उपहित ईश्वर है, अपञ्चीकृत भूतकार्य समष्टिरूप सूक्ष्मशरीर से उपहित हिरण्यगर्भ है, पञ्चीकृत भूतकार्यसमष्टि स्थूलशरीर से उपहित विराट् है, इस प्रकार परमात्मा ही अवस्था के भेद से चार प्रकार का है। इस चित्रपट स्थानीय परमात्मा में स्थावरजङ्गमात्मक निखिल प्रपञ्च चित्र स्थानीय है। जैसे मनुष्य का चित्रित, परिधेय वस्त्र पृथक्-पृथक् वस्त्र प्रकृत न होने पर भी चित्राधार प्रकृतवस्त्र के सदृशरूप में कल्पित होता है, वैसे ही प्राणिमात्र का पृथक्-पृथक् जीवचैतन्य सभी का आधार परब्रह्म चैतन्य के समान रूप में कल्पित होता है। ये जीव अनेक प्रकार के संसारमार्ग में परिभ्रमण करते हैं[1]।

आध्यात्मभेद भी तीन प्रकार का है––विश्व, तैजस, और प्राज्ञ। सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण के विलीन होने पर अज्ञानमात्र साक्षी ही प्राज्ञ है, प्राज्ञ ही आनन्दमय है। स्वप्न में व्यष्टि सूक्ष्मशरीरका अभिमानी तैजस है एवं जागरण में व्यष्टि स्थूलशरीराभिमानी विश्व है। विश्वको तैजस में, तैजसको प्राज्ञमें प्रविलय कर तुरीय अवस्था में स्थिति की प्राप्ति ही ब्रह्मात्मैक्य है।

दृग्दृश्यविवेक में विद्यारण्यने कूटस्थ चैतन्य को जीव के अन्तर्भुक्त कर तीनप्रकार के चैतन्य का अवलम्बन करते हैं––यही विशेष है। विद्यारण्यने जीव और ईश्वर दोनों को प्रतिबिम्ब के स्वरूपमें

---

१. पञ्चदशी चित्र दीद १-७।

माना है, अतः जीवेश्वर की प्रतिबिम्बवाद के रूपमें स्थिति है। यद्यपि विवरणप्रमेयसङ्ग्रह प्रकाशात्मयति के पञ्चपादिका के विवरण की व्याख्या स्वरूप में रचित है, तथापि प्रतिबिम्बवाद के प्रसङ्गमें विद्यारण्यने विवरणमतको नहीं माना है। प्रकाशात्मयति के मन में ईश्वर बिम्बस्थानीय और जीव प्रतिबिम्बस्थानीय है, किन्तु विद्यारण्यके मतमें बिम्बस्थानीयं ब्रह्म मायाशक्तिमत् कारणं जीवाश्च प्रत्येकमविद्यानुबद्धा इति केचित्, मायाविद्याप्रतिबिम्बितं जगत्कारणं विशुद्धब्रह्मामृतत्वालम्बनं जीवाश्चाविद्यानुबद्धा इत्यन्ये। प्रथममतमें माया और अविद्यामें भेद है ब्रह्मप्रतिबिम्ब नहीं है, द्वितीयमें उससे विपरीत है। प्रकृतमें विद्यारण्य ने विवरण की व्याख्या करते हुए भी उनके मतका खंडन किया है।

ईश्वर की सर्वज्ञता:—

विद्यारण्य के मतमें ईश्वर सर्ववस्तुविषयक सभी प्राणियों की धीवासना से उपरक्त ज्ञानोपाधिक है। ईश्वर सभी की विषयवासना का साक्षी होने से ही सर्वज्ञ है।

साक्षित्व निरूपण:—

कूटस्थदीपमें विद्यारण्य ने कहा है, देहद्वयका अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य ही साक्षी है। कूटस्थ चैतन्य स्वावच्छेदक दोनों देहों का साक्षात् द्रष्टा और निर्विकार है, अतः, कूटस्थ चैतन्य ही साक्षी है, उदासीन व्यक्ति ही साक्षी कहा जाता है, इससे विच्छिन्न होकर काम, क्रोध आदि सभी वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, किन्तु सुषुप्ति मूर्च्छा या समाधि अवस्था में ये सभी विलीन हो जाते हैं। जिस निर्विकार चैतन्य से ही सभी वृत्तियों और उनकी अन्तराल अवस्था एवं सभी अभाव प्रकाशित होते हैं——वही कूटस्थ चैतन्यसाक्षी है।

नाटकदीपमें——कहा है साक्षी ही मैं देखता हूं, सुनता हूं, सूँघता हूँ, स्वाद लेता हूँ, स्पर्श करता हूँ, इस अनुव्यवसाय के रूप में सभी प्रकाशित होते हैं। नृत्यशाला में स्थित दीप के समान ही साक्षी है। नृत्यशालामें स्थित दीप जैसे गृह स्वामी, सभ्यगण एवं नर्तकी इन सभी का एक समय एक साथ प्रकाश करता है एवं उनके अभावभी स्वयं प्रदीप्त रहते हैं। साक्षी भी उसी प्रकार अहं प्रत्ययसिद्ध कर्ता, इन्द्रियवृत्ति और बुद्धिवृत्ति एवं विषय इन समूहों का ही प्रकाश करता है पर उनके अभाव में भी स्वयं दीप्यमान रहता है। कूटस्थ, स्वप्रकाश चैतन्यरूप में निरन्तर प्रकाशित रहने से उसके

द्वारा प्रकाशित बुद्धि अनेक प्रकार से नृत्य करती है। अहङ्कार गृह-स्वामी स्वरूप है, विषय सभास्वरूप है, बुद्धि नर्तकी स्वरूप है इन्द्रियाँ बाद्यस्वरूप है और साक्षी चैतन्यदीप स्वरूप है। जैसे रङ्ग-शालास्थित दीप स्वयं एक स्थान में रहकर भी उस घर के सभी भागों को समान रूपसे प्रकाशित करता है, उसी तरह साक्षीचैतन्य स्थिरभाव में अवस्थित होकर भी अन्तः और बाह्य दोनों का एक ही समय प्रकाश करता है। कूटस्थ दीप का नाटकदीप[1] से यह वैशिष्टय है कि कूटस्थ जीवका भ्रमाधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य ही जीवादि का अवभासक है और नाटकदीपमें चिदाभासविशिष्ट अहङ्कार की जीवरूप में कल्पना कर उसके आभास चैतन्य को ही साक्षी कहा गया है। दोनों स्थलों में कूटस्थचैतन्य ही साक्षी है विद्यारण्य के मत में जीव साक्षी नहीं है, क्योंकि, जीव उदासीन नहीं है, ईश्वर भी साक्षी नहीं हैं, क्योंकि वह जगत्सृष्टि का नियमनकर्ता है, अतः उदासीन नहीं है, जीवेश्वरभावशून्य केवलशुद्ध उदासीन चैतन्य ही साक्षी है।

स्वाप्नपदार्थाधिष्ठान निरूपण:——

स्वाप्नप्रपञ्च के अधिष्ठान के सम्बन्ध में दो मत है एक अनवच्छिन्न चैतन्यको ही अधिष्ठान मानते हैं और कतिपय आचार्य अहङ्कार से उपहित चैतन्यको अधिष्ठान मानते हैं। विद्यारण्य के मत में अन-वच्छिन्न चैतन्य ही अधिष्ठान है, अविद्या में बिम्बभूत ईश्वरचैतन्य ही अनवच्छिन्न चैतन्य है, अहङ्कारानवच्छिन्न चैतन्य देह के बाहर स्वाप्नप्रपञ्च का अधिष्ठान नहीं हो सकता है, किन्तु अन्दर ही हो सकता है। इसलिए दृश्यमान परिणामोचित देशसम्पत्तिका अभाव होने से स्वाप्निक गज आदि मायामय है। अन्तःकरणका देह के बाहर स्वातन्त्र्य नहीं है। अतः, जागरण में बाह्यशक्ति के इदम् अंश को प्रत्यक्ष करने में संप्रयोग की अपेक्षा नहीं है। जैसे जागरण में सम्प्रयोग जन्य वृत्ति के बल से अभिव्यक्त शुक्ति में इदमंश से अवच्छिन्नचैतन्य स्थित अविद्या चाँदी के आकार में विवर्तित होती है, उसी प्रकार स्वप्न में भी देह के अभ्यन्तर में निद्रादि दोषोपहित अन्तःकरण वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य भी अदृष्टवश उद्बोधित अनेक प्रकार विषयसंस्कारसहित अविद्या प्रपञ्चाकार में विवर्तित होता है——यही विद्यारण्यको अभिमत है[2]। इनके मत में अविद्या में बिम्ब-

१. नाटकदीप १०-१४ २. विवरणप्रमेयसंग्रह पृ० ३९-४०

भूत ईश्वर चैतन्य ही अनवच्छिन्न चैतन्य है, क्योंकि, ईश्वर चैतन्य ही सर्वाधिष्ठान है, अविद्या प्रतिबिम्ब जीवचैतन्य अनवच्छिन्न चैतन्य नहीं है।

निर्गुण उपासनाः—निर्गुण उपासना में ब्रह्मज्ञान होता है यही उचित मार्ग है। श्रुति में कहा गया है—"तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्" गीतामें भी कहा है "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते", सांख्य को मुख्य और योग को परम्परा क्रम में माना है। सांख्य वेदान्त विचार है। मनन आदि से सहकृत श्रवण से कथित विचार ही सांख्य है एवं निर्गुण ब्रह्मोपासना ही योग है। बुद्धिमान्द्यप्रयुक्त या चित्तशुद्धि के अभाव से जो व्यक्ति इस विचार में असमर्थ होता है उसको सदा परोक्षरूप में परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। विद्यारण्यने कहा है–निर्गुण परब्रह्मतत्त्व की परोक्षरूप में उपासना करना असम्भव नहीं है। जैसे सगुण उपासना में अन्तःकरण वृत्तिका प्रवाह होता है वैसे ही इसमें प्रत्ययावृत्ति सम्भव है।

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसम्भवः।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्ति-सम्भवात्॥ ध्यानदीप ९।५५

इनके मत में सम्भवादिभ्रम स्वयंभ्रम के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी सम्यक् फल की प्राप्ति के लिए समर्थ है, उसी प्रकार सगुण ब्रह्मतत्त्व ज्ञान के समान ब्रह्मतत्त्व की उपासना भी परब्रह्मतत्त्व परोक्षरूप में अवगत होकर "मैं ही वह परब्रह्म हूँ" इस प्रकार मुक्तिफल प्रद है।

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक् फलप्रदः।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा॥ ९।१३
वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम्।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥ ९।१४

अब यह विचारणीय है कि ब्रह्म बाणी और मन से परे है, अतः उसकी उपासना कैसे सम्भव है। विद्यारण्य का कथन है कि—ऐसी स्थिति में उस परब्रह्म के विषय में ज्ञान भी असम्भव होगा। यदि बाणी और मन के अगोचर रूप में अगोचर ब्रह्म का ज्ञान सम्भव है, तब उसी प्रकार उसकी परोक्ष उपासना भी सम्भव है। यदि यह कहा जाय कि उसकी उपास्यता मानने पर सगुणत्व भी मानना पड़ेगा, इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि उसका ज्ञेयत्व कैसे सम्भव होता है? इसलिए लक्षणा द्वारा लक्षित कर उसकी परोक्षरू में उपासना सम्भव है। यदि यह कहा जाय कि श्रुति कहती है कि—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । केन उप. १।४ इस श्रुति से उपास्यत्व का निषेध किया गया है । इसके उत्तर में विद्यारण्य ने कहा है--श्रुति में तो वेद्यत्व का भी निषेध किया गया है--

"अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।"

परब्रह्म की उपासना में प्रमाण का अभाव नहीं है क्योंकि, उत्तरतापनीय उपनिषद् प्रश्नोपनिषद्, कठोपनिषद् एवं माण्डूक्योपनिषद् में निर्गुण की उपासना का भी वर्णन मिलता है और उसका अनुष्ठान पञ्चीकरणप्रकरण में कहा गया है, यदि इस उपासना को ज्ञानसाधन के रूप में माना जाता है तो मेरा इसमें कोई विरोध नहीं है । निर्गुण उपासना एक प्रकार का मत है, इसीलिए वेद में आनन्दो ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म नित्यशुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दः परः प्रत्यक्रसः इत्यादि गुणगण उपास्य परब्रह्म में उपसंहृत होता है । वेदव्यास ने "आनन्दादयः" इत्यादि सूत्र में विधेय विशेषण **"आनन्दः विज्ञानमानन्दम्"** इत्यादि गुणों का ब्रह्म में उपसंहार किया है । **'अस्थूलमनणु'** आदि की बोधक श्रुति में अस्थूलत्व आदि निषिद्ध गुणों की भी "अक्षरधियाम्" इत्यादि सूत्रों में उपास्य ब्रह्म में उपसंहृत किया है । यदि कहा जाय कि विधेय या निषेध्य गुण-गण लक्षकमात्र है, ब्रह्मतत्त्व में अन्तःप्रविष्ट होने के लिए नहीं है । इसके समाधान में विद्यारण्य ने कहा है कि विद्यातत्त्व में गुण समूह के प्रविष्ट न होने पर भी लक्षणा के द्वारा लक्षित सद्-ब्रह्मतत्त्व की उपासना करने में लाभ है ।

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तःप्रवेशनम् ।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम् ।।
आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्मलक्षितः ।
अखण्डैकरसः सोऽहमीप्सत्येवमुपासते ।। (ध्यानदीप ७२-७३)

यदि यह जिज्ञासा हो कि ज्ञान और उपासना में क्या भेद है ? इसके उत्तर में विद्यारण्य ने कहा है, ज्ञान वस्तु के अधीन है, और उपासना पुरुष की इच्छा के अधीन है । विचार से ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु वह एक बार यदि दृढतर हो जाता है तो उस विषय में इच्छा न होने पर भी उससे वह निवृत्त नहीं होता है । उसके उत्पन्न होते ही सभी सांसारिक अनित्यवस्तु में सत्यत्वका भ्रम नष्ट हो जाता है । इससे साधक कृतकृत्य होकर परमतृप्ति का लाभ करता

है, एवं जीवन्मुक्त होकर प्रारब्ध कर्मफल भोग पर्यन्त अपेक्षा करता है। गुरु से उपदिष्ट वस्तु के प्रति विश्वास कर श्रद्धालु व्यक्ति विचार के विना ही अन्तःकरणवृत्ति के प्रवाह में उपास्य की चिन्ता करता है। सांख्य और योग में यही विशेष है कि प्रतिबन्धरहित उस पुरुष की श्रवणादि के फलस्वरूप शीघ्र ब्रह्मसाक्षात्कार होता है--यही ज्ञानमार्ग का मुख्य कल्प है और उपासना का फल विलम्ब से होता है, योगमार्ग अनुकल्प है। विचार में अवलम्बन शब्द है, श्रौतवाक्य का अवलम्बन कर ब्रह्म का विचार सम्भव है और श्रुति में निर्दिष्ट सगुणों से उपलक्षित ब्रह्म की उपासना भी सम्भव है। आलम्बन कर दोनों ही क्षेत्रों में अन्तःकरण का प्रवाह रहने पर असीम से ससीम किया जाता है। विचार और प्रत्यगात्मा के बोध के उदय से पूर्व में असीमता है। शब्द के बल पर विचार में भी असीम अनन्त प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म का कुछ परिमाण परोक्षरूप में ग्रहण किया जाता है। ज्ञान का उदय होने पर प्रत्यगात्म ब्रह्मरूप में स्थिति का लाभ होता है। उपासना के क्षेत्र में भी परोक्षता है, निर्गुण उपासना में सविकल्पक समाधि होने पर स्वयं ही विचार का उदय होता है। और उसके फलस्वरूप निर्विकल्पक समाधि होती है। इसीलिए विद्यारण्य ने कहा है--

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥ (ध्यानदीप १५६)

निर्गुण उपासना ही परिपक्व होकर समाधिरूप में परिणत होती है। अत एव निर्गुण उपासना से अनायास में ही निर्विकल्पक समाधि का लाभ हो सकता है। सविकल्पक समाधि के बाद विचार स्वयं उद्गत होता है, सविकल्पक समाधि का लाभ कर के भी अनेक योगी निर्विकल्पक सुख से वञ्चित रह जाते हैं। सविकल्पक समाधि के सुख में आसक्त होकर पुनः अग्रसर नहीं होते हैं। इस प्रकार उपासना को **भी** विद्यारण्य ने महत्त्व दिया है।

यह सत्य है कि विद्यारण्य के ग्रन्थों की आलोचना करने से उनकी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता और सर्वतोमुखी प्रतिभा को देखकर विस्मित होना पड़ता है। राजनैतिक क्षेत्र में जो साम्राज्य के सञ्चालन में धुरन्धर है—वह दार्शनिक क्षेत्र में भी वैसा ही अद्वितीय है। भाषा का माधुर्य्य लालित्य एवं युक्ति के कौशल में भी उनका ग्रन्थ चित्ताकर्षक है। वह कर्मी, भक्त और ज्ञानी है।

जीवन्मुक्ति स्वरूप लक्षण प्रमाण प्रकरण :—

जब इस अधिकारी पुरुष के हृदय में स्थित सब कामनाएँ निवृत्त हो जाती है उस समय यह जीव (पूर्व, अज्ञ अवस्था में भाव धर्म वाला रहता है,) अमृत जरामरण रहित हो जाता है और जीवित ही दशा में ब्रह्म को प्राप्त करता है। जीवन्मुक्त पुरुष को जीवन्मुक्त, स्थितिप्रज्ञ भगवद्भक्त, गुणातीत, ब्राह्मण और अतिवर्णाश्रमी आदि विविधसंज्ञाओं से कहा जाता है। लेकिन वैदिक कर्मो का त्यागपूर्वक केवल ज्ञाननिष्ठ और आत्म-बिचारपरायण पुरुष की जीवन्मुक्तदशा प्राप्त होती है यह विदेह मुक्तदशा के समान है। देह एवं इन्द्रिय के द्वारा व्यवहार करने से जीवन्मुक्त के लिए यह नाम-रूपात्मक जगत् समानरूप में हो जाता है। सुखदुःख के राग से जिसके मुख पर हर्ष-विषाद के चिह्न प्रतीत न हो और सहजपदार्थों के ऊपर जिसकी स्थिति हो उसको जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्ति में जो स्थिति है उसको प्राप्त कर जिसकी जाग्रत् अवस्था नहीं रहती है तथा जिसका वासना रहित ज्ञान रहता है उसको जीवन्मुक्तपुरुष कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने गोलकों में स्थित होने के कारण ही वह जाग्रत् अवस्था का अनुभव करता है तथापि मन वृत्ति रहित होने से सुषुप्ति में स्थित रहता है, अतः इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञानरूप जाग्रत् अवस्था का अभाव रहता है। विहित (कर्त्तव्य) या निषिद्ध (अकर्त्तव्य) कर्मों के करने पर भी जिसकी आत्मा अहङ्कार के साथ तादात्म्य के अध्यास से आच्छादित नहीं रहती है और जिसकी बुद्धि हर्ष-विषादादि लेप से रहित है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। शत्रुमित्र मान अपमानादि विकल्प जिसके चित्त से शान्त हो गये हैं, जो विद्या कलत्रादि में कुशल होने पर भी उसके ज्ञान के कारण अभिमान तथा उसका उपयोग न करने से विद्याकलादि ज्ञानरहित के समान है। और जिसका चित्त विद्यमान होते हुए भी वृत्ति रहित होने से विना चित्त का है वह जीवन्मुक्त है।

जीवन्मुक्ति-साधन :—

तत्त्वज्ञान वासनाक्षय और मन का नाश ये तीनों मिलकर जीवन्मुक्ति के साधन है। जब तक इन तीनों का बार-बार भली-भाँति एक साथ अभ्यास न किया जाय, तब तक सैकड़ों वर्षों में

भी परमात्मपद की प्राप्ति नहीं होती है। यदि इनमें प्रत्येक का अलग-अलग बहुत दिनों तक भलीभाँति सेवन किया जाय तब भी वे एक क्रम में सह विनियुक्त मंत्रों के समान फल नहीं देते हैं। जब तक मन का विलय नहीं होता है, तब तक वासनाओं का क्षय नहीं होता है, इसी प्रकार जब तक वासनायें क्षीण नहीं होती हैं, तब तक चित्त की शान्ति नहीं होती है। दीप की शिखा के समान वृत्तिनामक शिखा या सन्तानरूप में परिणाम को प्राप्त कर अन्तःकरण नामक द्रव्य ही मननरूप होने से मन कहलाता है। इसका नाश अर्थात् वृत्तिरूप परिणाम निवृत्त होने से उसका निरुद्धाकार परिणाम हो जाता है। इस प्रकार के चित्त के विरोध परिणाम को ही मनोनाश समझना चाहिए। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता है, तब तक चित्त की शान्ति कहाँ ? और जब तक चित्त की शान्ति नहीं होती है, तब तक तत्त्वज्ञान भी नहीं होता है।

विविदिषासन्यासी को तत्त्वज्ञान का अभ्यास प्रधानरूप से करना चाहिए, और वासनाक्षय, मनोनाशका अभ्यास गौण भाव से करना उचित है और विद्वत्सन्न्यासी को इसके विपरीत करना चाहिए। अर्थात् उसको तत्त्वज्ञान का अभ्यास गौणभाव से और वासनाक्षय एवं मनोनाश के निमित्त की प्रधानता से अभ्यास करना कर्त्तव्य है, अत एव विद्वत्सन्न्यासी को गौण प्रधान भाव से तीनों रूप एक साथ अभ्यास करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है।

जैसे गतिमान् वायु निःस्पन्द (स्थिर) अवस्था को प्राप्त करती है, वैसे जीवन्मुक्त पुरुष, अपने शरीर के काल के वश होने पर (मरने पर) जीवन्मुक्तदशा का त्याग कर विदेहमुक्त पद में प्रवेश करता है।

वह अविद्यारूप निद्रा के हट जाने से जागते हुए भी सुषुप्ति में स्थित पुरुष के समान केवल स्वरूप में स्थित है, जिसका ज्ञान के द्वारा देहेन्द्रिय का बाध हो जाने से इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहणरूप जाग्रद् अवस्था नहीं है, तथा जिसकी जाग्रत्वासना से हुई स्वप्न अवस्था भी नहीं है, वही जीवन्मुक्त पुरुष कहलाता है।

मनोनाश :—

यद्यपि सम्पूर्ण वासनाओं के क्षय होने से मन का नाश हो ही जाता है, तथापि स्वतंत्र मनोनाश का यथाशास्त्र अभ्यास करने से वासनाक्षय की रक्षा होती है, अर्थात् वासना फिर उदय होने के योग्य नहीं रहती है। हजारों अंकुर, शाखा, पल्लव और फल वाले

संसाररूपी वृक्ष का मूल मन ही है, इसमें संदेह नहीं है की संकल्प ही उनका स्वरूप है, इसीलिए संकल्प का शमन करने के लिए मन का शोषण करना चाहिए, जिससे यह संसाररूपी वृक्ष भी सुख ही जाय। अब मैंने अवगत किया कि आत्मधन को चुराने वाले मन नामक ही चोर है, इसलिए अब इसे मारना = समाप्त करना चाहिए इसने बहुत दिनों तक मानव को बन्धन में रखकर मारा है।

भोगी पुरुषों के लिए भयशून्यता की प्राप्ति मन के निग्रह के अधीन है, दुःख की निवृत्ति, ज्ञान और अक्षयशान्ति भो मन के निग्रह के अधीन हैं। निग्रह दो प्रकार का है––हठनिग्रह और काम निग्रह। हठनिग्रह इस प्रकार का निग्रह है कि वहाँ चक्षु आदि ज्ञान इन्द्रियों का और वाणी आदि कर्मेन्द्रियों का उस-उस इन्द्रिय के गोला को (इन्द्रियों के रहने की जगह) व्यापार रहित करने से जैसे हठ से निरोध किया जा सकता, वैसे ही मन का विरोध भी मैं करूँगा, इससे मूढ पुरुष को शान्ति होती है परन्तु उस तरह मन का निरोध नहीं हो सकता है। क्योंकि जैसे आँख मूंदने से नेत्रेन्द्रिय का निरोध हो सकता है, वैसे मन के गोला हृदय कमल का विरोध नहीं किया जा सकता है। अत एव मन के निग्रहार्थ क्रमनिग्रह ही योग्य है। जैसे इन्धन के न रहने पर अग्नि अपने कारण में शान्त हो जाती है, उसी तरह वृत्ति के क्षय से चित्त आत्मा में शान्त हो जाता है। अतः, वाणी को मन में लय करे और उस मन को ज्ञानात्मा विशेष अहङ्कार में लय करे, उसका भी महान् आत्मा सामान्य अहंकार में लाकर और सामान्य अहंकार को शान्तआत्मा निरुपाधिशुद्ध चैतन्य में लय करे। इस प्रकार क्रमशः सभी का लय करते हुए अद्वैत वासना के प्रबोध से अभय, अजर, अमृत्यु एवं सर्वत्र एक ही तत्त्व का आधार रूप में ज्ञान होता है। फलतः, ऐसी स्थिति होनें पर जीवरूप द्रष्टा या ज्ञाता की स्वरूप में अवस्थिति होती है, स्वरूप तादात्म्य की प्राप्ति होने पर सर्वथा वासना का क्षय होने से चैतन्यैकरस होता है और मनोवृत्ति का अवसर ही नहीं रह जाता है। ज्ञातृत्व-ज्ञेयत्व के शमन से ज्ञानाकार हो जाता है। अतः, मन के रहने पर भी वृत्ति और वासना के क्षय से मनोनाश होता है।

विदेहमुक्त लक्षणम् :—

विदेहमुक्त का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार

गतिशील वायु स्पन्दरहित (स्थिर) अवस्था को प्राप्त करती है, उसी प्रकार अपने शरीर के कालाधीन होने पर जीवन्मुक्त अवस्था को छोड़कर अदेहमुक्त अवस्था में प्रविष्ट होता है। जैसे वायु किसी समय गति को छोड़कर निश्चल अवस्था को प्राप्त करता है वैसे ही मुक्त आत्मा उपाधिकृतसंसार का परित्याग कर अपने चैतन्य स्वरूप में अवस्थित होता है। जीवन्मुक्तपुरुष जिससमय समाधिस्थ होता है। उस समय उसका मन ईश्वराकार होने से उस समय वह अन्य विषय का अनुसंधान नहीं करता है, समाधि से व्युत्थान होने पर भी उदासीन वृत्तिवाला रहता है, इसलिए उसकी सदा सुखदुःख आदि द्वन्द्वधर्मों में समानवृत्ति होती है। जिसकी दृष्टि में सब भूत आत्मा ही है ऐसे ज्ञानी पुरुष को और एकता का अनुभव करनेवाले योगी को शोक या मोह कैसे हो सकता है ? अर्थात् भेद के अभाव में राग-द्वेषादि का अभाव होने से यह कदापि सम्भव नहीं होता है।

जिस प्रकार स्वप्नप्रपञ्च अहं में मायाकल्पित है उसी प्रकार यह जाग्रत् प्रपञ्च भी अहं में मायाकल्पित है। इस प्रकार जो वेदान्त वाक्य के द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है। आत्मा के साक्षात्कार होने के पश्चात् जिसका जाति और आश्रम का आचार निवृत्त हो गया है वह पुरुष सभी जाति तथा आश्रम को अतिक्रम कर अपनी आत्मा में स्थित रहता है।

विद्वत्सन्न्यास प्रकरणम्

विद्वत्सन्न्यास का विस्तृत निरूपण करते हुए देह यात्रा निर्वाह से अतिरिक्त वस्तु के सञ्चयका निषेध करते हुए कहा गया है—दो लङ्गोटा, एक ओढने का वस्त्र, शीत से बचने के लिए पादुका इतनी वस्तुएँ सन्न्यासी ग्रहण करे, अन्य वस्तु का संग्रह न करे। सभी वृत्तियों का जिसने निरोध कर लिया है ऐसे योगी को शीत की प्रतीति नहीं होती है। जैसे क्रीड़ा में सर्वथा आसक्त रहने वाला लड़का वस्त्र आदि से रहित हो तब भी हेमन्त शिशिर ऋतुके प्रातःकाल में भी उसको शीत नहीं प्रतीत होती है। वैसे ही परमात्मा में आसक्त योगी को शीत आदि का असर नहीं होता है, उसी तरह उष्ण काल में गर्मी का अभाव होता है। चतुर्मास में वृष्टि का अभाव भी च शब्द से लेना चाहिए। उसको शीत और उष्णता की अप्रतीति होने से उससे होने वाले सुखदुःख का अभाव होता है। यह विषय संसूचित ही है, उष्ण काल में शीत सुखकारक है और हेमन्तकाल में दुःखकारक है।

उसी तरह हेमन्त में उष्णता सुख जनक है और उष्णकाल में दुःख जनक है। वैसे ही मान अर्थात् अन्यपुरुष से किया गया सत्कार अपमान अर्थात् तिरस्कार ये भी सुख और दुःख जनक नहीं है।

जब योगी को अपनी आत्मा से अतिरिक्त पुरुष ही नहीं है। तब मान अपमान कैसे हो सकता है ? चकार का ग्रहण शत्रु, मित्र, राग, द्वेष, आदि द्वन्द्वधर्मों के समुच्चय को दूर करता है। भूख, प्यास, शोक, मोह और जरा, मृत्यु, ये छः, तरङ्गमाला समझे। इनमें भूख प्यास प्राण का धर्म है। शोकमोह अन्तःकरण के धर्म है, और बुढापा, मृत्यु, शरीर के धर्म हैं। इसलिए आत्माभिमुख योगी में छः पाङ्गों का त्याग विरुद्ध नहीं है। वह ब्रह्म शिखा है, वही उपवीत है और जीवात्मा एवं परमात्मा के अभेद से जो उनका भेद नाश होता है वही सन्ध्या है। शिखा सहित क्षौर कराके विद्वान्परमहंस बाह्य-सूत्र का त्याग करे। नाशरहित जो परब्रह्म है, वह सूत्र है, इसलिए उसको धारण करे। वेदान्तशास्त्रसूचित शुद्ध बुद्ध परमपद (परमात्मासूत्र) इस सूत्र को जिसने जाना उसी ब्राह्मण ने वेद का पार पाया है। जिस तरह सूत्र में मणि गुथें रहते हैं वैसे ही सारा दृश्य जगत् , जिसके द्वारा व्याप्त है उस सूत्र को योगविद् और तत्त्वदर्शी पुरुष धारण करे। उत्तमयोग का आश्रय करने वाले विद्वान् को बाह्ययज्ञोपवीत त्यागना चाहिए जो पुरुष ब्रह्मका सत्ता-रूप सूत्र को धारण करते हैं वह ज्ञानवान् है। इस सूत्र को धारण करने से पुरुष उच्छिष्ट या अशुचि नहीं होता है, जो ज्ञानरूपी यज्ञो-पवीत धारी पुरुष के भीतर, ऊपर कहा हुआ सूत्र रहता है---वे जगत् के सूत्र को जानने वाले हैं, और वे ही नित्यसिद्ध यज्ञोपवीत वाले हैं। जिनको ज्ञानरूप शिखा है, जो ज्ञान में ही निष्ठावाला है, तथा जिनको ज्ञानरूपयज्ञोपवीत है, उन्हीं को परमपावन ज्ञान है, ऐसा कहा है। जैसे अग्नि की, अपने स्वरूप से अलग शिखा नहीं है, वैसे ही जैसे ज्ञानरूप शिखा है, वही शिखावाला कहलाता है, इतरकेश को धारण करने वाला शिखायुक्त नहीं है। जो ब्राह्मण आश्रम एवं वर्ण वैदिक कर्म में अधिकारी हैं, उन्हें बाह्यसूत्र धारण करना चाहिए। क्योंकि वे कर्म के अङ्गभूत है। जिनको ज्ञानरूप शिखा है और ज्ञान-मय उपवीत हैं उनका ही संपूर्णब्राह्मणत्व है, उसे वेद का ज्ञाता कहते हैं। यह प्रसिद्ध, श्रेष्ठ और सब से उत्तम आश्रमरूप जो ब्रह्म-रूप यज्ञोपवीत है, उसको जो अपने से अभिन्न जानता है वह यज्ञोप-

वीत वाला है और उनको ही ज्ञानी लोग यज्ञ करने वाला कहते हैं।

परमहंस का भी दण्ड दो प्रकार का है––एक काठ का दण्ड दूसरा ज्ञानरूपी दण्ड। जैसे त्रिदण्डी सन्यासी को काठ के दण्ड से अतिरिक्त वाग्दण्ड मनोदण्ड, और कर्मदण्ड हैं, वैसे ही परमहंस का ज्ञान दण्ड है।

वाक्दण्डादि तीन दण्डों को मनुभगवान् ने कहा है––

वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कर्मदण्ड इन तीनों दण्डों को जिसने नियम से बश में कर रखा है, वे त्रिदण्डी कहलाते हैं। वाग्दण्ड में मौन धारण करना कर्मदण्ड में क्रियारहित होना और मनोदण्ड के लिए प्राणायाम करना।

आसन, पात्र का लोभ, संचय, शिष्य का संग्रह, दिन का सोना, व्यर्थ बकना ये छः सन्यासियों को बन्धन करनेवाली वस्तु हैं, गाँव में एक दिन बास करे, शहर में पाँच दिन रहे और चारमास के अतिरिक्त एक जगह स्थिति न करे उसको आसन कहते हैं। भिक्षान्न का भोजन करने वाला यति तुम्बरी आदि पात्रों में से एक-एक का भी संग्रह न करे वह पात्र लोभ कहलाता है। दण्ड आदि जो अपने पास हो उससे विशेष यह अपने काम में आवेगा इस विचार से ग्रहण करने का ही नाम संचय है। अपनी सेवा के लिए लाभ के लिए पूजा के लिए, या दया वसतः भी शिष्यों को साथ रखना 'शिष्य-संग्रह' है। प्रकाशरूप होने से विद्या का नाम दिन और अंधकारमय होने से आविद्या का नाम रात्रि है, इसलिए विद्या में जो प्रमाद है उसको दिन में शयन कहते हैं। अध्यात्मशास्त्र की कथा में, भिक्षा माँगते समय या देवता की स्तुति करते समय जो आवश्यक बोलना पड़े उसके सिवाय रास्ते में जो सामने मनुष्य आते हों उन पर अनुग्रह करना उसका कुशल पूछना वृथा भाषण है।

आचार्य-प्रवर विद्यारण्यने कहा है कि परमकल्याणस्वरूप निःश्रेयस सभी कर्मों के सन्न्यास एवं आत्मज्ञान के प्रति अतिशय निष्ठा होने पर ही प्राप्त होता है। सभी कर्मों का सन्न्यास से आचार्य का आशय निष्क्रिय जीवन व्यतीत करना नहीं है। मानव की अज्ञानमूलक सहज प्रवृत्ति से खण्ड सत्य के आधार पर शरीर, धन, बन्धु, बान्धव के प्रति आत्म भावना की स्थिति को मूल बनाकर अपने लिए जो कार्य में प्रवृत्ति है उसका परित्यागकर लोक के अनुग्रह के लिए अखण्ड आत्मतत्त्व के ज्ञान के अनुसार आचरणही जीवन्मुक्त अवस्था

है। विविदिषासन्न्यास श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा उत्पन्न अनन्त एकरस आत्मतत्त्व के ज्ञान की इच्छा ही विविदिषा सन्न्यास है "तत्त्वमसि" अहं ब्रह्मास्मि" इन महावाक्यों के पुनः-पुनः चिन्तन से तत्त्वज्ञान का उदय होता है—यही विदेहमुक्ति का साधन है। मनोनाश, वासनाक्षय आदि के अभ्यास से उत्पन्न भूमिका से विद्वत्सन्न्यास होता है—यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है।

सभी पदार्थों से मन में वितृष्णा होने पर सन्न्यासकी इच्छा होती है। ज्ञान की प्राप्ति के वाद पदार्थों में अत्यन्त विरसता आ जाती है, फलतः, वासनाबन्धन क्षीण हो जाता है। सभी आसक्तियों से विमुक्ति हो जाती है और संसार से मुक्ति ही एकमात्र प्राप्य रहती है।

इच्छा के अनुरूप आचरण करता है—वह जीवन्मुक्त नहीं वरन् आत्मज्ञ है। जीवन्मुक्ति होने पर अनभिमानित्व आदि ज्ञानसाधन गुण एवं अद्वेष्टृत्व आदि गुण उसे अलङ्कृत करते हैं। अद्वैततत्त्वज्ञान सम्पत्ति के कारण द्वैतमूलक क्रोध लोभेर्ष्यादि दुर्गुण विना यत्न के ही उससे दूर हो जाते हैं। देहयात्रा के निर्वाह मात्र के लिए उसकी इच्छा, अनिच्छा, परेच्छा इन तीन प्रारब्ध कर्मों से जनित सुख और दुःख का साक्षी चैतन्य के रूपमें भोग कर प्रारब्ध कर्म का अवसान होने पर आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्मकता में लय होता है। अज्ञान और उसके संस्कार का विनाश हो जाता है। अतः परमकैवल्यरूप परमानन्द अखण्ड, अनन्त, चैतन्यरूप में आनन्दात्मक होता है और वह जन्मग्रहण से मुक्त रहता है।

सांख्य एवं पातञ्जल मतमें प्रकृति और पुरुषका विवेक ज्ञान होने से जीवन्मुक्ति होती है। प्रकृति जड़, त्रिगुणात्मिका परिणामिनी अर्थात् सुख-दुःख मोहात्मिका है, मैं = पुरुष निर्जर चैतन्यस्वरूप हूँ यह ज्ञान होने पर पुरुष जीवन्मुक्त होता है। निरन्तर दुःख का भोग करते-करते एक समय आता है कि दुःख के निवारण के साधन की इच्छा होती है, तब शास्त्रज्ञान की इच्छा होती है, शास्त्रानुसार योग का अवलम्बन कर संसारवन्धन से मुक्त होता है, पुनः प्रकृति से वह संयुक्त नहीं होता है।

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ (त० कौ० ६१)

अर्थात् प्रकृति से सुकुमार कुछ भी नहीं है, पुरुष से एक बार

दृष्ट होने पर पुनः वह सम्मुख नहीं आती है, तब पुरुष अपने स्वरूप को समझता है और अज्ञान का नाश हो जाता है, और वह सुख, दुःख, मोह से परे हो जाता है।

यह सत्य है कि तीव्रतर वैराग्य के भेद से विरक्ति दो प्रकार की है। नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से भ्रम का परित्याग होने पर लोक के साथ तादात्म्य बुद्धि वैराग्य की तीव्रता है। तीव्रतर वैराग्य में संसार की असारता आत्मचैतन्यघन की सारता की दृढ़ता से पुनः संसार में आगमन की इच्छा का सर्वथा उच्छेद हो सकता है।

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन के समय ग्रन्थि भेद की चर्चा हुई है। ग्रन्थि भेद से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि-त्रय अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा है, अतः कुण्डलिनी का जागरण एक सामान्य चर्चा नहीं वरन् इसके अधिकारी होने के लिए ग्रन्थि भेद आवश्यक है। ब्रह्मग्रन्थि भेद से साधक कामादि प्रवृत्ति अर्थात् सृष्टि वासनादि का सर्वथा परित्याग कर जितेन्द्रिय होता है। इससे पुत्रैषणा दूर होती है। विष्णु ग्रन्थि के भेद से वैष्णवी माया धन ऐश्वर्य आदि का प्रलोभन साधक को विचलित नहीं करते हैं, इसके द्वारा वित्तैषणा समाप्त होती है। रुद्रग्रन्थि के भेद के बाद साधक प्रतिष्ठा मोह पर विजय करता है, फलतः लोकैषणा दूर होती है, प्रतीकात्मक रीति से यह चिन्मय भूमि की उत्तीर्णता या अमृतत्व की प्राप्ति है। क्योंकि ग्रन्थि भेद का सहज अर्थ ही बन्धन-मुक्ति है। बन्धन का तीन प्रकार है——

(१) देहज (२) प्राणज (३) आत्मज

जगद् ब्रह्माण्ड एक विराट् स्थूल देह है। समुद्र के ऊपर तरङ्ग के समान विराट् देह पर व्यष्टि देह उत्थित होकर कुछ क्रीड़ा के बाद विराट् में विलीन होता है। मनुष्य बुद्धि योग या प्रज्ञा-अपराध के संस्कार में एक-एक तरङ्ग को अपना समझता है और आबद्ध होता है, अतः बन्धन कल्पना-प्रसूत एवं विश्व-तादात्म्य-परिच्छेद से होता है। इस कल्पित बन्धन का परित्याग कर देहात्म को समुद्र स्थानीय या विश्वात्मा के देह के रूप में अनुभव करना ब्रह्मग्रन्थि भेद है।

प्राण-मन विज्ञानमयकोश में सर्वव्यापी प्राणादि की सत्ता को विसर्जित कर एक निर्दिष्ट व्यष्टि प्राणमन में अहन्ता का स्थापन

है और उसके सुख-दुःख के मध्य में इस तरह आबद्ध हो जाता है कि व्यष्टि देह के दुःख के लिए समष्टि का विसर्जन कर देता है। एक ही जीवनी शक्ति या प्राण का खेल चल रहा है, सभी दुःख-सुख समष्टि से सम्बद्ध है--इस तत्त्व की उपलब्धि करने पर व्यष्टि देह का सीमाबद्ध सुख-दुःख समष्टि गत सुख, दुःख के साथ मिलना ही प्राणग्रन्थि या विष्णुग्रन्थिभेद का उद्देश्य है। विष्णु शब्द व्यापक अर्थ को समाहित कर विश्वात्म सत्ता के रूप में संस्थित है।

आत्मा का धर्म आनन्द है, उसको एक सीमाबद्ध शरीर के साथ आबद्ध करना और व्यष्टि देह के आनन्द के लिए समष्टि देह के आनन्द को नष्ट करने से म्लानता का अनुभव नहीं होता है। इस व्यष्टिगत शरीर का बन्धन समष्टि गत आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि दूर करती है, सभी प्राणियों के हित साधन में एवं आनन्द-वर्द्धन में रत होना ही रुद्रग्रन्थि के भेद का लक्ष्य है।[१] ब्रह्मग्रन्थि भेद के साथ साधक समष्टि रूप में स्थिति लाभकर सत्यप्रतिष्ठ हो जाता है। इस अवस्था में समस्त जीवों को एक सत्स्वरूप के अङ्गरूप में अनुभव करता है--सभी एकरूपता के साथ सब में विभिन्न रूप में आत्म प्रकाश का अनुभव करता है। इष्ट मूर्ति भी इस अवस्था में विश्वरूप को धारण करती हैं। सर्वत्र एक हो तेज का दर्शन करता है, साधक अपनी आत्मा को सर्वभूतात्म रूप में उपलब्ध करता है। ब्रह्मग्रन्थि भेद होने पर प्रारब्ध कर्मबीज दग्ध हो जाता है और स्थूल देह का संस्कार हो जाता है। विष्णु ग्रन्थि भेद से प्राण प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है। खण्ड प्राण में महाप्राण का अनुभव करता है। सभी के कर्मों को अपना कर्म मानता है सभी के सुख-दुःख में आत्म-सुख-दुःख का अनुभव करता है, सभी के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न होता हैं, सभी के सुख के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करता है।

विष्णु-ग्रन्थि के भेद से साधक के सञ्चित कर्म का बीज दग्ध हो जाता है और सूक्ष्म देह का संस्कार होता है। रुद्रग्रन्थि के भेदन से साधक एक अखण्ड अद्वयभावरूप द्रष्टा की स्वरूप स्थिति का लाभ करता है, इससे सभी के आनन्द का लाभ करता है। इस ग्रन्थि के भेद से सञ्चीयमान कर्म का बीज दग्ध होता है और कारण देह में संस्कार होता है। दुर्गासप्तशती का ग्रन्थित्रय भेद का यही आशय लाहिड़ी महाशय एवं सन्याल महाशय ने योगर्द्धि सम्पत्ति के द्वारा उद्बुद्ध

१. पूजातत्त्व—पृ० ५७-५८

किया है। यह कुण्डलिनी जागरण का योग साधना में तत्पर ही अधिकारी है, अन्य नहीं।

कविराज महाशय ने व्यक्त किया है कि इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य, पवित्र जीवन, पवित्र चिन्ता इनका स्थायी रूप में आयत्त करने पर ही कुण्डलिनी के जागरण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। मस्तिष्क के शुद्ध केन्द्र के साथ देह के निम्नस्तर स्थित जनन केन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इन्द्रियलोलुप व्यक्ति के लिए (Paraclete) कुण्डलिनी के जगाने की साधना के पथ में आगे आने की चेष्टा नही करनी चाहिए। अतः योग और मोक्ष का सर्वत्र समत्व भावना के साथ व्यष्टि स्वरूप विसर्जन के साथ समष्टि का तादात्म्य एवं समष्टिका हित साधन है।

विद्यारण्य

ईसा की १४ वीं शताब्दी में वेदान्तदेशिक के सम-सामयिक माधवाचार्य थे। विद्यार्थी अवस्था में ही काञ्चीनगरी में एक ही स्थान में दोनों ने अध्ययन किया था। माधवाचार्य के पिता का नाम मायण और माता का नाम श्रीमती था। सायण और भोगनाथ दोनों ही सहोदर भाई थे। इनका सूत्र बोधायन तथा गोत्र भरद्वाज और ये यजुर्वेदी थें। पराशर माधव के आरम्भ में इनका परिचय प्राप्त होता है।

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ ॥
बोधायनं यस्य सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी।
भारद्वाजं यस्य गोत्रं सर्वज्ञः स हि माधवः ॥

कतिपय ऐतिहासिकों ने सर्वदर्शनसंग्रह के प्रारम्भ के श्लोक के आधार पर इनके कुल का नाम सायण अनुमित किया हैं। क्योंकि उसका प्रारम्भिक श्लोक लोंगों के लिए बड़ा भ्रामक हो गया है। वहां लिखा गया है--

श्रीमत्-सायण-दुग्धाब्धि-कौस्तुभेन महौजसा।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ॥

सर्वदर्शनसंग्रह में ही--पूर्वेषां अतिदुष्तराणि सुतरामालोच्य-शास्त्राण्यसौ। श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरूपन्यास्यत् सतां प्रीतये"।

किन्तु इनके कुल में दो माधव थे एक सायण के भाई और दूसरे उनके पुत्र।

प्रसिद्ध माधवाचार्य जो शेष में विद्यारण्य स्वामी के नाम से प्रख्यात हुए, ये श्रृङ्गेरीमठ में शङ्कराचार्य के रूप में प्रतिष्ठित अद्वैत विद्या के आचार्य थे एवं अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे। स्मार्त कर्म के लिए **पराशरस्मृति की** व्याख्या की तथा **'पराशरमाधव'** और **कालमाधव** नाम से परिचित दो ग्रन्थों की रचना भी इन्होंने की।

श्रुति-स्मृति-सदाचार-पालको माधवो बुधः।
स्मार्तं व्याख्याय सर्वार्थं द्विजार्थं श्रौत उद्यतः॥

(जैमिनीयन्यायमाला १।१।१)

पूर्वमीमांसा में **"जैमिनीयन्यायमालाविस्तर"** एवं **यजुर्वेदभाष्य, ऋग्वेदभाष्य,** सामसंहिताभाष्य, अथर्वसंहिताभाष्य आदि वेद के भाष्यों की रचना की है।

आचार्य माधव दक्षिणा पथ में विजयनगर के महाराज वुक्क-नरेश के प्रधानमन्त्री थे। दीर्घकाल तक मन्त्रि-पद पर प्रतिष्ठित रहकर स्मृति, पुराण, वेद आदि की व्याख्या और भाष्य का प्रणयन किया है तथा श्रौत और स्मार्त धर्म का पूर्ण प्रचार भी किया था। राज्य के आश्रित होने से राजा के कार्य में ये सदा सहायक रहते थें। माधवाचार्य मन्त्रि-पद पर रहते हुए जयन्ती प्रदेश में शासन करने के लिए नियुक्त थें। इस समय कोङ्कण देश की राजधानी **गोवा** पठान राजाओं से अधिकृत थी। उनको युद्ध में पराजित कर इस स्थान को अपने अधीन किया और कोङ्कण प्रदेश के अन्तर्गत पच्चीस गाँव से युक्त कुचोर परगना को ब्राह्मणों को दान स्वरूप दिया। यह विषय दान पत्र में वर्णित है। आज भी ये ग्राम माधवाचार्य के दान पत्र के अनुसार उस वंश के ब्राह्मणों के द्वारा भोग किये जाते हैं[1]।

---

१. अशान्त-विश्रान्तयशाः स मन्त्री दिशो विजेतुं महता बलेन।
गोवाभिधां कोङ्कण-राजधानीमन्येन मन्येऽरुणदर्णवेन॥१॥
प्रतिष्ठितांस्तत्र तुरुष्कसङ्घानुत्पाटच दोष्णोभुवनैकवीरः।
उन्मूलितानामकरोत् प्रतिष्ठां श्रीसप्तनाथादिसुधाभुजां यः॥२॥

माधवप्रशस्तिपत्र।

माधवाचार्य १३९१ ईसा की शताब्दी में अर्थात् १३१३ शकाब्द में कोङ्कण देश पर विजय कर उस विजय स्मृति की रक्षा के लिए माधवपुर नाम से नगर की स्थापना की। यही माधवाचार्य चतुर्थ आश्रम (सन्यासाश्रम) में विद्यारण्य नाम से प्रख्यात हुए। **पञ्चदशी, जीवन्मुक्तिविवेक, विवरण-प्रमेयसंग्रह, बृहदारण्यकवार्तिक-सार** आदि अद्वैतवाद के ग्रन्थों की रचना की।

माधवाचार्य के कनिष्ठ भ्राता सायणाचार्य भी माधवाचार्य के समान ही असाधारण पण्डित एवं अद्वैतवेदान्त के परमाचार्य भी थे। माधवाचार्य की आज्ञा के अनुसार जिन ग्रन्थों की रचना इन्होंने की है, उन सभी ग्रन्थों की पुष्पिका में **'इति माधवीये सायणचार्य-विरचिते'** यह उल्लेख है। सायणाचार्य के पुत्र का भी नाम **माधवाचार्य** ही था। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अनेक आचार्यों ने इन दोनों को अभिन्न कर दिया है। किन्तु भतीजा और चाचा एक नहीं हैं। सायणपुत्र माधव ने **'स्मृतिरत्न'** नामक एक विस्तृत ग्रन्थ की रचना की है। उस ग्रन्थ में अपना परिचय देते हुए सायणाचार्य के भाई माधवाचार्य से अपने भेद का स्पष्ट निर्देश दिया है। यथा—

राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रतिष्ठापकश्रीवीरहरिहरभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरसायणचार्यतनूद्भवमाधवाचार्यविरचिते स्मृतिरत्ने सम्पूर्णमाह्निकम्॥ इस ग्रन्थ के आरम्भ में सायणाचार्य के पुत्र माधवाचार्य ने अपना परिचय प्रदान किया है—

"कोऽन्यो सायणमायणस्य सदृशीं ख्यातिं परां गाहते।

अमुष्मादायुष्मान् भुवनमहितात् सायणविभोः समुद्रादुद्भूतं प्रकटितकलो माधवविधुः[1]।

सायणपुत्र माधवाचार्य ही प्रसिद्ध ग्रन्थ **"सर्वदर्शनसङ्ग्रह"** के प्रणेता है। सर्वदर्शनसंग्रह में माधव ने अपने को व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रीमत्सायणामाधवः प्रभुरुपन्यास्यत् सतां प्रीतये"। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि यह माधव सायणाचार्य का पुत्र है। कतिपय आचार्यों ने **सायण** को वंश का नाम माना है। किन्तु **स्मृति-रत्न के** देखने से इसका अवसर ही नहीं रह जाता है। **"जैमिनीय-न्यायमालाविस्तर"** ग्रन्थ में माधवाचार्य ने स्वयं ही कहा है—

---

1. A Distriptive catalogue of rhe Sanskrit Manuseripts, Government of Madras. vol, XXVII P. 10087

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ।।

यह पद्य प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में असाधारण परिचय के रूप में उपलब्ध होता है, किन्तु **सर्वदर्शनसंग्रह** ग्रन्थ में यह श्लोक नहीं है।

यही कारण है कि तैत्तिरीयसंहिता के भाष्य में 'आदिशन्माधवाचार्य वेदार्थस्य प्रकाशने' यह उपक्रमकर 'स प्राह नृपतिं राजन् सायणार्यो ममानुजः' इस रूप में समाप्त किया है। अतः सायण यह कुल का नाम नहीं अपि तु उनके अनुज का नाम था। माधवीयधातुवृत्ति में भी सायणाचार्य-विरचिते-माधवीये' यह कथन सार्थक होता है। विद्यारण्य के गुरु के विषय में भी विचार आवश्यक है। विवरणप्रमेयसंग्रह के आरम्भ में शंकरानन्द को नमस्कार किया है और समाप्ति में विद्यातीर्थ को ग्रन्थ अर्पित किया है श्री शंकरानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद्यतयो वियन्ति' और समाप्ति में लिखा है--

यद् विद्यातीर्थगुरुवे सुश्रुषान्यो न रोचते तस्मात् ।
अस्त्वेषा शक्तियुता श्रीविद्यातीर्थपादयोः सेवा ।।

सायणाचार्य ने भी वेदभाष्य के आरम्भ में 'निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्' । यह लिखा है इन पद्यों को देखने से यह व्यक्त होता है कि विद्यातीर्थ सायण और माधव दोनों ही के गुरु थे। इतना ही नहीं भारतीतीर्थ के भी गुरु थे। इसलिए वैयासिकन्यायमाला के प्रारम्भ के श्लोक में भारतीतीर्थ ने विद्यातीर्थ को गुरु के रूप में नमस्कार किया है यथा--प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम्' । जैमिनीयन्यायमालाविस्तर में माधवाचार्य ने भारतीतीर्थ को गुरु के रूप में निर्दिष्ट किया है। यथा--

स भव्यात् भारतीतीर्थाद्यतीन्द्रचतुराननात् ।
कृपामव्याहतां लब्ध्वा परार्ध्यप्रतिमोऽभवत् ।।

इन प्रमाणों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि भारतीतीर्थ परमगुरु और विद्यातीर्थ गुरु थे। या विद्यातीर्थ परम गुरु थे और उनके देहावसान हो जाने के बाद भारतीतीर्थ से विद्यालाभ किया। पञ्चदशी और प्रमेयसंग्रह के आरम्भ में शंकरानन्द को प्रणाम करने से यह प्रतीत होता है कि वे भी विद्यारण्य के गुरु थे। माधवाचार्य ने विजयनगर राज्य के मंत्रित्व का परित्याग कर वृद्धावस्था में सन्न्यास

ग्रहणकर शृङ्गेरी के शंकराचार्य हुए। इनका मन्त्रित्व असाधारण राजनैतिक ज्ञान और शासन का परिचायक है, इन्होंने मदुरा आदि स्थानों में मुसलमानों का राज्य ध्वस्त कर विजयनगर का प्रभुत्व स्थापित किया था। चाणक्य के समान ही यह भी सफल मन्त्रित्व कर सन्यासाश्रम को ग्रहण किया था। चाणक्य की अपेक्षा इनका यह वैशिष्टच था कि अपनी अपूर्वमनीषा और असाधारण प्रतिभा के आधार पर इन्होंने दर्शन, साहित्य, व्याकरण आदि विषयों में अनेक ग्रन्थों की रचना की। व्याकरण में माधवीयधातुवृत्ति, पूर्वमीमांसा में जैमिनीयन्यायमालाविस्तर, स्मृति में पराशरसंहिता और पराशर-माधव की, व्याकरण में माधवीयधातुवृत्ति की रचना की, वेदान्त में विवरणप्रमेयसंग्रह, सूतसंहिता का व्याख्यान, पञ्चदशी, अपरोक्षानुभूतिप्रकाश, वृहदारण्यकवार्तिकसार छान्दोग्योपनिषद् दीपिका जीवन्मुक्तिविवेक ऐतरेय और तैत्तिरीयोपनिषद् की दीपिका की रचना की।

पञ्चदशी के समान कवित्वपूर्ण शैली में प्रमेय बहुलदार्शनिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। अतः विद्यारण्य को सर्वतंत्र-स्वतंत्र कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। इनके त्याग की भी सीमा नहीं थी साथ ही ये सन्न्यासियों में भी अग्रणी थे। विद्यारण्य की उदारता सर्वत्र सुव्यक्त है। माधवाचार्य के निर्देशानुसार ही सायण ने वेदभाष्य की रचना की थी। वैयासिकन्यायमाला के आधार पर भारतीतीर्थ विद्यारण्य के गुरु थे, किन्तु किसी ने विद्यारण्य और भारतीतीर्थ को एक भी माना है। वृत्तिकार रंगनाथ ने विद्यारण्य को ही वैयासिकन्यायमाला का प्रणेता माना है। अप्पयदीक्षित ने इसी मत को मानकर सिद्धान्तलेश में विवरणोपन्यासे भारतीतीर्थवचनम् यह लिखा। और उसी ग्रन्थ में भारतीतीर्थ ध्यानदीपे यह कहकर पञ्चदशी के नवम परिच्छेद का उल्लेख किया है। विवरणोपन्यास अप्पयदीक्षित के बाद की रचना है, अतः विवरणप्रमेयसंग्रह का ही निर्देश विवरणोपन्यास शब्द से किया गया है यह प्रतीत होता है।

विद्यारण्य के शिष्य पञ्चदशी के दीपिका-टीकाकार रामकृष्ण ने भारतीतीर्थ को विवरणप्रमेयसंग्रह और पञ्चदशी के रचनाकार के रूप में निर्दिष्ट किया है। इसीलिए "नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यातीर्थ-मुनीश्वरौ" यह लिखा है। इस स्थल में भारतीतीर्थ और विद्यारण्य दोनों को पृथक् रूप से निर्दिष्ट किया है। अतः विस्तर के रचयिता

माधव जैमिनीयन्यायमाला के प्रेरक भारतीतोर्थ के शिष्य हैं। इनके द्वारा रचितग्रंथ।

विद्यारण्य की कृतियाँ

१. पञ्चदशी
२. जीवन्मुक्तिविवेक
३. विवरणप्रमेयसंग्रह
४. अनुभूतिप्रकाश
५. बृहदारण्यकवर्तिकसार
६. उपनिषद्दीपिका (ऐतरेय तैत्तिरीय, छान्दोग्य)
७. शंकरदिग्विजय (संदिग्ध)
८. संगीतसार
९. पराशरमाधव
१०. कालमाधव
११. जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
१२. माधवीयधातुवृत्ति
१३. सूतसंहिताटीका

विद्यारण्य का अवदान

विद्यारण्य विशेषरूप में विवरणमत के समर्थक थे। पञ्चदशी के तत्त्वविवेक में रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध सत्त्व-प्रधान माया एवं इनसे अभिभूत मलिनसत्त्वप्रधान को अविद्या कहा है। माया में चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर और विद्या में चित्प्रतिबिम्ब जीव है। श्रुति में भो इसका समर्थन है यथा––जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'। इनके मतानुसारचित् या चैतन्य चार प्रकार का है। कूटस्थ चैतन्य ब्रह्म चैतन्य, जीव चैतन्य एवं ईश्वर चैतन्य। जिस प्रकार एक आकाश उपाधि के भेद से घटाकाश, मठाकाश, जलाकाश मेघाकाश के नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति में भी स्थूल, सूक्ष्म इन दोनों देहों के अधिष्ठान रूप में वर्तमान सर्वाधार भूत चैतन्य पर्वत-शृङ्ग के समान निर्विकार चिर-स्थिर साक्ष्यचैतन्य ही कूटस्थ चैतन्य है। सभी के आधार भूत कूटस्थ चैतन्य में कल्पित बुद्धि में कूटस्थचैतन्य का प्रतिबिम्ब सांसारिक सभी प्राणों का धारक सुखदुःख निमग्न जीव है। अनवच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है। एवं तदाश्रित मोह अन्धकार में स्थित प्राणियों की बुद्धि

में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। अर्थात् अन्तःकरण उपाधि में प्रतिबिम्बित जीव है और बुद्धि वासना से उपरक्त अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। विद्यारण्य ने चित्रदीपकरण में १९ से २३ श्लोक में इसका विधिवत् वर्णन किया है।

विद्यारण्य ने ब्रह्मानन्द नामक परिच्छेद मे माण्डूक्योपनिषद में वर्णित आनन्दमय जीव को निर्देश किया है। सुषुप्ति के संयोग में जीव आनन्दमय है, जब जाग्रत् आदि अवस्था के भोगप्रद कर्मों का क्षय होता है तब जीव निद्रित होकर अन्तःकरण में विलीन होता है। पुनः भोगप्रद कर्मानुसार प्रबुद्ध होता है। उस समय तदुपाधिक जीव को विज्ञानमय कहा जाता है। उस पूर्व सुषुप्ति के समय में विलीन अवस्थोपाधिक वह आनन्दमय होता है, सुषुप्त जीव रूप आनन्दमय प्रकृति प्रस्ताव में ईश्वर न होने पर भी ईश्वर के साथ अभेद की विवक्षा कर ईश्वरत्व वाक्य संगत होते हैं। परमात्मा यह जिस प्रकार आधिदैविक सविशेष तीन रूप युक्त है। वैसे ही अध्यात्म भी सविशेष तीन रूप युक्त है। निर्विशेष चैतन्य की उपाधि के सम्बन्ध से सविशेष आध्यात्मिक और आधिदैविक मानना पड़ता है। आधिदैविकसविशेष का तीन रूप और शुद्धचैतन्य का चित्रदीप-प्रकरण में चित्रपट के दृष्टान्त से विद्यारण्य ने समर्थित किया है।

जीवन्मुक्तिविवेकसङ्क्षेप

जीवन्मुक्तिविवेक विद्यारण्य स्वामी की एक महत्वपूर्ण कृति है। जिसमें पाँच प्रकरण हैं—१. जीवन्मुक्ति-प्रमाणप्रकरण २. वासनाक्षय-प्रकरण ३. मनोनाशप्रकरण ४. स्वरूप-सिद्धि-प्रयोजनप्रकरण ५. विद्वत्सन्न्यास प्रकरण।

इन प्रकरणों का प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित है :

१. जीवन्मुक्ति-प्रमाण-प्रकरण

यह प्रकरण जीवन्मुक्त की सत्ता में प्रमाण प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ निबन्ध के रूप में है, जिसमें गीता महाभारत, विष्णुपुराण, संहिता आदि ग्रन्थों का प्रमाण देकर जीवन्मुक्ति की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकरण के आदि के १३ श्लोक विद्यारण्य स्वामी के स्वयं रचित हैं। प्रथम श्लोक में अपने इस विद्यातीर्थ को नमस्कार किया गया है। कुटीचक और बहूदक सन्न्यास की चर्चा भी इसी क्रम में यहाँ प्राप्त होती है। इस प्रकरण में आत्मलोक

तथा अनात्मलोक का वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर रूप से किया गया है। विविदिषा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए विद्यारण्य स्वामी ने लिखा है कि--

'इस जन्म या पूर्वजन्म में सम्यक् अनुष्ठान से विधिवत् किये गये वेदाभ्यास से उत्पन्न जिज्ञासा से सम्पादित होने के कारण यह विविदिषा सन्यास कहा जाता है।"

अनेक श्रुतियों से विविदिषा सन्न्यास को प्रतिपादित करने के पश्चात् विद्वत्सन्न्यास का भी इस प्रकरण में संक्षिप्त वर्णन किया गया है। विद्वत्सन्न्यास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए विद्यारण्य स्वामी ने कहा है कि--

'सम्यगनुष्ठितैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः परतत्त्वं विदितवद्भिः सम्पाद्यमानः विद्वत्सन्न्यासः।' इस विद्वत्सन्न्यास के निरूपण के प्रसङ्ग में मैत्रेयी-ब्राह्मण, कहोरुब्राह्मण, शारीरकब्राह्मण के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। स्मृति एवं उपदेशसाहस्री के भी उदाहरण यहाँ दिये गये हैं। विद्यारण्यस्वामी कहते हैं कि जीवित पुरुष के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप धर्म बन्धन स्वरूप होते हैं इन बन्धनों का निवारण ही जीवन्मुक्ति है। इसी प्रस्तुत प्रसङ्ग में शास्त्रीय प्रयत्न की प्रबलता को सिद्ध करने के लिए वसिष्ठ के वाक्य को उद्धृत किया गया है। विदेह मुक्ति को प्रतिपादित करते हुए विद्यारण्यस्वामी कहते हैं कि--

'यथा वायुः कथञ्चित् चलनं त्यक्त्वा निश्चयरूपेणावतिष्ठते तथा मुक्तात्माप्युपाधिकृतं संसारं त्यक्त्वा स्वरूपेणावतिष्ठते।

यहाँ आभास आदि के द्वारा वर्णित ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है, गुण और दोष के सम्बन्ध में इस प्रकरण में बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला गया है। सन्न्यासी के धर्म को बताते हुए विद्यारण्यस्वामी कहते हैं कि सन्न्यासी प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिए दण्ड, कौपीन आदि को धारण करे, किन्तु उनके अनुग्रह की दृष्टि से भी अपने घर के विषय में चर्चा न करे। भिक्षु सर्वत्र एकाकी रहे, क्योंकि अधिक लोगों के साथ रहने पर ग्राम सम्बन्धी वार्ता होगी तथा परमतत्त्व का अनुस्मरण और ध्यान दूर हो जायगा। इसी सम्बन्ध में विद्यारण्य स्वामी ने प्रमाण रूप में स्मृति को उद्धृत किया है--

'एको भिक्षुः यथोक्तः स्यात् द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामाः समाख्याता ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥
नगरं नहि कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ।
ग्राम-वार्ता हि तेषां स्यात् शिक्षा-वार्ता परस्परम् ॥

इसमें सूतसंहिता में वर्णित अतिवर्णी धर्मों का यहाँ विशद्विवेचन किया गया है ।

२. वासनक्षय प्रकरण

यहाँ यह बताया गया है कि तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासना-क्षय ये तीनों जीवन्मुक्ति के साधन हैं । इस सम्बन्ध में यहाँ वसिष्ठ रामायण के श्लोकों को उद्धृत किया गया है । यहाँ यह बताया गया है कि जीवित पुरुषों के लिए आसुरी सम्पत्ति बन्ध और दैवी सम्पत्ति मोक्ष है । यहाँ कैवल्य के निर्वचन को करते हुए विद्यारण्यस्वामी कहते हैं कि—

"केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यम्, देहरहितत्वात् ।"

समस्त प्राणी स्वभाव से ही पुण्य का अनुष्ठान नहीं करते हैं, वरन् प्रयत्न पूर्वक पाप का ही अनुष्ठान करते हैं, परन्तु पाप के फल को कोई नहीं चाहता है, सभी पुण्य के ही फल को चाहते है । इस सम्बन्ध में स्मृति का प्रमाण समुपस्थापित किया गया है । पाप अशुभ फल को देने वाला है और अशुभ फल को प्राप्त कर प्राणी दुःखी होता है, इस सम्बन्ध में यहाँ श्रुति का प्रमाण प्रस्तुत किया गया है । मनुष्य शुभ कर्मों से देवयोनि को प्राप्त करता है निषिद्ध कर्मों से नरक को प्राप्त करता है तथा शभ एवं अशुभ इन मिश्रित कर्मों के द्वारा मनुष्य योनि को प्राप्त करता है, इसमें विश्वरूपाचार्य के श्लोकों को यहाँ उद्धृत किया गया है—

'शुभैराप्नोति देवत्वं, निषिद्धैर्नारकीं गतिम् ।
अमान्यं पाप-पुण्याभ्यां, मानुष्यं लभतेऽवशः ॥

यहाँ जनक के द्वारा बताये गये विवेक को प्रदर्शित करते हुए सिद्ध किया गया है कि नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि के विना ब्राह्मण्य के सम्भव नहीं होने से विवेक तत्वज्ञान के उदय होने से प्राचीन है । ब्रह्मज्ञान के लिए आत्मज्ञान की उपयोगिता को उपदेश-साहस्री के उद्धरण से स्पष्ट करते हुए नैष्कर्म्यसिद्धि के भी श्लोक को उद्धृत

किया गया है। ज्ञानाङ्कुश के उद्धरण से यहाँ पर स्पष्ट किया गया है कि निन्दा आभूषण है——

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति,
नन्वप्रयत्नजनितोऽयमनुग्रहो मे।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषाः परतुष्टि-हेतोः,
दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति ।।

वसिष्ठ के द्वारा दिये गये स्त्री-विषयक एवं पुत्र-विषयक-विवेक को भी बहुत ही सुन्दर रूप से यहाँ प्रतिपादित किया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि पुत्र, स्त्री एवं धनादि-विषयक-मलिन-वासनाओं को निवृत्त करके पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। इसको वसिष्ठ के वाक्यों से समर्थित किया गया है। इन्द्रियों की प्रबल शक्ति को गीता के द्वारा समर्थित करते हुए उनके ऊपर संयम को योग के लिए आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार वासनापक्ष को स्पष्ट करते हुए इस प्रकरण के अन्त में कुत्सित आचरण को स्पष्ट किया गया है।

३. मनोनाश प्रकरण

आशय यह है कि समस्त वासनाओं के नष्ट हो जाने पर अर्थतः मनोनाश हो ही जाता है स्वतन्त्र रूप से मनोनाश का अभ्यास करने से वासनाक्षय रक्षित होता है यह कहा है। मनोनाश करना आवश्यक है, इस सम्बन्ध में यहाँ वसिष्ठ, जनक, गौडपादाचार्य और अर्जुन के मतों को स्पष्ट रूप से उद्धृत किया गया है। इसी प्रसङ्ग में निग्रह के दो भेद, ऊन निग्रह और पूर्ण निग्रह को बताया गया गया है। वासनाओं के त्याग से मनोनाश सम्भव है और वासनाओं का त्याग करना बहुत कठिन है। परन्तु प्राण स्पन्द के निरोध से वासनाओं का त्याग हो सकता हैं। चूँकि प्राणस्पन्द और वासना ही चित्त के प्रेरक हैं, अतः इन दोनों के निरुद्ध हो जाने पर चित्त की शान्ति उत्पन्न होती है——

प्राणस्पन्दवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वात् तयोर्निरोधे चित्तशान्तिरुपपद्यते'।

प्राण और वासना चित्त के ही प्रेरक नहीं हैं बल्कि परस्पर में भी एक दूसरे के प्रेरक हैं। यह भी बताया गया है कि एक के नाश हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है।

'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दवासने ।
एकस्मिश्च तयोः क्षीणे क्षिप्तं द्वे अपि नश्यतः ।।

विद्यारण्यस्वामी गौडपादाचार्य के मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब चित्त का लय और विक्षेप नहीं होता है तभी अलिङ्ग अनाभास ब्रह्मज्ञान प्रादुर्भूत होता है--

'यदा न हीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अलिङ्गमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ।।

योगसूत्र में प्रतिपादित चित्तवृत्तियों का वर्णन यहाँ विस्तृतरूप में करते हुए इन सूत्रों की व्याख्या भी की गयी है। इस समाधि के सम्बन्ध में सत्य स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। निर्विकल्पक समाधि में स्थित चित्त बड़े से भी बड़े दुःख के द्वारा विचलित नहीं होता है। यह शिखिध्वज के वृत्तान्त से यहाँ स्पष्ट करते हुए प्रह्लाद की भी समाधि निष्ठा को विस्तारपूर्वक बताया गया है।

यह भी स्पष्ट किया गया है कि मनोनाश से विदेह मुक्ति ही होती है जीवन्मुक्ति नहीं होती है और इसको राम और वसिष्ठ के प्रश्नोत्तर से स्पष्ट किया गया है। पुनः इस प्रकरण के अन्त में विद्यारण्यस्वामी कहते हैं कि--

'तस्मात् सरूपो मनोनाशो जीवन्मुक्तिसाधनमिति ।

४. स्वरूपसिद्धि-प्रयोजन-प्रकरण

अन्य प्रकरणों की अपेक्षा यह प्रकरण संक्षिप्त रूप में है। इस प्रकरण के आदि में जीवन्मुक्ति के पाँच प्रयोजन बताये गये हैं--
१. ज्ञानरक्षा २. तप ३. विसंवाद ४. दुःखक्षय ५. सुखाविर्भाव (पृ. ८८ पं. १३-१४)

१. तत्वज्ञान के होने पर भी चित्त की विश्रान्ति के न होने पर संशय और विपर्यय की उत्पत्ति होती है। यह अज्ञान की ही तरह मोक्ष का प्रतिबन्धक है। विपर्यय का अर्थ अश्रद्धा है। अज्ञान और विपर्यय मोक्ष के हीं प्रतिबन्धक हैं, परन्तु संशय तो भोग और मोक्ष दोनों का प्रतिबन्धक होता है। इस सम्बन्ध में यहाँ ऋतु और स्निग्ध का उदाहरण दिया गया है। तत्त्वज्ञान का फल संशय एवं विपर्यय के द्वारा प्रतिबन्ध में विद्यारण्य स्वामी पराशर के मत को उद्धृत करते हैं--

यदुक्तं पाराशरेण--

मणिमन्त्रौषधैर्वह्निः सुदीप्योऽपि यथेन्धनम् ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात् प्रतिबद्धस्तथैव च ॥
ज्ञानाग्निरपि राजा प्रदीप्तः सुदृढोऽपि च ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात् प्रतिबद्धस्तु कल्मषम् ॥

भावना विपरीता या चासम्भावना शुक ।
कुरुते प्रतिबन्धं सा तत्त्वज्ञानस्य नापरम् ॥

जीवन्मुक्ति का द्वितीय प्रयोजन तप है। योग मुनियों के देवत्व आदि प्राप्ति के कारण है, इस सम्बन्ध में भगवद्गीता के भगवान् एवं अर्जुन के सम्वाद को उद्धृत किया गया है। पुनः यहाँ श्रीराम वसिष्ठ के सम्वाद को उद्धृत करते हुए तप के महत्त्व को बताया गया है। तप के महत्त्व को सूचित करने के लिए तैत्तिरीयोपनिषद् के 'तपसा देवा देवतामग्रमायन् इत्यादि श्रुति को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि ज्ञानी की माता पुण्य-शालिनी है तथा उससे पृथिवी भी कृतार्थ है--

'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था, विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन ।
अपार-संवित्-सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

(पृ. ९६)

इसका प्रयोजन विसंवाद का न होना है। विसंवाद दो प्रकार का होता है कलह रूप और निन्दारूप। योगी को लेश मात्र भी क्रोध नहीं होता है, अतः क्रोध के न होने से कौन योगी से कलह करेगा योगी में निन्दा रूप विसंवाद भी नहीं रहता है। योगी न तो अपने मत का प्रतिपादन करता है और न दूसरे के प्रमेय को दूषित करता है। इस सम्बन्ध में विद्यारण्य स्वामी श्रुति के प्रमाण को उद्धृत करते हैं--

"तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ ।
तमु ध्यायेद्वदन् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥"

(उद्धृत पृ. ९८ पं. १३-१४)

दुःखनाश और सुखाविर्भाव रूप चतुर्थ और पञ्चम प्रयोजन है। ऐहिक दुःख का विनाश श्रुतियों से समर्थित है, वहाँ यह भी बताया गया है कि इस लोक के दुःख के नाश हो जाने पर सुख का आविर्भाव

होता है। वह सुखावाप्ति तीन प्रकार की है: सर्वकामावाप्ति, कृत-कृत्यत्व और प्राप्त-प्राप्तव्यत्व। सर्वकामावाप्ति को भी यहाँ तीन प्रकार का बताया गया है--सर्वसाक्षित्व, सर्वत्राकामहतत्व और सर्वभोक्तृत्व। अन्त में यह सिद्ध करते हैं कि इन पाँच प्रयोजनों से युक्त जीवन्मुक्ति में कोई भी बाधा नहीं है।

"पञ्चप्रयोजनोपेतायाः जीवन्मुक्तेः न कोऽपि विघ्न इति सिद्धम्।"

५. विद्वत्सन्न्यासप्रकरण

जीवन्मुक्ति के उपकरण विद्वत्सन्न्यास का निरूपण चौतीस प्रकरण में बहुत ही युक्ति पूर्वक किया गया है। परमहंसोपनिषद् में प्रति-पादित विद्वत्सन्न्यास का यहाँ अनुवाद करके उसकी ही व्याख्या की गयी है। इसके नाना प्रकार के आश्चर्यों को देखकर भी आश्चर्य नहीं होता है–क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर की शक्तियाँ ही नाना-रूप में स्फुरित हो रही हैं--

'चिदात्मनः इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः।
इत्याश्चर्यजालेषु नास्फुटेति कुतूहलम्॥'

वह विरक्त विधि और निषेध का उल्लंघन कर स्थित रहता है। यदि कार्य में श्रद्धा रखने वाले उक्त जन उसकी निन्दा करते हैं तो यह उचित नहीं है। वैसे परमहंस की ब्रह्मनिष्ठता सभी लोग स्वीकार करते हैं--

परमहंसस्य ब्रह्मनिष्ठत्वं सर्वे जना मन्यन्ते (पृ. १०३ पं. २३)

यहाँ विद्यारण्यस्वामी ने यह समर्थित किया हैं कि ज्ञानरूपी अमृत से सदा तृप्त कृतकृत्य योगी के लिए कोई भी कर्तव्य नहीं है और यदि कर्तव्य को वह समझता है तो वह योगी नहीं है।

ज्ञानाकृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

सन्न्यासी सदा दण्ड को धारण करे। थोड़ा भी दूर दण्ड के विना नहीं जाय। दण्ड के नाश हो जाने पर शतप्राणायाम दण्ड के रूप में बताया गया है। दण्ड के उत्पादन एवं रक्षा में उसका चित्त सर्वदा विक्षिप्त रहेगा यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दण्ड का धारण चित्तैकाग्रय के लिये ही होता है। जो ज्ञान से हीन है वह कदापि भिक्षाटन व्याज से यात्रा न करे और यति के इसी विषय के सम्बन्ध में विद्यारण्य स्वामी उद्धरण प्रस्तुत करते हैं कि--

"न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत् कर्हिचित्॥
एककाले चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत् विस्तरम्।
भैक्ष्ये प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति॥"

योगी के लिए मठ निर्माणादि की व्यावधानिकता को निषिद्ध करते हुए विद्यारण्यस्वामी अन्त में प्रतिपादित करते हैं कि श्रमरूपी चक्षु के न रहने से सर्वत्र स्थिति जनार्दन तो मैं नहीं प्राप्त कर रहा हूँ। अतः, त्यैकरस हो लोकोपकार रत होना चाहिए।

इस प्रकार जीवन्मुक्तिविवेक नामक यह ग्रन्थ संक्षिप्त होते हुए भी अपने सुसंगठित एवं सुव्यस्थितप्रतिपाद्य विषयों के कारण मोक्षार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

इस दुर्लभ ग्रन्थ के प्रकाशन में चौखम्बा संस्कृत संस्थान के अधिकारी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के उद्धार के लिए निबद्ध-परिकर श्रीमान् मोहनदास गुप्त एवं उनके पुत्र राजेन्द्रकुमार की मैं सतत अभिवृद्धि की कामना करता हूँ। जिनके उत्साह और निष्काम चेष्टा के द्वारा यह ग्रन्थ सुलभ एवं उनके परम प्रेम पाश में आबद्ध मेरे द्वारा इसकी भूमिका एवं हिन्दी का परिष्कार कर लेखन सम्भव हो सका है। मैं इनका आभार वहन करता हूँ।

प्रेस के संचालन में दक्ष श्री व्रजरतनदासगुप्त की पुनः-पुनः संशोधन करने पर भी उद्वेगशून्यता देखकर उनके धैर्य की प्रशंसा करना मेरा कर्त्तव्य होता है।

मेरे प्रमाद को मुझे ही समर्पित करते हुए विद्वज्जन ग्राह्य अंश का रसास्वादन कर मेरे श्रम को सफल करें।

४ नवम्बर १९८४ **महाप्रभु गोस्वामी**

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्विद्यारण्यविरचितः

जीवन्मुक्तिविवेकः

तत्र प्रथमं जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरणम्

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

जिसका निःश्वासरूप वेद है और जिसने वेदोक्तज्ञानानुसार सारे जगत् का निर्माण किया, सकल विद्याओं के पवित्र आश्रय उस श्रीविद्यातीर्थ गुरु से अभिन्न श्रीमहेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

वक्ष्ये विविदिषान्यासं विद्वन्न्यासं च भेदतः ।
हेतू विदेहमुक्तेश्च जीवन्मुक्तेश्च तौ क्रमात् ॥ २ ॥

विविदिषासन्न्यास और विद्वत्सन्न्यास का भेदपूर्वक निरूपण करूँगा। इनमें से पहिला विविदिषासन्न्यास विदेहमुक्ति का और विद्वत्सन्न्यास जीवन्मुक्ति का हेतु है ॥ २ ॥

सन्न्यासहेतुर्वैराग्यं यदहर्विरजेत्तदा ।
प्रव्रजेदिति वेदोक्तेस्तद्भेदस्तु पुराणगः ॥ ३ ॥

जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन सन्न्यास ग्रहण करे ऐसा वेद का कथन है। अत एव सन्न्यास का हेतु वैराग्य है, इस सन्न्यास का भेद पुराणों में प्रसिद्ध है ॥ ३ ॥

विरक्तिर्द्विविधा प्रोक्ता तीव्रा तीव्रतरेति च ।
सत्यामेव तु तीव्रायां न्यसेद्योगी कुटीचके ॥ ४ ॥

वैराग्य दो प्रकार का है—एक तीव्र वैराग्य दूसरा तीव्रतर

वैराग्य। इनमें से तीव्रवैराग्य होने पर योगी[1] कुटीचक सन्न्यास धारण करे ॥ ४ ॥

शक्तो बहूदके तीव्रतरायां हंससंज्ञिते ।
मुमुक्षुः परमे हंसे साक्षाद्विज्ञानसाधने ॥ ५ ॥

जो तीव्रवैराग्यवान् योगी शरीरसामर्थ्यवाला हो तो वह बहूदक[2] सन्न्यास ग्रहण करे और तीव्रतर वैराग्य होने पर, हंस नाम का सन्न्यास ले, परन्तु तीव्रतर वैराग्यवान् पुरुष यदि मुक्ति चाहनेवाला हो तो, वह साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान के साधनभूत परमहंस-सन्न्यास को स्वीकार करे ॥ ५ ॥

पुत्रदारगृहादीनां नाशे तात्कालिकी मतिः ।
धिक् संसार इतीदृक् स्याद्विरक्तेर्मन्दता हि सा ॥ ६ ॥

जिस समय स्त्री, पुत्र, गृहादि का विनाश होता है पर उस समय "इस संसार को धिक्कार है" इस प्रकार की बुद्धि उपजती है—उसको मन्दवैराग्य कहते हैं ॥ ६ ॥

अस्मिन् जन्मनि मा भूवन्पुत्रदारादयो मम ।
इति या सुस्थिरा बुद्धिः सा वैराग्यस्य तीव्रता ॥ ७ ॥

"इस जन्म में मुझे स्त्रीपुत्रादि कोई भी पदार्थ न होवे" इस प्रकार की जो सुस्थिरबुद्धि होती है उसका नाम तीव्रवैराग्य है ॥७॥

पुनरावृत्तिसहितो लोको मे माऽस्तु कश्चन ।
इति तीव्रतरत्वं स्यान्मन्दे न्यासो न कोऽपि हि ॥ ८ ॥

"इस जन्म और पुनर्जन्म में मुझे किसी भी लोक की इच्छा नहीं है" ऐसी वृत्ति की तीव्रतर वैराग्य में गणना होती है। मन्द-वैराग्य में किसी सन्न्यासाश्रम का अधिकार नहीं ॥ ८ ॥

---

१. जो सन्न्यासी यात्रा (सफर) आदि में सामर्थ्यहीन होने से एक जगह तीर्थस्थानादि में कुटी बाँध कर रहता है, प्रतिदिन बारह हजार प्रणव का जप करता है और यथा समय भिक्षा माँगकर अपने आश्रम में ब्रह्मध्यानपूर्वक जीवन यापन करता है उसे कुटीचक कहा जाता है।

२. तीर्थाटन करने वाले—सन्न्यासी को बहूदक कहा जाता है।

यात्राद्यशक्तिशक्तिभ्यां तीव्रे न्यासद्वयं भवेत् ।
कुटीचको बहूदश्चेत्युभावेतौ त्रिदण्डिनौ ॥ ९ ॥

यात्रा आदि के निमित्त पर्य्यटन करने में सामर्थ्य और असामर्थ्य के कारण तीव्रवैराग्यवान् पुरुष यथाक्रम से कुटीचक और बहूदक नाम के दो सन्न्यासों को धारण करे। ये कुटीचक और बहूदक सन्न्यासी त्रिदण्डी होते हैं ॥ ९ ॥

द्वयं तीव्रतरे ब्रह्मलोकमोक्षविभेदतः ।
तल्लोके तत्त्वविद्धंसो लोकेऽस्मिन्परमहंसकः ॥ १० ॥

तीव्रवैराग्यवान् योगी को यदि ब्रह्मलोक की इच्छा हो तो, वह हंस नामक सन्न्यास को ग्रहण करे। वह ब्रह्मलोक में आत्म-साक्षात्कार होने पर ब्रह्मा के साथ मुक्ति पाता है और यदि उक्त योगी को केवल मोक्ष की ही इच्छा हो तो वह परम हंस नामक आश्रम का सेवन करे। उसको वर्तमान शरीर में ही आत्मसाक्षात्कार होता है ॥ १० ॥

एतेषां तु समाचाराः प्रोक्ताः पाराशरस्मृतौ ।
व्याख्यानेऽस्माभिरत्रायं परहंसो विविच्यते ॥ ११ ॥

इन सब सन्न्यासियों के सदाचार का निरूपण पाराशरस्मृति में किया है अतः उसके व्याख्यान करने से हम विरत होकर इस ग्रन्थ में केवल परमहंस ही की विवेचना करेंगे ॥ ११ ॥

जिज्ञासुर्ज्ञानवांश्चेति परहंसो द्विधा मतः ।
प्राहुर्ज्ञानाय जिज्ञासोर्न्यासं वाजसनेयिनः ॥ १२ ॥

जिज्ञासु और ज्ञानवान् दो प्रकार के परमहंस हैं। जिज्ञासु (सन्न्यासी) ज्ञान प्राप्ति के लिये परमहंस आश्रम का धारण करे, ऐसा वाजसनेयी शाखा के अध्ययन करनेवालों ने (बृहदारण्यक उपनिषद् में) कहा है ॥ १२ ॥

प्रव्राजिनो लोकमेतमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति हि ।
एतस्यार्थस्तु गद्येन वक्ष्यते मन्दबुद्धये ॥ १३ ॥

"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इस श्रुति

का अर्थ मन्दबुद्धिपुरुषों के लिये हम गद्य (वाक्य) द्वारा करेंगे ॥ १३ ॥

लोको हि द्विविधः, आत्मलोकोऽनात्मलोकश्चेति, तत्राऽऽत्मलोकस्य त्रैविध्यं बृहदारण्यके तृतीयाध्याये श्रूयते—

आत्मलोक और अनात्मलोक ये दो प्रकार के लोक हैं। इनमें से अनात्मलोक तीन प्रकार का है, यह बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय में कहा गया है।

"अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति, सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको, विद्यया देवलोकः" इति।

आत्मलोकश्च तत्रैव श्रूयते।

मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक, ये तीन लोक हैं। इनमें से मनुष्यलोक का जय पुत्र द्वारा ही किया जा सकता है, अन्य कर्म के द्वारा नहीं। पितृलोक का जय कर्म द्वारा ही किया जा सकता है, पुत्र या विद्या द्वारा नहीं और देवलोक का विद्या (उपासना) द्वारा जय किया जा सकता है पुत्र या कर्म द्वारा नहीं।

"यो ह वा अस्माल्लोकात् स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति" इति। "आत्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म चीयते" इति च॥ यो मांसादिकपिण्डलक्षणात्स्वलोकं परमात्माख्यमहं ब्रह्मास्मीत्यविदित्वा म्रियते स स्वलोकः परमात्माऽविदितोऽविद्यया व्यवहितः सन्नेनमवेत्तारं प्रेतं मृतं न भुनक्ति शोकमोहादिदोषापनयनेन न पालयति। उपासकस्य ह निश्चितं कर्म न क्षीयते, एकफलदानेनोपक्षीणं

न भवति । कामितसर्वफलं मोक्षं च ददातीत्यर्थः ।

जो पुरुष अपने स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश आत्मा का साक्षात्कार किये विना इस मांस आदि के पिण्डरूप शरीर को छोड़ता है उसको आत्मा का ज्ञान होने से, उसकी शोकमोहभयादि से रक्षा नहीं करता है, अतएव आत्मलोक की ही उपासना करनी चाहिये । जो आत्मरूप लोक की उपासना करता है उसके कर्म का नाश नहीं होता है अर्थात् एक फल को देने से ही कर्म का क्षय नहीं होता है प्रत्युत सब इच्छित फलों को देता है और मोक्ष को भी देता है ।

षष्ठाध्यायेऽपि ।

"किमर्थं वयमध्येष्यामहे, किमर्थं वयं यक्ष्यामहे, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक" इति । "ये प्रजामीशिरे ते श्मशानानि भेजिरे, ये प्रजा नेशिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे" ।

बृहदारण्यक उपनिषद् के ६ठे अध्याय में भी कहा गया है—

किसलिये हम अध्ययन करें ? किसलिये हम यज्ञ करें ? प्रजाद्वारा हम क्या करेंगे ? जिसको यह आत्मरूप फल की प्राप्ति हुई है । जो प्रजा का स्वामी होता है वह मरण को प्राप्त करता है (उसने श्मशान का सेवन किया) और जो प्रजा का स्वामी न हुआ उसने मोक्ष को प्राप्त किया ।

एवं सति—"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती"त्यत्राऽऽत्मलोको विवक्षित इति गम्यते । "स वा एष महानज आत्मा" इति प्रक्रान्तस्याऽऽत्मन एतच्छब्देन परामृष्टत्वात् । लोक्यतेऽनुभूयत इति लोकः । तथा चाऽऽत्मानुभवमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति श्रुतेस्तात्पर्यार्थः सम्पद्यते । स्मृतिश्च ।

इस लिये "एतमेव" इत्यादि श्रुति में आत्मलोक विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि "स वा एष०" इस श्रुति में पठित आत्मा का "एतमेव प्रव्रा०" इस श्रुति में 'एतत्' (इस) शब्द के द्वारा

ग्रहण किया है। "लोक्यते" इस व्युत्पत्ति के द्वारा लोकपद का 'अनुभव गम्य' ऐसा अर्थ होता है। इसलिये "एतमेव प्र०" इस श्रुति का तात्पर्य ऐसा व्यक्त हो रहा है कि "आत्मानुभव की इच्छा करनेवाला पुरुष सन्न्यास ग्रहण करता है। स्मृति भी कहती है—

"ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत्" इति।

ब्रह्मसाक्षात्काररूपलाभ के लिये 'परमहंस' यह संज्ञा है। इसलिये परमहंससंन्यासी शमदमादि साधनों से युक्त हो।

इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सम्यगनुष्ठितैर्वेदानुवचनादिभिरुत्पन्नया विविदिषया सम्पादितत्वादयं विविदिषासन्न्यास इत्यभिधीयते। अयं च वेदनहेतुः सन्न्यासो द्विविधः, जन्मापादक-काम्यकर्मादित्यागमात्रात्मकः प्रैषोच्चारणपूर्वकदण्डधारणाद्याश्रमरूपश्चेति।

इस जन्म या जन्मान्तर में यथाविधि (नियमानुसार) आचरण के साथ वेदाध्ययनादि शुभ नित्य कर्म द्वारा उत्पन्न हुई विविदिषा से तत्त्व का सम्पादन होने से इसका नाम विविदिषा सन्न्यास है। यह विविदिषा सन्न्यास ज्ञान का हेतु है। यह सन्न्यास दो प्रकार का है। एक जन्मसम्पादक केवल काम्यकर्मादि का त्यागरूप और दूसरा प्रैष्यमन्त्र का उच्चारणपूर्वक दण्डधारणादि आश्रमचिह्न युक्त सन्न्यास है।

"पुंजन्म लभते माता पत्नी च प्रैषमात्रतः।
ब्रह्मनिष्ठः सुशीलश्च ज्ञानं चैतत्प्रभावतः"॥

केवल प्रैषमन्त्र के उच्चारण से भी उस उच्चारण करनेवाले की माता और पत्नी पुरुष योनि को प्राप्त होती है और स्वयं भी इस मन्त्र के प्रभाव से ब्रह्मनिष्ठ, सुशील और ज्ञानवान् होता है।

त्यागश्च तैत्तिरीयादौ श्रूयते—

पुनर्जन्म को देनेवाला काम्यकर्मादि का त्यागरूप सन्न्यास का, तैत्तिरीयादि उपनिषद् में श्रवण होता है—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैक अमृतत्वमानशुः" इति।

'किसी को कर्म द्वारा, प्रजा द्वारा या धन द्वारा, मुक्ति नहीं हुई, किन्तु त्यागद्वारा कतिपय व्यक्तियों को मुक्ति प्राप्त हुई है।'

अस्मिंश्च त्यागे स्त्रियोऽप्यधिक्रियन्ते ।

इस काम्य कर्म के त्यागरूप सन्न्यास में स्त्रियों का भी अधिकार प्राप्त है।

भिक्षुकीत्यनेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहाद्वा वैधव्यादूर्ध्वं सन्न्यासेऽधिकारोऽस्तीति दर्शितम् । तेन भिक्षाचर्यं मोक्षशास्त्रश्रवणं एकान्त आत्मध्यानं च ताभिः कर्तव्यम् , त्रिदण्डादिकं च धार्यम् , इति मोक्षधर्मे चतुर्धरीटीकायां सुलभाजनकसंवादः । शारीरकभाष्ये वाचक्नवीत्यादि श्रूयते । देवताधिकरणन्यायेन विधुरस्याधिकारप्रसङ्गेन तृतीयाध्याये चतुर्थपादे । अत एव मैत्रेयीवाक्यमाम्नायते ॥

कारण यह है कि श्रुति में 'भिक्षुकी' इस पद के द्वारा विवाह के पूर्व या विधवा होने के बाद स्त्रियों को भी सन्न्यास में अधिकार है ऐसा श्रुतिद्वारा दिखलाया गया है। अत एव उसे भिक्षाटन, मोक्षशास्त्र का श्रवण और एकान्त स्थान में आत्मध्यान करना और त्रिदण्डादि सन्न्यासाश्रम के चिह्न धारण करना चाहिये। यह वार्ता मोक्षधर्मान्तिर्गत सुलभाजनक के सम्वाद में चतुर्धरीटीका[1] में स्पष्ट है और शारीरिक भाष्य में (शा० अ० ३ पा ४० सू० ३६ से ३८ तक) वाचक्नवी आदि ब्रह्मवादिनी भिक्षुकी स्त्रियों का श्रवण देवताधिकरण में स्त्रीरहित पुरुष का विद्या में अधिकार के प्रसङ्ग में है। इसलिये इस प्रमाण में मैत्रेयी ब्राह्मण का वाक्य वहाँ दृष्टान्तरूप से दिया है।

---

१. यहाँ से चतुर्थपादे यहाँ तक ग्रन्थ प्रक्षिप्त है क्योंकि० चतुर्धरटीकाकार श्रीविद्यारण्यके पश्चात् हुये हैं सुतरां चतुर्धरी के वाक्य का ग्रहण यहाँ पर विद्यारण्य नहीं कर सकते।

"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवन् वेत्थ तदेव मे ब्रूहि" । इति ॥

जिसके द्वारा मुझे अमरत्व की प्राप्ति न होगी, उस धन को मैं (लेकर) क्या करूँगी ? अत एव हे भगवन् ! आप जो जानते हो उसी को मुझे कहो ।

ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थानां केनचिन्निमित्तेन सन्न्यासाश्रमस्वीकारे प्रतिबद्धे सति स्वाश्रमधर्मेष्वनुष्ठीयमानेष्वपि वेदनार्थो मानसः कर्मादित्यागो न विरुध्यते । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु लोके च तादृशां तत्त्वविदां बहूनामुपलम्भात् । यस्तु दण्डधारणादिरूपो वेदनहेतुः परमहंसाश्रमः स पूर्वैराचार्य्यैर्बहुधा प्रपञ्चित इत्यस्माभिरुपरम्यते ॥

॥ इति विविदिषासन्न्यासः ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, इन आश्रमियों को किसी निमित्त से सन्न्यासाश्रम स्वीकार करने में बलवान् रुकावट हो तो, अपने-अपने आश्रमोचित धर्मों का पालन करते हुए भी मानस सन्न्यास का सेवन कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करें। इसमें कोई विरोध नहीं है। इस अंश में वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण और लोक में ऐसे तत्त्वज्ञानियों के दृष्टान्त बहुत पाये जाते हैं। दण्डधारणादिचिह्नविशिष्ट ज्ञान का साधनरूप जो विविदिषा सन्न्यास है, उसकी विवेचना पूर्वाचार्यों ने अनेक प्रकार से की है। अत एव इस विषय से हम उपरत होते हैं।

:इस प्रकार विविदिषा-सन्न्यास का संक्षेप से निरूपण समाप्त हुआ ॥

अथ विद्वत्सन्न्यासं निरूपयामः । सम्यगनुष्ठितैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः परतत्त्वं विदितवद्भिः सम्पाद्यमानो विद्वत्सन्न्यासः । तं च याज्ञवल्क्यः सम्पाद-

यामास। तथा हि—विद्वच्छिरोमणिर्भगवान् याज्ञवल्क्यो विजिगीषुकथायां बहुविधेन तत्त्वनिरूपणेनाऽऽश्वलप्रभृतीन् विप्रान् प्रविजित्य वीतरागकथायां संक्षेपविस्तराभ्यामनेकधा जनकं बोधयित्वा मैत्रेयीं बुबोधयिषुस्तस्यास्त्वरया तत्त्वाभिमुख्याय स्वकर्त्तव्यं सन्न्यासं प्रतिजज्ञे। ततस्तां बोधयित्वा सन्न्यासं चकार तदुभयं मैत्रेयीब्राह्मणस्याऽऽद्यन्तयोराम्नायते।

अब हम विद्वत्सन्न्यास का निरूपण करते हैं, यथाविधि श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अनुष्ठान कर जिसने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है ऐसा पुरुष विद्वत्सन्न्यास धारण करे। इस सन्न्यास को भगवान् योगिवर श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि ने सम्पादन किया था। विद्वानों के मुकुटमणि भगवान् श्रीयाज्ञवल्क्य विजिगीषुकथा में बहुत प्रकार से तत्त्वनिरूपण द्वारा आश्वल आदि ब्राह्मणों को जीता था और वीतराग कथा में राजा जनक को संक्षेप और विस्तार से बोध कराया था। उसके बाद अपनी स्त्री मैत्रेयी जो अधिकारी के लक्षणों से सम्पन्न थी, उसे उपदेश देने की इच्छा से उसको शीघ्र तत्त्वाभिमुख करने के लिये स्वयं "हे प्रिये! "अब मुझे सन्न्यास आश्रम धारण करना है" ऐसी प्रतिज्ञा की थी। अनन्तर उसको तत्त्वाभिमुख करानेवाले प्रश्नोत्तर द्वारा श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि ने बोध कराया और स्वयं सन्न्यास ग्रहण किया। ये दोनों बातें मैत्रेयीब्राह्मण के आदि और अन्त में स्पष्ट है। यथा :—

"अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरे ऽहमस्मात्स्थानादस्मि" इति।

गृहस्थाश्रम से अन्य संन्यासाश्रम को धारण करने की इच्छा से मैत्रेयी (अपनी स्त्री) से याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि मैं इस गृहस्थाश्रम का त्याग कर सन्न्यासाश्रम को ग्रहण करने की इच्छा करता हूँ॥

"एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार" इति च ।

"यही मोक्ष का साधन है" इतना कह श्रीयाज्ञवल्क्य ने सन्न्यास ग्रहण किया। ये उपरोक्त दोनों वाक्य क्रम से मैत्रेयीब्राह्मण के आदि और अन्त में पठित हैं।

कहोलब्राह्मणेऽपि विद्वत्सन्न्यास आम्नायते "एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" इति ।

कहोलब्राह्मण में भी विद्वत्सन्न्यास का वर्णन है। इस प्रकार से प्रसिद्ध उस आत्मा का साक्षात्कार कर ब्रह्मवित् पुरुष पुत्रैषणा, और लोकैषणा से अलग हो, भिक्षाटन करते हैं अर्थात् संन्यासाश्रम को धारण करते हैं ॥

न चैतद्वाक्यं विविदिषासन्न्यासपरमिति शङ्कनीयम् । पूर्वकालवाचिनो विदित्वेति क्त्वाप्रत्ययस्य ब्रह्मविद्वाचिनोब्राह्मणशब्दस्य च बाधप्रसङ्गात् । न चात्र ब्राह्मणशब्दो जातिवाचकः। वाक्यशेषे पाण्डित्यबाल्यमौनशब्दाभिधेयैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः साध्यं ब्रह्मसाक्षात्कारमभिप्रेत्याथ ब्राह्मण इत्यभिहितत्वात् ।

यह वाक्य विविदिषा सन्न्यास का प्रतिपादन करने वाला है ऐसी शङ्का न करनी चाहिये। क्योंकि 'विदित्वा' इस पद में स्थित भूत काल में 'क्त्वा' प्रत्यय और ब्रह्मवेत्ता का वाचक "ब्राह्मण" शब्द का बाध होता है। इस वाक्य में ब्राह्मणशब्द, ब्राह्मणजाति का वाचक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य के शेष भाग में, पाण्डित्य, बाल्य और मौन इन संज्ञाओं से यथा क्रम से कथन करने पर, श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार के अभिप्राय से ही "अथ ब्राह्मणः" ऐसा कहा गया है।

ननु तत्र विविदिषासन्न्यासोपेतः पाण्डित्यादौ प्रवर्त्त-

मानोऽपि ब्राह्मणशब्देन परामृष्टः। "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेदिति चेत् । मैवम् । भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य तत्र ब्राह्मणशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् । अन्यथा कथमथ ब्राह्मण इति साधनानुष्ठानोत्तरकालवाचिनमथशब्दम्प्रयुञ्जीत । शारीरब्राह्मणेऽपि विद्वत्सन्न्यासविविदिषासन्न्यासौ स्पष्टं निर्दिष्टौ ।

शङ्काः—उस स्थल में 'तस्मादब्रा४' (इस कारण ब्राह्मण श्रवण को विधिपूर्वक कर मनन में स्थित रहे) इस वाक्य में श्रवण आदि में प्रवृत्त होने से विविदिषासन्न्यासवान् पुरुष का भी ग्रहण किया है ।

उत्तरः—भविष्य में ब्रह्मवित्त्व की प्राप्ति करनेवाला इस अर्थ का आश्रय कर पूर्वोक्त वाक्य में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है । यदि ऐसा न होता, तो श्रुति में 'अथ ब्राह्मणः इस वाक्य में श्रवणादि के साधनोत्तर काल वाचक अथ शब्द का उच्चारण क्यों किया जाता, अर्थात् नहीं करता । शारीर ब्राह्मण में भी विविदिषा सन्न्यास का स्पष्ट निर्देश है ।

"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इति । मुनित्वं मननशीलत्वं तच्चाऽसति कर्त्तव्यान्तरे सम्भवतीत्यर्थात्सन्न्यास एवाभिधीयते । एतच्च वाक्यशेषे स्पष्टीकृतम् ।

इस आत्मा को ही जानकर मुनि होता है । इस संन्यासी के लोक की (आत्मा को ही) इच्छा कर पुरुष सन्न्यास ग्रहण करते हैं । इस वाक्य में 'मुनि' शब्द का अर्थ मननशील इस प्रकार होता है परन्तु मननशीलत्व जब तक कर्त्तव्य शेष होता तब तक नहीं हो सकता अर्थात् उससे सन्न्यास ही सूचित होता है, यह वार्त्ता ऊपर के वाक्य के अन्तिम भाग में स्पष्ट किया है ।

"एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति, ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च

व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" इति। अयं लोक इत्यपरोक्षेणानुभूयत इत्यर्थः।

यह वही है—जिसको जान कर पूर्व समय के विद्वानों ने प्रजा की इच्छा न की थी। (कारण यह है कि उनकी धारणा थी कि) जिनको यह स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूप प्राप्त हुआ है, वे हम प्रजा का क्या करेंगे? ऐसा समझ कर उन विद्वानों ने पुत्र को इच्छा, धन की इच्छा और लोक की तृष्णा को छोड़ दिया और भिक्षावृत्ति (सन्न्यासाश्रम) का आश्रय लिया था अर्थात् सन्न्यास ग्रहण किया था। इस श्रुति में अयं लोकः का अर्थ जिसका साक्षात् अनुभव हुआ है ऐसा यह आत्मा ऐसा होता है।

नन्वत्र मुनित्वेन फलेन प्रलोभ्य विविदिषासन्न्यासं विधाय वाक्यशेषे स एव प्रपञ्चितः। अतो न सन्न्यासान्तरं कल्पनीयम्। मैवम्। वेदनस्यैव विविदिषासन्न्यासफलत्वात्। न च वेदनमुनित्वयोरेकत्वं शङ्कनीयम्। "विदित्वा मुनिर्भवतीति" पूर्वोत्तरकालीनयोस्तयोः साध्यसाधनभावप्रतीतेः।
ननु वेदनस्यैव परिपाकातिशयरूपमवस्थान्तरं मुनित्वम्। अतो वेदनद्वारा पूर्वसन्न्यासस्यैव तत्फलमिति चेत्। बाढम्। अत एव साधनरूपात्सन्न्यासादन्यं फलरूपमेतं सन्न्यासं ब्रूमः। यथा विविदिषासन्न्यासिना तत्त्वज्ञानाय श्रवणादीनि सम्पादनीयानि, तथा विद्वत्सन्न्यासिनाऽपि जीवन्मुक्तये मनोनाशवासनाक्षयौ सम्पादनीयौ। एतच्चोपरिष्टात्प्रपञ्चयिष्यामः।

शङ्काः—(एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति) इस श्रुति में मुनित्व की प्राप्तिरूप फल का लोभ बताकर, उस फल के निमित्त विविदिषासन्न्यास का विधान कर 'एतद्ध स्म वै०' इत्यादि वाक्य द्वारा विविदिषासन्न्यास का ही स्पष्टीकरण किया है, इसलिये विविदिषासन्न्यास से भिन्न अन्य सन्न्यास की कल्पना करना सम्भव नहीं है।

समाधानः—'विदित्वा मुनिर्भवति' ऐसे कथन से वेदन–ज्ञान की साधनरूपता तथा मुनित्व की फलरूपता प्रतीत होती है। अत एव विविदिषा सन्न्यास द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानरूप फल मिलने पर विद्वत्सन्न्यास द्वारा मुनित्वरूप फल मिलता है—यह बात यथार्थ है।

शङ्काः—ज्ञान के ही परिपाक विशेष से प्राप्त हुई एक प्रकार की अवस्था है, वही मुनित्व है। अत एव ज्ञान द्वारा पूर्वसन्न्यास का ही मुनित्व फल है, विद्वत्सन्न्यास का फल नहीं है।

समाधानः—यह बात ठीक है। इसलिये हम साधन रूप सन्न्यास से भिन्न फल रूप सन्न्यास को कह रहे हैं।

जैसे विविदिषासन्न्यासी को ज्ञान के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन सम्पादन करना चाहिये, उसी प्रकार विद्वत्सन्न्यासी को भी जीवन्मुक्तिरूप उत्कृष्ट फल के लिए वासनाक्षय और मनोनाश सम्पादन करना चाहिये। यह बात विस्तार पूर्वक आगे (इसी ग्रन्थ में) कहेंगे।

सत्यप्यनयोः सन्न्यासयोरवान्तरभेदे परमहंसत्वाकारेणैकीकृत्य "चतुर्विधा भिक्षवः" इति स्मृतिषु चतुःसंख्योक्ता। पूर्वोत्तरयोरुभयोः सन्न्यासयोः परमहंसत्वं जाबालश्रुताववगम्यते।

शङ्काः—जो विद्वत्सन्न्यास नाम का एक अलग सन्न्यास होता तो, स्मृति में कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस इन चार प्रकार के भिक्षुकों के गिनने के बदले पाँच प्रकार के गिनते? उत्तर—यद्यपि विविदिषा सन्न्यास और विद्वत्सन्न्यास में परस्पर अवान्तर विलक्षणता है। तथापि परमहंस में दोनों का समावेश कर स्मृतियों में भिक्षुकों की चार ही संख्या रखी है। दोनों सन्न्यासों का परमहंस होना जाबाल उपनिषद् की श्रुति से ही जाना जाता है।

तत्र हि जनकेन सन्न्यासे पृष्टे सति याज्ञवल्क्योऽधिकारविशेषविधानेनोत्तरकालानुष्ठेयेन च सहितं विविदिषासन्न्यासमभिधाय पश्चादत्रिणा यज्ञोपवीतरहितस्याऽऽक्षिप्ते ब्राह्मण्ये सति पश्चादात्मज्ञानमेव यज्ञोपवीतमिति समादधौ। अतो बाह्योपवीताभावात् परम-

हंसत्वं निश्चीयते। तथाऽन्यस्यां कण्डिकायां परमहंसो नामेत्युपक्रम्य सम्वर्तकादीन् बहून्ब्रह्मविदो जीवन्मुक्तानुदाहृत्य "अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः" इति विद्वत्सन्न्यासिनो दर्शिताः।

तथा—

जाबाल उपनिषद् में जनक राजा के द्वारा संन्याससम्बन्धी प्रश्न करने पर श्री याज्ञवल्क्य मुनि ने सन्न्यासाश्रम के अधिकार का विधान कर उत्तर काल में साधन करने योग्य कर्त्तव्य सहित विविदिषा सन्न्यास का निर्देश किया, इसको सुनकर भगवान् अत्रिमुनि ने कहा कि 'यज्ञोपवीत के त्याग करने से ब्राह्मणत्व नष्ट होगा और ऐसा करने पर उपनिषद् के विचार में अधिकार भी नहीं रहता'। इसके उत्तर में 'आत्मज्ञान ही उनका (सन्न्यासियों के) यज्ञोपवीत है' इस प्रकार श्रीमहामुनि योगिवर्य ने समाधान किया। अत एव ब्राह्य उपवीत के अभाव से विविदिषासन्न्यासियों का परमहंस होना निश्चित होता है। उसी प्रकार इसी उपनिषद् की अन्य कण्डिका में 'परमहंस नाम' से लेकर सम्वर्तकादिक अनेक ब्रह्मवित् जीवन्मुख पुरुषों का उदाहरण देकर 'जिनका आश्रमादि ज्ञापक चिह्न कोई नहीं दीखता है, वैसे गुप्त आचारवाले, उन्मत्त न होकर परन्तु उन्मत्त का सा व्यवहार करनेवाले हैं, इस प्रकार कह कर, विद्वत्सन्न्यास को दिखलाया है।

"त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत् सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेत्" इति।

त्रिदण्ड, कमण्डलु, छीका, जलपवित्र, शिखा और यज्ञोपवीत इन सब को "भूः स्वाहा" पढ़ कर जल में छोड़ दे और आत्म-संशोधन करें।

त्रिदण्डिनः सत एकदण्डलक्षणं विविदिषासन्न्यासं विधाय तत्फलरूपं विद्वत्सन्न्यासमेवमुदाजहार।

इस वाक्य द्वारा त्रिदण्डी सन्न्यासी के लिये एक दण्ड का धारण-रूप विविदिषासन्न्यास का विधान कर उसके फलरूपी विद्वत्सन्न्यास का ही उदाहरण दिया है।

यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्त-काले विमुक्तो भैक्ष्यमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ कृत्वा शून्यागारे देवतागृहतृणकूटवल्मीकवृक्ष-मूलकुलालशालाग्निहोत्रनदीपुलिनगिरिकुहर-कन्दर-कोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्ल-ध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सन्न्यासेन देहत्यागं करोति स एव हंसो नाम इति ।

जैसा पैदा हुआ उसी प्रकार अर्थात् अनासक्त, सुखदुःखादि के संसर्ग से रहित, संग्रहरहित, ब्रह्ममार्ग में यथार्थ निष्ठा प्राप्त कर शुद्धमनवाला प्राणरक्षार्थ योग्य समय में आसन से उठकर उदकपात्र द्वारा भिक्षा करता हुआ, भिक्षा मिले या न मिले उसमें समता रखने वाला, शून्य घर में, देवमन्दिर में, फूस के टाल में, दीपक की आड़ में, वृक्षों की आड़ में, कुम्हार को आवा में, अग्निहोत्रगृह में, नदी के तट पर, पर्वत की कन्दरा में, वृक्ष की खोह में, झरना के पास, यज्ञ-स्थण्डिल (चबूतरा वा वेदी) पर या जहाँ कोई न रहता हो वहाँ प्रयत्नरहित शुद्ध परमात्मा के ध्यान में तत्पर, आत्मनिष्ठावाला, शुभाशुभ कर्म के उच्छेद करने में तत्पर पुरुष सन्न्यास द्वारा शरीर को त्याग करता है, उसी को परमहंस जानना चाहिए ।

तस्मादनयोरुभयोः परमहंसत्वं सिद्धम् । समानेऽपि परमहंसत्वे सिद्धे विरुद्धधर्माक्रान्तत्वादवान्तरभेदोऽ-प्यभ्युपगन्तव्यः । विरुद्धधर्मत्वं चाऽऽरुण्युपनिष-त्परमहंसोपनिषदोः पर्यालोचनायामवगम्यते । "केन भगवन् कर्माण्यशेषतो विसृजानीति" शिखायज्ञो-पवीतस्वाध्यायगायत्रीजपाद्यशेषकर्मत्यागरूपे विवि-

दिषासन्न्यासे शिष्येणाऽऽरुणिना पृष्टे सति गुरुः प्रजापतिः "शिखां यज्ञोपवीतम्" इत्यादिना सर्वत्यागमभिधाय "दण्डमाच्छादनं कौपीनं च परिग्रहेत्" इति दण्डादिस्वीकारं विधाय "त्रिसन्ध्यादौ स्नानमाचरेत् । सन्धि समाधावात्मन्याचरेत्सर्वेषु वेदेष्वारण्यमावर्तयेत् । उपनिषदमावर्त्तयेत्" इति वेदनहेतूनाश्रमधर्माननुष्ठेयतया विधत्ते ।

इसलिये इन दोनों आश्रमों का परमहंस होना सिद्ध है। परमहंसत्वरूप धर्म के द्वारा दोनों समान होने पर भी उनमें परस्पर अन्य विरुद्ध धर्म होने से इनमें अवान्तर भेद अवश्य स्वीकार करना चाहिये। इसके विरुद्ध धर्म का ज्ञान आरुणि उपनिषद् और परमहंसोपनिषद् की आलोचना से होता है। आरुणि उपनिषद् में इस प्रकार कहा है :—"केन भगवन्०"—हे भगवन् ! किस प्रकार मैं सब कर्मों का त्याग करूं ? इस प्रकार आरुणि शिष्य के स्वाध्याय गायत्री जपादिक सब कर्मों का त्यागरूप विविदिषा सन्न्यास विषयक प्रश्न करने पर गुरु प्रजापति ने "शिखां यज्ञोपवीतं" इत्यादि पूर्वोक्त वचनों से सब का त्याग कहा और 'दण्डमाच्छादनं कौपीनं'—दण्ड, आच्छादन और कौपीन को ग्रहण करे, इस प्रकार दण्डादि ग्रहण करने का विधान किया एवं 'त्रिसन्ध्यादौ' इत्यादि प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल में स्नान करें, सन्धिकाल में आत्मा का अनुसन्धान करे, सब वेदों में, आरण्यक और उपनिषद् का आवर्त्तन करें। इस प्रकार से ज्ञान का हेतुरूप आश्रम धर्मों का कर्त्तव्यरूप में विधान किया है।

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्ग इति विद्वत्सन्न्यासे नारदेन पृष्टे सति गुरुर्भगवान् प्रजापतिः स्वपुत्रमित्रेत्यादिना पूर्ववत् सर्वत्यागमभिधाय "कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहेदि"ति दण्डादिस्वीकारस्य लौकिकत्वमभिधाय तच्च न मुख्योऽस्तीति शास्त्रीयत्वं प्रतिषिध्य कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यो

"न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छाऽऽदनं चरति परमहंस" इति दण्डादिलिङ्गराहित्यस्य शास्त्रीयतामुक्त्वा "न शीतं न चोष्ण"मित्यादिवाक्येनाऽऽशाम्बरो निर्नमस्कार" इत्यादिवाक्येन च लोकव्यवहारातीतत्वमभिधायान्ते "यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवतीत्यन्तेन ग्रन्थेन ब्रह्मानुभवमात्रपर्यवसानमाचष्टे । अतो विरुद्धधर्मोपेतत्वादस्त्येव तयोर्महान् भेदः । स्मृतिष्वप्ययं भेद उक्त इति द्रष्टव्यम् ।

अर्थः—जाबालोपनिषद् में विद्वत्संन्यास के लिये इस भाँति वर्णन है। "परमहंस योगी का कौन-सा मार्ग है ?" इस प्रकार भगवान् नारद के विद्वत्संन्यास सम्बन्धी प्रश्न करने पर गुरुप्रजापति ने 'स्वपुत्रमित्र०' आदि वक्ष्यमाण वाक्यद्वारा पूर्ववत् सब का त्याग कह कर कौपीनं दण्डमाच्छादनं०'—कौपीन, दण्ड और आच्छादन को अपने शरीर निर्वाह के लिये और लोगों के कल्याण के लिये ग्रहण करे, इस वाक्यद्वारा दण्डादि को धारण करे, यह कोई शास्त्रीय मुख्य कर्त्तव्य नहीं किन्तु लौकिक व्यवहार है ऐसा बतलाया । इस पर फिर नारदजी ने पूछा कि विद्वत्संन्यास का मुख्य धर्म क्या है ? इसके उत्तर में प्रजापति ने यह वचन कहा ("न दण्डं०" इत्यादि) कि परमहंस दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन, आच्छानादि धारण नहीं करता, इस रीति से दण्डादि चिह्न का अभाव शास्त्रोक्त है, ऐसा कहकर (न शीतं न चोष्णं० इत्यादि) उसको शीत, उष्णादि द्वंद्व धर्म, बाधा नहीं करता, वह दिशारूपी वस्त्र धारण करता, वह किसी की स्तुति नमस्कारादि नहीं करता, इत्यादि वचनों द्वारा उसकी लोकों से विलक्षणता जनाकर अन्त में (यत्पूर्णा०') जो, पूर्ण, आनन्दघन और बोधरूप है, वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसे ज्ञान द्वारा कृतकृत्य होता है । इस अन्तिम जीवन्मुक्त योगी का पर्यवसान केवल ब्रह्मानुभव में ही पूर्वोक्त उपनिषद् ने जतलाया है, अतएव विविदिषा संन्यास और विद्वत्संन्यास में परस्पर विरुद्ध धर्म होने से उनमें अवान्तर विलक्षणता है । स्मृतियों में भी यह भेद दिखलाया है, वह देखने योग्य है ।

"संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥
प्रवृत्तिलक्षणोयोगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥"
इत्यादि विविदिषासंन्यासः ।

इस प्रकार से संसार को साररहित अनुभव कर सारवस्तु (परमात्मा) के दर्शन की इच्छा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पहिले ही परम वैराग्यवान् अधिकारी पुरुष संन्यास ग्रहण करता है। कर्मयोग प्रवृत्तिरूप है और ज्ञान का साधन संन्यास है। अत एव ज्ञान ही को प्रधानता समझ उसी को सम्पादन करने के निमित्त बुद्धिमान् पुरुष इस जगत् में संन्यास ग्रहण करे यह वाक्य विविदषा संन्यास का बोधक है।

"यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥"
ज्ञात्वा सम्यक् परं ब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परि-
व्रजेत् । इत्यादिविद्वत्संन्यासः ।

जब सनातन परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता, तब एक दण्ड को धारण कर, उपवीतसहित शिखा का त्याग करे और अच्छे प्रकार परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने पर, सब का त्याग कर परिव्राजक होवे। यह वाक्य विद्वत्संन्यास का प्रतिपादक है।

ननु कलाविद्यास्विव कदाचिदौत्सुक्यमात्रेणापि वेदितुमिच्छा सम्भवत्येव विद्वत्ताऽप्यापाददर्शिनः पण्डितम्मन्यमानस्याप्यवलोक्यते, नच तौ प्रव्रजन्तौ दृष्टौ । अतो विविदिषाविद्वत्ते कीदृशे विवक्षिते इति चेत् । उच्यते । यथा तीव्रायां बुभुक्षायामुत्पन्नायां भोजना-दन्यो व्यापारो न रोचते, भोजने च विलम्बो न सोढुं शक्यते । तथा जन्महेतुषु कर्मस्वत्यन्तमरुचि-

वेदनसाधनेषु च श्रवणादिषु त्वरा महती सम्पद्यते तादृशी विविदिषा संन्यासहेतुः । विद्वत्ताया अवधि-रुपदेशसाहस्र्यामभिहितः ।

शङ्काः—जैसे लोक कलारूपविद्याओं में कौतुक से प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र में भी कितने एक को कौतुक से प्रवृत्ति करने की इच्छा होनी सम्भव है। उसी प्रकार अपण्डित होकर अपने को पण्डित मानने वाला ब्रह्म के सामान्य ज्ञानवाले में भी विद्वत्ता देखी जाती है। अतएव विविदिषा और विद्वत्ता पूर्वोक्त दोनों संन्यासों में कैसी अपेक्षित है ? समाधानः—अत्यन्त भूख लगे पुरुष को जैसे भूख के समय भोजन के सिवाय अन्य किसी काम में मन नहीं लगता वैसे भोजन में विलम्ब भी नहीं सह सकता, उसी प्रकार जन्म देनेवाले कर्मों में अत्यन्त अरुचि और ज्ञान के साधन श्रवणादि में अत्यन्त शीघ्रता होती है इससे उसी समय विविदिषासंन्यास ग्रहण करे। विद्वत्संन्यास की अवधि भगवान् शङ्कराचार्य जी ने उपदेशसाहस्री (ग्रन्थ) में दिखलाया है।

"देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥" इति ।
श्रुतावपि ।

जैसे अज्ञानी को देहात्मज्ञान होता है, वैसा ही देहात्मज्ञान को बाध करने वाला ज्ञान जिसको स्वरूप में ही होता वह पुरुष यदि मुक्ति की इच्छा न करे तथापि वह मुक्त होता है।

श्रुति भी कहती है कि—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥" इति ।

परममपि हिरण्यगर्भादिकं पदमवरं यस्मादसौ परावरः, हृदये बुद्धौ साक्षिणस्तादात्म्याध्यासोऽनाद्य-विद्यानिर्मितत्त्वेन ग्रन्थिवद्दृढसंश्लेषरूपत्वाद्ग्रन्थि-रित्युच्यते । आत्मा साक्षी कर्त्ता वा, साक्षित्वेऽप्यस्य ब्रह्मत्वमस्ति वा न वा, ब्रह्मत्वेऽपि तद्बुद्ध्या वेदितुं

शक्यं न वा, शक्यत्वेऽपि तद्वेदनमात्रेण मुक्तिरस्ति न वा, इत्यादयः संशयाः, कर्माण्यनारब्धान्यागामिजन्मकारणानि, तदेतद्ग्रन्थ्यादित्रयमविद्यानिमित्तत्वादात्मदर्शनेन निवर्तते। स्मृतावप्ययमर्थ उपलभ्यते।

पर अर्थात् हिरण्यगर्भादि पद जिससे निकृष्ट कोटि को भोगता है, उस परमात्मा का साक्षात्कार होने पर इस अधिकारी पुरुष की अनादि अविद्या रचित बुद्धि में साक्षी का तादात्म्याध्यास, अत्यन्त दृढ़तावाला होने से हृदय की ग्रन्थि संज्ञा को भोगता है, सो गाँठ खुल (छुट) जाती है। क्या आत्मा साक्षी है? या कर्त्ता है? वह सबका साक्षी होवे, तो भी वह कदाचित् ब्रह्म है या कैसा? कदाचित् वह ब्रह्मरूप होता तो भी ब्रह्मरूप जाना जा सकता या नहीं? कदाचित् जाना जा सकता हो तो भी उसकी केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है या नहीं? इत्यादि संशय और प्रारब्ध कर्म को छोड़ कर भाविजन्म का हेतुभूत कर्म, यह सब अविद्या का कार्य होने से आत्मदर्शन से नष्ट हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही अर्थ प्रतीत होता है।

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यष्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥" इति।

ब्रह्मविदो भावः सत्ता स्वभाव आत्मा नाहंकृतोऽहंकारेण तादात्म्याध्यासादन्तर्नाऽऽच्छादितः। बुद्धिलेपः संशयः। तदभावे त्रैलोक्यवधेनापि न बध्यते किमुतान्येन कर्मणेत्यर्थः।

जिस ब्रह्मवित् पुरुष का सत्तास्वभाव आत्मा, अहङ्कार द्वारा अन्तर में तादात्म्याध्यास से आच्छादित नहीं और जिसकी बुद्धि संशयरूप लेप रहित—(निर्लेप) है। वह पुरुष इस लोक को अर्थात् तीनों लोकों का हनन कर भी नहीं हनन करता! और बन्धन को भी प्राप्त नहीं होता है।

नन्वेवं सति विविदिषासंन्यासफलेन तत्त्वज्ञानेनैवाऽऽगामिजन्मनो वारितत्वाद्वर्त्तमानजन्मशेषस्य भोगमन्तरेण विनाशयितुमशक्यत्वात् किमनेन विद्वत्संन्यास-

प्रयासेनेति चेत् । मैवम् । विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्ति-हेतुत्वात्, तस्माद्वेदनाय यथा विविदिषासंन्यास एवं जीवन्मुक्तये विद्वत्संन्यासः सम्पादनीयः ।

॥ इति विद्वत्संन्यासः ॥

शंका:—यदि ऐसा है तो, विविदिषा संन्यास के फलरूप तत्त्व-ज्ञानद्वारा ही आगामी (भविष्यत् में होनहार जन्म का वारण (रोक) हो सकता है और वर्तमान जन्म के अवशिष्ट कर्मों का भोग किये बिना नाश हो नहीं सकता, तब इस विद्वत्संन्यास के निमित्त परिश्रम किस लिये किया जावे ?

समाधान:—विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्तिरूप बड़े फल के लिये है। जैसे ज्ञान प्राप्ति के लिये विविदिषासंन्यास का ग्रहण करना आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन्मुक्ति के लिये विद्वत्संन्यास का सम्पादन करना योग्य है।

इस प्रकार विद्वत्संन्यास का निरूपण समाप्त हुआ।

अथ केयं जीवन्मुक्तिः, किंवा तत्र प्रमाणम्, कथं वा तत्सिद्धिः, सिद्ध्या वा किं प्रयोजनमिति चेत् ।

उच्यते । जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्व-सुखदुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति, तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः ।

जीवन्मुक्ति किसको कहते ? उसमें प्रमाण क्या है ? किस प्रकार इसकी सिद्धि हो सकती ? और किस प्रयोजन से उसकी सिद्धि की जाती ? इन ४ प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न का उत्तर—जीवित पुरुष को कर्त्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःखादि अन्तःकरण का धर्म क्लेशों का, उत्पादक होने से बन्धरूप होता है। इस क्लेशरूप चित्त के धर्म का जो निवारण है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।

नन्वयं बन्धः किं साक्षिणो निवार्यते, किंवा चित्तात् । नाऽऽद्यः, तत्त्वज्ञानेनैव निवारितत्वात् । न द्वितीयः,

असम्भवात् । यदा तु जलाद् द्रवत्वं निवार्येत, वह्नेर्वोष्णत्वं तदा चित्तात्कर्त्तृत्वादिनिवारणसम्भवः, स्वाभाविकत्वं तु सर्वत्र समानम् ।

शङ्का:—क्या तुम इस बन्धन को साक्षी से निवारण करते हो, या चित्त से दूर करते हो ? जो कहो कि साक्षी से निवारण किया जाता तो यह बात सम्भव नहीं । क्योंकि, विविदिषा संन्यास में ही तत्त्वज्ञान द्वारा पहिले ही साक्षी से भ्रान्तिसिद्ध बन्धन का निवारण किया है । यदि ऐसा कहो कि साक्षी से नहीं, किन्तु अन्तःकरण में से बन्धन का वारण किया जाता तो, वह बात भी नहीं बन सकती । क्योंकि कर्त्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःख, आदिक अन्तःकरण के स्वाभाविक धर्म हैं, अतएव, जो जल के द्रवत्वरूप धर्म का और अग्नि के उष्णत्वरूप धर्म का नाश किया जा सके तो अन्तःकरण में से कर्त्तापन आदिक धर्मों का वारण हो सकता । क्योंकि, स्वाभाविक धर्म का, धर्मी की स्थिति पर्य्यन्त नाश हो नहीं सकता और सब ही स्वाभाविक धर्म समान होते हैं अतएव अन्तःकरण का तो धर्म नष्ट होता है जलादिकों का नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते ।

मैवम् । आत्यन्तिकनिवारणासम्भवेऽप्यभिभवस्य सम्भवात् । यथा जलगतं द्रवत्वं मृत्तिकामेलनेनाभिभूयते, वह्नेरौष्ण्यं मणिमन्त्रादिना, तथा सर्वाश्चित्तवृत्तयो योगाभ्यासेनाभिभवितुं शक्यन्ते ।

समाधान—स्वाभाविक धर्म का निःशेषता से नाश नहीं हो सकता, यह बात यथार्थ है, परन्तु उसका अभिभव तिरोभाव करना अशक्य नहीं है। जैसे जल में का द्रवत्व (बहना) जल के साथ मिट्टी मिलाकर अटकाया जा सकता है, उसी प्रकार अग्नि में की उष्णता को मणि, (चन्द्रकान्त) मन्त्र, औषधि द्वारा रोक सकते हैं, इसी प्रकार योगाभ्यास से चित्त की सारी वृत्तियों का निरोध किया सकता है ।

ननु प्रारब्धं कर्म कृत्स्नाविद्यातत्कर्मनाशने प्रवृत्तस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धं कृत्वा स्वफलदानाय देहेन्द्रियादिकमवस्थापयति । नच सुखदुःखादि-

भोगश्चित्तवृत्तिं विना सम्पादयितुं शक्यते ततः कथमभिभवः ।

शङ्का:—प्रारब्धकर्म, कार्यसहित सारी अविद्या का क्षय करने के लिये प्रवृत्त हुए तत्त्वज्ञान को बाध कर (उसको होने से रोक कर) देह, इन्द्रियादिक को जागृत् रखता है, क्योंकि, चित्त की वृत्तियों के विना प्रारब्ध का फलरूप सुख दुःखादिकों का भोग हो नहीं सकता, अतएव योगाभ्यास द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का अभिभव (निरोध) कैसे हो सकता ?

मैवम् । अभिभवसाध्याया जीवन्मुक्तेरपि सुखातिशयरूपत्वेन प्रारब्धफल एवान्तर्भावात् ।

समाधानः—वृत्तियों के निरोध द्वारा साधने योग्य जीवन्मुक्ति, इस उत्तम प्रकार के सुख होने से अन्य सुखों के साथ इस सुख का प्रारब्ध कर्म के फल में ही अन्तर्भाव है ।

तर्हि कर्मैव जीवन्मुक्तिं सम्पादयिष्यति माभूत्पुरुषप्रयत्न इति चेत् ।

शङ्का:—जैसे प्रारब्ध कर्म ही प्रयास बिना योग्य समय में अपने सुखदुःखरूप फलों का जीव को भोगवाता है, उसी प्रकार वह जीवन्मुक्ति सुख को योग्य समय में जीव को देगा फिर उसके निमित्त परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है ?

कृषिवाणिज्यादावपि समानः पर्यनुयोगः । कर्मणः स्वयमदृष्टरूपस्य दृष्टसाधनसम्पत्तिमन्तरेण फलजननासमर्थत्वादपेक्षितः कृष्यादौ पुरुषप्रयत्न इति चेज्जीवन्मुक्तावपि समं समाधानम् ।

समाधानः—यह तुम्हारा प्रश्न केवल मेरे विरुद्ध सम्भव नहीं परन्तु अन्न पैदा करने के लिये जो किसान खेती करता और धन सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये जो व्यापारी लोग व्यापार करता उसके विरुद्ध भी घटता है । क्योंकि उसको भी अपने प्रारब्ध कर्म ही अन्नादि की प्राप्ति करा देगा । इस पर प्रारब्धवादी का उत्तरः—कर्म स्वयं अदृष्ट होने से दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष साधन सम्पत्ति के विना फल देने में

असमर्थ है। अतएव अन्नादि फल मिलने के निमित्त तो उसे कृषि आदि प्रत्यक्ष सामग्री की आवश्यकता है, तब जीवन्मुक्ति के लिये भी प्रयास करना निष्प्रयोजन नहीं है।

सत्यपि पुरुषप्रयत्ने कृष्यादेः फलपर्यवसानं यत्र न दृश्यते तत्र प्रबलेन कर्मान्तरेण प्रतिबन्धः कल्पनीयः। तच्च प्रबलं कर्म स्वानुकूलवृष्ट्यभावादिरूपां दृष्टसामग्रीं सम्पाद्यैव प्रतिबध्नाति। स च प्रतिबन्धो विरोधिना प्रबलतरेणोत्तम्भकेन कारीरीष्ट्यादिरूपेण कर्मणाऽपनीयते। तच्च कर्म स्वानुकूलां वृष्टिलक्षणां दृष्टसामग्रीं सम्पाद्यैव प्रतिबन्धमपनयति। किं बहुना प्रारब्धकर्मण्येवात्यन्तभक्तेन भवता योऽभ्यासरूपस्य पुरुषप्रयत्नस्य वैयर्थ्यं मनसाऽपि चिन्तयितुमशक्यम्।

प्रारब्धवादी के प्रति सिद्धान्ती का कथन है:—कर्म अदृष्ट होने से जीवन्मुक्ति सुख भी दृष्टसामग्री विना प्राप्त हो सकता है ऐसा नहीं है। किसी-किसी समय कृषि आदि कर्म का फल जब नहीं दीख पड़ता है तब वर्तमान पुरुषार्थ करने से किसी अन्य प्रबलतर कर्म द्वारा फल के प्रतिबन्ध की कल्पना करनी चाहिए, वह अधिक बलवान् प्रतिबन्धक कर्म भी दृष्ट सामग्री बिना अन्नादि फल के प्रतिबन्ध करने में समर्थ नहीं होता है, परन्तु अपने अनुकूल वृष्टि के अभाव रूप दृष्ट सामग्री द्वारा ही प्रतिबन्ध करता है। वह प्रतिबन्ध भी अपने विरोधी अतिप्रबल 'कारीरी इष्टि'[1] आदि उत्तम्भक का (प्रतिबन्धक का प्रतिबन्धक) कर्मद्वारा नष्ट होता है। वह स्वयं ही प्रतिबन्धक का निवारण न कर वृष्टि आदि दृष्ट सामग्री द्वारा निवारण करता है। इसी प्रकार हे प्रारब्धवादिन्! जो श्रेष्ठप्रारब्ध, जीवन्मुक्ति सुख का हेतु है, वह साक्षात् उस सुख को नहीं उत्पन्न कर योगाभ्यासरूप पुरुषप्रयत्न के द्वारा उत्पन्न करता हैं। अतएव तुम या जो प्रारब्ध का

---

१. पानी जब नहीं बरसता है, उस समय लोग इस यज्ञ को पानी बरसाने के लिए करते हैं। यह एक प्रकार का यज्ञविशेष है, "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः" यह वचन उपलब्ध है।

अत्यन्त भक्त है, उनको योगाभ्यासरूप पुरुषार्थ की निष्फलता की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

अथ वा प्रारब्धं कर्म यथा तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु । तथा च योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते ।

अथवा तुम्हारे अभिप्रायानुसार प्रारब्ध कर्म जैसे तत्त्वज्ञान से प्रबल है उसी प्रकार प्रारब्धकर्म से योगाभ्यास अधिक बलवान् है, ऐसा हम कहते हैं। इसीलिये उद्दालक, वीतहव्यादि योगी महात्माओं के द्वारा अपनी इच्छा से ही देहत्याग उत्पन्न होता है।

यद्यल्पायुषामस्माकं तादृशो योगो न सम्भवति तदा कामादिरूपचित्तवृत्तिनिरोधमात्रे योगे को नाम प्रयासः। यदि शास्त्रीयस्य प्रयत्नस्य प्राबल्यं नाङ्गीक्रियते तदा चिकित्सामारभ्य मोक्षशास्त्रपर्यन्तानां सर्वेषामानर्थक्यं प्रसज्येत। नहि कदाचित् कर्मफलविसम्वादमात्रेण दौर्बल्यमापादयितुं शक्यम् । अन्यथा कादाचित्कं पराजयं दृष्ट्वा सर्वैर्भूपैर्गजाश्वादिसेनोपेक्ष्येत। अतएवाऽऽनन्दबोधाचार्या आहुः।

हमलोगों की आयु थोड़ी होती है अतएव जैसे उद्दालक आदि महात्माओं ने योगाभ्यास किया था उसी तरह योग करने का सामर्थ्य हमलोगों में नहीं है। तथापि काम आदि चित्तवृत्तियों के निरोधरूप योगसाधन में कौन बड़ा परिश्रम है? यदि शास्त्रीय पुरुषार्थ को प्रारब्धकर्म से अधिक बलवान् नहीं मानते हैं, तो वैद्यक शास्त्र से लेकर मोक्ष शास्त्र तक, लौकिक अलौकिक सुखों की प्राप्ति के साधनों के प्रतिपादन करनेवाले सभी शास्त्र व्यर्थ हो जावेंगे। एकबार यदि पुरुषार्थ का फल न हो तो उस पर से सारे पुरुषार्थ के ऊपर दुर्बलतारूप दोष को आरोपित करना यह विवेकी पुरुष की दृष्टि से किसी प्रकार ठीक नहीं। एकवार पुरुषार्थ निष्फल हो जाने से सदैव उसकी निष्फलता ही गिनी जावे तो कोई राजा शत्रु से पराजित होने

पर, उसको सैन्य आदि सम्पूर्ण युद्ध सामग्रियों का त्याग ही कर देना चाहिये, परन्तु अब तक किसी राजा ने ऐसा नहीं किया है और ऐसा होना सम्भव भी नहीं। इसीलिये आनन्दबोधाचार्य ने कहा है।

"न ह्यजीर्णभयादाहारपरित्यागः, भिक्षुकभयाद्वा स्थाल्यनधिश्रणम् , यूकाभयाद्वा प्रावरणपरित्यागः" इति।

शास्त्रीयप्रयत्नस्य प्राबल्यं वसिष्ठरामसंवादे विस्पष्टमवगम्यते "सर्वमेव हि सदे"त्यारभ्य "तदनु तदप्यवमुच्य साधुतिष्ठे"त्यन्तेन ग्रन्थेन।

अजीर्ण के भय से कोई आहार को नहीं छोड़ता है, भिक्षुक के भय से कोई भोजन न बनाये, ऐसा नहीं होता है, या जूँ के डर से कोई कपड़ा न पहने ऐसा नहीं होता है। शास्त्रीय पुरुषार्थ की प्रबलता श्रीयोगवासिष्ठ रामायण के अन्तर्गत श्रीवसिष्ठ और श्रीराम के सम्वाद से स्पष्ट जानी जाती है, श्रीवसिष्ठजी ने कहा है।

"सर्वमेव हि सदा संसारे रघुनन्दन।
सम्यक् प्रयत्नात् सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते॥"

सर्वं पुत्रवित्तस्वर्गलोकब्रह्मलोकादिफलम् , पौरुषं पुत्रकामेष्टिकृषिवाणिज्यज्योतिष्टोमब्रह्मोपासनालक्षणः पुरुषप्रयत्नः।

हे रघुनन्दन ! इस संसार में शास्त्रानुकूल आचरितपुत्रकामेष्टि, कृषि, वाणिज्य, ज्योतिष्टोम, ब्रह्मोपासना आदि पुरुषार्थ द्वारा, पुत्र, धन, स्वर्ग मोक्ष आदि सभी फलों को पा सकते हैं।

"उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥"

उच्छास्त्रं—परद्रव्यापहारपरस्त्रीगमनादि, शास्त्रितं नित्यनैमित्तिकानुष्ठानादि, अनर्थः नरकः, अर्थेषु स्वर्गादिषु परमो मोक्षः परमार्थः।

दूसरे के पदार्थ को हर लेना, परस्त्रीगमन आदि अशास्त्रीय पुरुषार्थ और नित्य नैमित्तिक आदि सत्कर्मों का अनुष्ठानरूप शास्त्र-विहित पुरुषार्थ, इस प्रकार दो प्रकार के पुरुषार्थ हैं। इनमें से अशास्त्रीय पुरुषार्थ नरकादि अनर्थ फल का हेतु है और शास्त्रीय सत्कर्माचरणरूप पुरुषार्थ परमार्थ के लिये है।

"आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन सोऽर्थः सम्पाद्यते हितः ॥"

अलं सम्पूर्णं सम्यगित्यर्थः । गुणैर्युक्तेनेत्यध्याहारः । हितः श्रेयः श्रेयोरूपः । श्रीरामः ।

बाल्यावस्था से ही यथाविधि सत्शास्त्रों का श्रवण, सत्समागम, आदि शुभ गुण युक्त पुरुषार्थ से श्रेयरूप फल सम्पादन किया जा सकता है। अनन्तर श्रीरामजी ने प्रश्न किया।

"प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा ।
मुने ! तथैव तिष्ठामि कृपणः किं करोम्यहम् ॥" इति ।
वासना धर्माधर्मरूपा जीवगतसंस्काराः ।

धर्म अधर्मरूप जीवगतसंस्कार ही वासना नाम से प्रसिद्ध हैं, वे जिस प्रकार मुझको प्रेरणा करते हैं, उसी प्रकार मैं रहता हूँ। हे मुने ! मैं दीन स्वतन्त्रता से क्या कर सकता हूँ ?

वसिष्ठः—
"अत एव हि हे राम ! श्रेयः प्राप्नोषि शाश्वतम् ।
स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नान्यथा ॥"

यतो वासनापरतन्त्रो भवानत एव हि पारतन्त्र्यनिवारणाय स्वोत्साहसम्पादितो मनोवाक्कायजन्यः पुरुषव्यापारोऽपेक्षितः ।

तुम वासना के वशीभूत हो, इसीलिए राम ! परतन्त्रता से मुक्त होने के लिये स्वयं उत्साहपूर्वक सिद्ध मन, वाणी और शरीरजन्य पुरुषार्थ द्वारा मोक्षरूप अविनाशी सुख को प्राप्त करोगे।

"द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभश्च ते ।
प्राक्तनो विद्यते राम द्वयोरेकतरोऽथ वा ॥"

किं धर्माधर्मावुभावपि त्वां नियोजयत उतैकतर इति विकल्पः । एकतरपक्षेऽपि शुभोऽशुभो वेत्यर्थात्सिद्धो विकल्पः ।

शुभ और अशुभ इन दो प्रकार की वासनाओं का समूह तुममें है, और वे दोनों तुमको प्रेरित करते हैं। दोनों तो एक साथ प्रेरणा करते नहीं किन्तु एक प्रेरणा करता है तो, क्या शुभवासना समूह प्रेरणा करता या अशुभवासनासमूह प्रेरणा करता है ?

"वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदपनीयसे ।
तत्क्रमेणाऽऽशु तेनैव पदं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥"

तत्र तेषु पक्षेषु । ततस्तर्हि तेनैव क्रमेण शुभवासनाप्रापितेनैवाऽऽचरणेन प्रयत्नान्तरनिरपेक्षेण शाश्वतं पदं मोक्षम् ।

उनमें से यदि शुभवासना समूह तुमको प्रेरणा करती है तो, उस शुभवासना की प्रेरणा से प्राप्त शुभाचरण द्वारा ही क्रमशः तुम शाश्वत पद—(मोक्ष) पाओगे।

"अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति सङ्कटे ।
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता स्वयम् ॥"

भावो वासना । तत्तर्हि यत्नोऽशुभविरोधिशास्त्रीयधर्मानुष्ठानं तेन स्वयं जेतव्यः न तु युद्धे मृत्युमुखेनेव पुरुषान्तरमुखेन जेतुं शक्यः ।

और यदि अशुभ की वासना तुमको संकट में जो डालती है, अर्थात् अशुभ कार्य करवाती है तो अशुभवासना को विरोधी शुभवासनारूप शास्त्रीय धर्मों के अनुष्ठान द्वारा उनको तुम जीत सकते हो।

"शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥"

उभयपक्षे तु शुभभागस्य प्रयत्ननैरपेक्ष्येऽप्यशुभभागं शास्त्रीयप्रयत्नेन निवार्य शुभमेव तस्य स्थाने समाचरेत् ।

वासनारूप नदी की दो धारायें बहा करती हैं, एक शुभ मार्ग से दूसरी अशुभ मार्ग से । इनमें से अशुभ वासना की धारा को पुरुष प्रयत्न द्वारा शुभमार्ग में लगावे, अर्थात् अशुभवासनारूप अधर्माचरण को त्यागकर उसकी जगह शास्त्रीय प्रयत्न द्वारा सद्धर्माचरण करे ।

"अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥"

अशुभेषु परस्त्रीद्रव्यादिषु । शुभेषु शास्त्रार्थदेवताध्यानादिषु । पुरुषार्थेन पुरुषप्रयत्नेन, प्रबलेन ।

हे बलवान् में श्रेष्ठ रामचन्द्र ! परस्त्री पर द्रव्यादि में लिप्त हुए अपने मन को प्रबल पुरुष प्रयत्न द्वारा हटाकर शुभमार्ग में—शास्त्र चिन्तन और इष्ट देवता के ध्यानादि में स्थापन करे ।

"अशुभाचालितं याति शुभं तस्मादपीतरत् ।
जन्तोश्चित्तं तु शिशुवत्तस्मात्तच्चालयेद्बलात् ॥

यथा शिशुर्मृद्भक्षणान्निवार्य फलभक्षणे भोज्यते मणिमुक्ताकर्षणान्निवार्य कन्दुकाद्याकर्षणे योज्यते तथा चित्तमपि सत्सङ्गेन दुःसङ्गात्तद्विपरीतविषयान्निवारयितुं शक्यम् ।

जीवों का शिशु तुल्य चित्त अशुभ में रुककर शुभ में जाता है और शुभ में से अशुभ में प्रवेश करता है, अतएव उसको बलपूर्वक अशुभाचरणसे रोको । जैसे कोई बालक मिट्टी खाता है तो उसके हाथ में फल देकर उसको मिट्टी खाने से रोका जा सकता है और मणि, मुक्ता फल आदिक मूल्यवान् पदार्थ को लेकर खेलनेवाले बालक के हाथ में उनका नाश होते देखकर गेन्द वगैरह देकर उसके पास से मणि आदि पदार्थ लिया जा सकता है । इसी प्रकार चित्त रूपी बालक को भी सत्सङ्ग द्वारा दुःसङ्ग से रोककर विपरीत आचरणों से बचा सकते हो ।

"समतासान्त्वनेनाऽऽशु न द्रागिति शनैः शनैः ।
पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम् ॥"

चपलस्य पशोर्बन्धस्थाने प्रवेशनाय द्वावुपायौ भवतः । हरिततृणप्रदर्शनं कण्डूयनादिकम् , वाक्पारुष्यं दण्डादिभर्त्सनं चेति । तत्राऽऽद्येन सहसा प्रवेश्यते, द्वितीयेनेतस्ततो धावन् शनैः शनैः प्रवेश्यते । तथा शत्रुमित्रादिसमत्वं सुखबोधनम् , प्राणायाम-प्रत्याहारादिपुरुषप्रयत्नश्चेत्येतौ द्वौ चित्तशान्त्युपायौ । तत्राऽऽद्येन मृदुयोगेन शीघ्रं लालयेत् । द्वितीयेन हठयोगेन द्रागिति न लालयेत् । किन्तु शनैः शनैः ।

शत्रुमित्रादि में समतारूप सान्त्वन द्वारा चित्तनामका बालक शीघ्र वश में हो जाता है और अन्य उपाय द्वारा वश में नहीं होता है किन्तु धीरे-धीरे वश में होता है । जैसे चञ्चल पशु को गोशाला में बन्धनार्थ ले जाने के दो उपाय होते हैं । एक तो हरी घास उसके आगे रखकर जाना उसके शरीर को खुजलाना आदि और दूसरा उसको कठोर वचन बोलना और दण्ड द्वारा ताडन करना इत्यादि । इन दोनों में से प्रथम उपाय द्वारा वह पशु शीघ्र अपने स्थान में प्रवेश करता है और दूसरे उपाय से इधर-उधर दौड़ता भटकता हुआ बड़े परिश्रम से प्रवेश करता है । उसी प्रकार चित्तरूपी पशु को अपने अधीन करने के भी दो उपाय हैं । एक तो शत्रुमित्रादि में समभाव रखना इत्यादि मृदु उपाय और दूसरा प्राणायामादि कठिन उपाय है इनमें से मृदु उपाय द्वारा शीघ्र वश में होता है और दूसरा हठयोग के द्वारा शीघ्र वश में न होकर धीरे-धीरे बहुत समय में वश में होता है ।

"द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् ।
तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥"

मृदुयोगाभ्यासाच्छीघ्रमेव स द्वासनोदये सति साफल्यमभ्यासस्य वक्तव्यं नत्वल्पकालत्वेनासम्भावना शङ्कनीया ।

मृदुयोगाभ्यासद्वारा जब तुम्हारे चित्त में शुभ वासना सहज रूप से उदय पाये, हे शत्रुमर्दन ! तब तुम्हारा अभ्यास सफल हुआ, ऐसा जानो । 'थोड़े समय में कर्म सिद्ध हुआ ?' ऐसी शङ्का से सद्वासना की सिद्धि की असम्भावना तुम्हें न करनी चाहिये ।

"सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर । शुभवासनाऽभ्यस्यमाना सम्पूर्णा न वेति सन्देहस्तदाऽपि शुभामभ्यसेदेव । तद्यथा सहस्रजपे प्रवृत्तस्य दशमीशतसंख्या यदा सन्दिग्धा तदा पुनरपि शतं जपेत् । असम्पूर्णौ सम्पूर्त्तिः फलिष्यति, सम्पूर्यौ च तद्वृद्ध्या न सहस्रजपो दुष्यति तद्वत् ।

शुभ वासना के अभ्यास की सिद्धि होगी या नहीं इस प्रकार का सन्देह अपने अन्तःकरण में होने पर भी सद्वासना का ही अभ्यास करे, जैसे सहस्र (हजार) जप में प्रवृत्त" हुए पुरुष को सैंकड़े में यदि सन्देह हो (कि ९०० जपे या १००० पूरा हुआ ?) तो सौ मन्त्र फिर जपे । इससे जो हजार जप में कमी हुई होगी तो उसकी पूर्ति होगी और जो हजार जप से अधिक हुआ, तो इससे सहस्रजप दूषित न होगा । उसी प्रकार सद्वासना के अधिक अभ्यास करने से कोई हानि नहीं, किन्तु सद्वासना की दृढ़ता ही होती है ।

"अव्युत्पन्नमना यावद् भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥
ततः यक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निरोधिना ॥
यदति शुभगमार्यसेवितं त-
च्छुभमनुसृत्य मनोज्ञभावबुद्ध्या ।
अधिगमय पदं यदद्वितीयं
तदनु तदप्यवमुच्य साधु तिष्ठ ॥" इति ।

स्पष्टोऽर्थः । तस्माद्योगाभ्यासेन कामाद्यभिभवसम्भवाज्जीवन्मुक्तौ न विवदितव्यम् ।

इति जीवन्मुक्तिस्वरूपम् ।

जब तक तुमको बोध का उदय होकर परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार न हो तब तक गुरु और शास्त्र प्रमाण द्वारा निर्णीत शुभ-वासना का अभ्यास करो। उसको करने से तुम या जिसके अन्तःकरण का मल नाश हो गया है, और जिसको आत्मसाक्षात्कार हुआ है, उनको सब वृत्तियों के निरोध के अभ्यास में प्रवृत्त रहकर शुभवासना को भी त्यागना उचित है। यह अतिशय शुभ फल देनेवाला और आर्य्यों से सेवित है, इस शुभाचरण के अनुष्ठान के द्वारा बुद्धि की शुद्धि से उस अद्वितीय पद को तुम प्राप्त करो। उस शुभ अभ्यास का भी अनन्तर परित्याग कर भलीभाँति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहो।

इस प्रकार योगाभ्यास से कामादिवृत्तियोंका निरोध होना सम्भव है। अतएव जीवन्मुक्ति में विवाद करना उचित नहीं।

जीवन्मुक्तिस्वरूप का निरूपण समाप्त हुआ।

जीवन्मुक्तिलक्षणप्रकरणम्

श्रुतिस्मृतिवाक्यानि जीवन्मुक्तिसद्भावे प्रमाणानि। तानि च कठवल्ल्यादिषु पठ्यन्ते—विमुक्तश्च विमुच्यते" इति। जीवन्नेव दृष्टबन्धात् कामादेर्विशेषेण मुक्तः सन् देहपाते भाविबन्धाद्विशेषेण मुच्यते। वेदनात्प्रागपि शमदमादिसम्पादनेन कामादिभ्यो मुच्यत एव, तथाऽव्युत्पन्नानां कामादीनां तत्र प्रयत्नेन निरोधः। अत्र तु धीवृत्त्यभावादनुत्पत्तिरेव ततो विशेषेणेत्युच्यते। तथा प्रलये देहपाते सति कश्चित्कालं भाविदेहबन्धान्मुच्यते। अत्र त्वात्यन्तिको मोक्ष इत्यभिप्रेत्य विशेषेणेत्युक्तम्। बृहदारण्यके पठ्यते।

जीवन्मुक्ति के सद्भाव में श्रुति और स्मृतियों के प्रमाण हैं।—(विमुक्तश्च०) प्रमाण कठवल्ली आदि उपनिषदों में पढ़े हैं।

जीवित ही दशा में काम आदि प्रत्यक्षबन्धनों से मुक्त होने पर देहत्याग के अनन्त भावी (होनेवाले) बन्धनों से भी विशेषकर मुक्त

होता है। यद्यपि ज्ञान होने के पूर्व भी शम दमादि साधनों का सम्पादनकर मुमुक्षु अधिकारी कामादि से मुक्त होता है, तथापि उसको एक समय प्रयत्नपूर्वक निरोध करना पड़ता है और जीवन्मुक्त दशा में तो अन्तःकरण की वृत्तियों के अभाव से कामादि वृत्तियों के उदय होने में असमर्थ रहती हैं, अतएव 'विशेषकर मुक्त होता है' ऐसा श्रुति कहती है। प्रलयकाल में देह पात के अनन्तर अमुक काल पर्य्यन्त भावि देहरूप बन्धन से मुक्त रहता है, और विदेह मुक्ति पीछे तो आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतएव श्रुति में 'विमुच्यते' (विशेष कर मुक्त होता है) ऐसा कहा गया है।

बृहदारण्यक में लिखा है कि—

"यदा सर्वे प्रमुच्यते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥"

श्रुत्यन्तरेऽपि —

"स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव" इति ।

एव मन्यत्राप्युदाहार्यम् । स्मृतिषु जीवन्मुक्त-स्थितप्रज्ञ-भगवद्भक्त-गुणातीत-ब्राह्मणाऽतिवर्णाश्रमा-दिनामभिस्तत्र तत्र व्यवह्रियते । वसिष्ठरामसम्वादे "नृणां ज्ञानैकनिष्ठानाम्" इत्यारम्भ "सत्किञ्चिदव-शिष्य" इत्यन्तेन ग्रन्थेन जीवन्मुक्तः पठ्यते। वसिष्ठः—

जब इस अधिकारी पुरुष के हृदय में स्थित सब कामनायें निवृत्त हो जाती हैं, उस समय यह जीव (पूर्व-अज्ञ अवस्था में मरणधर्म-वाला रहता है,) अमृत नाम मरण रहित हो जाता है और जीवित ही दशा में ब्रह्म को प्राप्त होता है अन्य श्रुति में भी कहा है। नेत्र-वाला होकर नेत्रहीन के समान कर्ण इन्द्रियवाला होकर कर्णहीन के समान मनवाला होकर मनहीन के समान (जीवन्मुक्त पुरुष हो जाता है) अर्थात् उसकी वृत्तियाँ इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का अनुसन्धान नहीं करतीं, अतः वह इन्द्रियवाला होने पर भी इन्द्रिय रहित सा प्रतीत होता है। इससे अतिरिक्त अन्य श्रुतियाँ भी दृष्टान्तरूप में कही जा सकती है। स्मृतियों में जीवन्मुक्त पुरुष को

जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, गुणातीत, ब्राह्मण और अतिवर्णाश्रमी आदि विविध संज्ञाओं से कहा जाता है। योगवासिष्ठ में वसिष्ठ राम के सम्बाद में 'नृणां ज्ञानै०" से लेकर 'सत्किञ्चि०" इस श्लोक तक जीवन्मुक्त की अवस्था का वर्णन किया है। वसिष्ठ जो ने कहा—

"नृणां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहोन्मुक्ततेव या ॥"

ज्ञानैकनिष्ठत्वं लौकिकवैदिककर्मत्यागः । देहेन्द्रियसदसद्भावमात्रेण मुक्तिद्वयस्य विशेषो न त्वनुभवतः । द्वैतप्रतीतेरुभयत्राभावात् । श्रीरामः—

लौकिक, वैदिक कर्मों का त्यागपूर्वक केवल ज्ञाननिष्ठ और आत्मविचार परायण पुरुष को जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है यह विदेहमुक्त दशा के समान है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की अवस्था में अनुभव में कोई भेद नहीं रहता है, किन्तु जीवन्मुक्त व्यक्ति का अन्य को दृष्टि में देह इन्द्रिय आदि विद्यमान रहते हैं और विदेहमुक्त अवस्था में देह इन्द्रिय अविद्यमान रहते हैं, अर्थात् उनको क्रियाओं से उनके शरीर और इन्द्रिय के सद्भाव को प्रतीति नहीं होती है। अनुभूति में कोई भेद नहीं रहता है। दोनों हो अवस्थाओं में द्वैत की प्रतीति का अभाव रहता है।

श्रीरामजी ने कहा—

"ब्रह्मन् विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
ब्रूहि येन तथैवाऽहं यते शास्त्रगमा दृशा ॥"

हे ब्रह्मन् ! विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त का लक्षण कहें। जिसको सुनकर शास्त्र से प्राप्त ज्ञान द्वारा उस पद की प्राप्ति के लिये मैं यत्न करूँ।

वसिष्ठः—

"यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते ॥"

इदं प्रतीयमानं गिरिनदीसमुद्रादिकं जगत्प्रतिपत्तुर्देहेन्द्रियव्यवहारेण सह महाप्रलये परमेश्वरेणोपसंहृतं सत्स्वरूपोपमर्देनास्तं गतं भवति, अत्र तु न तथा, किन्तु विद्यत एव देहेन्द्रियादिव्यवहारः। गिरिनद्यादिकं चेश्वरेणानुपसंहृतत्वाद्यथापूर्वमवतिष्ठमानं सत्सर्वैरन्यैः प्राणिभिर्विस्पष्टमवलोक्यते । जीवन्मुक्तस्य तत्प्रत्यायकवृत्त्यभावात् सुषुप्ताविव सर्वमस्तं गतं भवति । स्वयंप्रकाशमानं चिद्व्योमकेवलमवशिष्यते । बद्धस्य सुषुप्तौ तात्कालिकवृत्त्यभावसाम्येऽपि भाविधीबीजसद्भावान्न जीवन्मुक्तत्वम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—देह एवं इन्द्रिय के द्वारा व्यवहार करनेपर भी जीवन्मुक्त को यह नामरूपात्मक जगत् समान रूप में होने पर भी वह नष्ट हो जाने के समान केवल चिदाकाश के रूप में ही भासमान होता है। जगत् की प्रतीति नहीं होती हैं उसको जीवन्मुक्त कहते हैं।

यह प्रतीयमान पर्वत, नदी, समुद्रादि अनेक पदार्थों का समुदायात्मक जगत् जिस भाँति प्रलय समय में उसको जानने वाले जीव के देहेन्द्रियादि के साथ नष्ट हो जाते हैं अर्थात् वह स्वरूप नहीं रहता है, उसी तरह जीवन्मुक्त दशा में नहीं रहता है। किन्तु देह इन्द्रिय आदि का व्यवहार रहता ही है तथा नामरूप जगत् भी ईश्वर द्वारा नष्ट न होने से उनको अन्य प्राणिगण स्पष्ट देखते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष को जगत् की प्रतीति करानेवाली वृत्तियों का अभाव होने से सुषुप्ति के तुल्य अस्त गत जगत् रहता है। उसके केवल स्वयंप्रकाश चिदाकाश ही स्थित है। तात्कालिक वृत्तियों का अभाव सुषुप्ति दशा में बद्धजीवों को भी होता है परन्तु सुषुप्ति के बाद उदय होने वाली वृत्तियों का बीज सुषुप्ति में विद्यमान होनेसे बद्ध पुरुष की गणना जीवन्मुक्त में नहीं होती है।

"नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखैर्मुखप्रभा ।
यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥"

मुखप्रभा हर्षः। स्रक्चन्दनसत्कारादिसुखे प्राप्ते

ऽपि संसारिण इव हर्षो नोदेति। मुखप्रभास्तमयो दैन्यम्। धनहानिधिक्कारादिदुःखे प्राप्तेऽपि न दीनो भवति। इदानीं तनस्वप्रयत्नविशेषमन्तरेण प्रारब्धकर्मापादितपूर्वप्रवाहागतभिक्षान्नादिकं यथाप्तं तस्मिन् स्थितिर्देहरक्षा। समाधिदार्ढ्येन स्रक्चन्दनादिप्रतीत्यभावात्। कदाचिद्व्युत्थानदशायामापाततः प्रतीतावपि विवेकदार्ढ्येनैव हेयोपादेयत्वबुद्ध्यभावाद्धर्षादिराहित्यमुपपद्यते।

सुखदु:ख के कारण जिसके मुखपर हर्ष विषाद के चिह्न प्रतीत न हों और सहज पदार्थों के ऊपर जिसकी स्थिति होती है, उसको जीवन्मुक्त कहा जाता है। 'मुखप्रभा' अर्थात् हर्ष, स्रक्, चन्दन सत्कार आदि अनुकल पदार्थों की प्राप्ति से संसारी जीवों के समान जिसके चित्त में हर्ष का उदय नहीं होता है तथा धनहानि, धिक्कार आदि दु:ख से साधन की प्राप्ति होने पर भी जिसके मुख पर दीनता का चिह्न प्रतीत नहीं होता तथा वर्तमान शरीर द्वारा प्रयत्न किये बिना प्रारब्ध द्वारा प्राप्त भिक्षान्न आदि पर जिसके शरीरका निर्वाह होता है वह जीवनमुक्त पुरुष है। इस पुरुष को समाधि में वृत्तियोंका अभाव होने से कोई श्रद्धावान् पुरुष उसका अर्चन करे तो भी उसका उसको भान नहीं होता है और समाधि से भिन्न व्युत्थान काल में उसको भान होने पर भी उस अनुभूति में भी सुदृढ़ विवेक रहने से किसी भी वस्तु में हेय या उपादेय ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, अतः हर्ष विषाद से रहित समभाव की स्थिति बनी रहती है।

"यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते॥"

चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वस्वगोलकेष्ववस्थानेनोपरत्यभावाज्जागर्ति। मनोवृत्तिरहितत्वात्सुषुप्तिस्थः। अत एवेन्द्रियैरर्थोपलब्धिरित्येतस्य जागरणलक्षणस्याभावाज्जाग्रन्न विद्यते। सत्यपि बोधे जायमानो

ब्रह्मवित्त्वाभिमानादिर्भोगार्थोपादितकामादिश्च धीदोषः वासना वृत्तिराहित्येन तद्दोषाभावान्निर्वासनत्वम् ।

जो जाग्रत् अवस्था में रहता हुआ सुषप्ति में स्थित है, जिसकी जाग्रत् अवस्था नहीं रहती है तथा जिसका वासना रहित ज्ञान रहता है, उसको जीवन्मुक्त पुरुष कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने गोलकों में स्थित होनेसे वह जाग्रत् अवस्था का अनुभव करता है, तथापि मन वृत्ति रहित होनेसे सुषुप्ति में स्थित रहता है, अतः इन्द्रियों द्वारा विषयों का ज्ञानरूप जाग्रत् अवस्था का अभाव रहता हैं। ब्रह्मवित् होने पर भी ब्रह्मवित् के अभिमानादि, विषयभोग निमित्त उत्पन्न कामादि के द्वारा अन्तःकरण के दोषों की वासना वृत्तियों के रहित होने से उसके दोष की शून्यता से जिसको वासना-रहित ज्ञान रहता है उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है।

"रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥"

रागानुरूप्यं भोजनादिप्रवृत्तिः । द्वेषानुरूप्यं बौद्धकापालिकादिभ्यो विमुखत्वम् । भयानुरूप्यं सर्पव्याघ्रादिभ्योऽपसर्पणम् । आदिशब्देन मात्सर्यादि । मात्सर्यानुरूपमितरयोगिभ्य आधिक्येन समाध्याद्यनुष्ठानम् । सत्यपि व्युत्थानदशायामीदृश आचरणे पूर्वाभ्यासेन प्रापिते विश्रान्तचित्तस्य कालुष्यरहितत्वादन्तःस्वच्छत्वम् । यथा व्योम्नि धूमधूलिमेघादियुक्तेऽपि निर्लेपस्वभावत्वादतिशयेन स्वच्छत्वं तद्वत् ।

राग, द्वेष, भय आदि के अनुकूल व्यवहार करने पर भी जो अन्तर में आकाश के समान अत्यन्त निर्मल है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

भोजनादि में प्रवृत्ति यह राग की अनुकूलता है, बौद्ध कापालिक आदि से विमुखता यह द्वेष की अनुकूलता है, सर्प, व्याघ्रादि से डर कर भागना यह भय की अनुकूलता है। आदिशब्द से मात्सर्यादि को लेना चाहिये। एक योगी का दूसरे योगी से अधिकतर समाधि

आदि का अनुष्ठान करना यह मात्सर्य की अनुकूलता हैं। विश्रान्त-चित्त वाले पुरुष को, व्युत्थान अवस्था में बहुत दिनों के पहले के अभ्यास के कारण ऐसा आचरण प्राप्त होने पर भी जैसे आकाश, धूम, धूलि, मेघ आदि से आच्छन्न होने पर भी अपने निर्लेप स्वभाव से स्वच्छ रहता है इसी प्रकार उसका अन्तःकरण रागादि मल से रहित होने से अत्यन्त निर्मल रहता है।

"यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते॥"

पूर्वार्द्धं विद्वत्संन्यासप्रस्तावे व्याख्यातम्।

लोके बद्धस्य पुरुषस्य शास्त्रीयकर्म कुर्वतोऽहं कर्तेति तदा चिदात्माऽहंकृतो भवति। स्वर्गं प्राप्स्यामीति हर्षेण बुद्धिर्लिप्यते। अकुर्वतस्तु त्यक्तवानस्मीत्यहंकृतत्वम्। स्वर्गालाभविषादादिर्लेपः। एवं प्रतिषिद्धकर्मणि लौकिककर्मणि च यथासम्भवं योजनीयम्। जीवन्मुक्तस्य तु तादात्म्याध्यासाभावाद्धर्षाद्यभावाच्च न दोषद्वयम्।

विहित (कर्तव्य) या प्रतिषिद्ध (अकर्त्तव्य) कर्मों के करने पर भी जिसकी आत्मा अहङ्कार के साथ तादात्म्य के अध्याय से आच्छादित नहीं रहता है और जिसकी बुद्धि हर्ष विषादादि लेप से रहित है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं।

लोक में बद्ध पुरुष शास्त्रीय कर्म करता है, उस समय "मैं इस कर्म का कर्त्ता हूँ" इस प्रकार उसके भीतर अहङ्कार उत्पन्न होता है तथा "मैं स्वर्गसुख को पाऊँगा, ऐसे हर्ष का सम्बन्ध भी प्राप्त होता है। जिस समय शास्त्रीय कर्म नहीं करता है उस समय "मैंने सत्कर्मों का त्याग किया" ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है और 'अरे अब मुझे स्वर्गसुख प्राप्त नहीं होगा' इस प्रकार की अनुभूति से विषाद को प्राप्त होता है। इस तरह निषिद्ध और लौकिक कर्मोंके सम्बन्ध में भी यथायोग्य योजना कर लेनी चाहिए। जीवन्मुक्तपुरुष को तो अहंकार के साथ तादात्म्याभ्यास न होने से हर्षादि दोष के अभाव के कारण उसमें पूर्वोक्त दोनों दोष उत्पन्न नहीं होते हैं।

"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥"

अधिक्षेपताडनादावप्रवृत्तादेतस्माल्लोको नोद्विजते । अत एवैतस्मिँल्लोकस्याधिक्षेपाद्यप्रवृत्तेः कस्यचिद्दुष्टस्य तत्प्रवृत्तावप्येतच्चित्ते तादृशविकल्पानुदयाच्चायमपि नोद्विजते ।

जिस तत्ववेत्ता पुरुष से कोई भी प्राणी कष्ट को प्राप्त नहीं करता है और बिना अपराध दुःख देनेवाले प्राणियों से जो दुःख को नहीं पाता है और जिसने हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग इन चारों का परित्याग कर दिया है उसे जीवन्मुक्त कहते हैं ।

स्वयं अन्य व्यक्तियों के धिक्कार, ताडनादि में प्रवृत्त न होने से, अन्यलोग इस तत्ववेत्ता पुरुष से भय नहीं करते हैं। इसीलिये लोगों की ताडनादि ऐसे पुरुष पर नहीं होती है, कदाचित् किसी दुष्ट की प्रवृत्ति हो जाने पर भी उसके चित्त में तिरस्कारादि विकल्पों का उदय न होने से, जो किसी से भय नहीं करता तथा हर्ष, क्रोध, भयादि से मुक्त रहता है, वह जीवन्मुक्त है ।

"शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥"

शत्रुमित्रमानावमानादिविकल्पाः संसारकलनाः शान्ता यस्य सः । चतुषष्टिविद्याः कलाः, तत्सद्भावेऽपि तदभिमानव्यवहारयोरभावान्निष्कलत्वम् । चित्तस्य स्वरूपेण सद्भावेऽपि वृत्त्यनुदयान्निश्चित्तत्वम् । चिन्तेति पाठे वासनावशादात्मध्यानवृत्तिसद्भावेऽपि लौकिकवृत्त्यभावान्निश्चिन्तत्वम् ।

शत्रु, मित्र और मान अपमानादि विकल्प जिसके चित्त में शान्त हो गये हैं, जो विद्या कलादि में कुशल होने पर भी उसके ज्ञान के कारण अभिमान तथा उसका उपयोग न करने से विद्याकलादि ज्ञान रहित के समान है और जिसका चित्त विद्यमान रहता हुआ भी वृत्तिरहित होने से बिना चित्त का है, वह जीवन्मुक्त है ।

"यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्य्यपि शीतलः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥"

परगृहे विवाहोत्सवादौ स्वयं गत्वा तत्प्रीत्यै तदीयकार्य्येषु व्यवहरन्नपि लाभालाभयोर्हर्षविषादरूपं बुद्धिसन्तापं न प्राप्नोति। एवमयं मुक्तः स्वकार्येऽपि शीतलः। न केवलं सन्तापाभावाच्छीतलत्वं किन्तु परिपूर्णस्वरूपानुसन्धानादपि॥

इति जीवन्मुक्तिलक्षणम्।

जो व्यक्ति सभी पदार्थों का व्यवहार करता हुआ भी शान्तचित्त रहता है अर्थात् स्वयं राग, द्वेष, मोह, दोष से रहित होने लोक कल्याण के लिए अनासक्त भाव से व्यवहार करता है, वह न तो प्राणियों को कष्ट देता है और न प्राणियों के द्वारा कष्ट का अनुभव करता है एवं पूर्ण परमात्मा के ध्यान में सदा तत्पर रहता है—उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है।

जैसे कोई पुरुष अन्य के घर विवाहादि उत्सव में जाकर घर के मालिक की प्रसन्नता रखने के लिये उसके कार्यों में भाग लेता हुआ भी उसको इस कार्य से लाभ या हानि न होने से स्वयं हर्ष विषाद रूप सन्ताप से युक्त नहीं होता हैं, इसी प्रकार यह मुक्त पुरुष भी अपने कार्यों में शीतल अन्तःकरण वाला रहता है अर्थात् हर्ष विषाद रहित रहता है। हर्ष विषाद के अभाव से ही केवल अन्तःकरण में शीतलता (शान्ति) रहती है, ऐसी बात नहीं है किन्तु सर्वत्र पूर्ण-स्वरूप के अनुसन्धान के प्रभाव से भी अन्तःकरण की शीतलता को मुक्त पुरुष अनुभव करता है। (अर्थात् सभी प्राणियों में अपना परमात्म भाव एवं भगवदात्म में प्राणियों का भाव का अनुभव करने से उद्वेगशून्य अद्वैत भाव से परिपूर्ण चित्त होने से सदा शान्ति चित्त रहता है। द्वैत न होने से विषमता का स्थान नहीं रहता है, इसी को जीवन्मुक्त कहा जाता है।)

जीवन्मुक्तिका लक्षण समाप्त हुआ।

अथ विदेहमुक्तलक्षणम्

अब विदेह मुक्त का लक्षण कहते हैं—

"जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥"

यथा वायुः कदाचिच्चलनं त्यक्त्वा निश्चलरूपेणावतिष्ठते तथा मुक्ताऽऽत्माऽप्युपाधिकृतसंसारं त्यक्त्वा स्वरूपेणावतिष्ठते ।

जिस प्रकार गतिशील वायु स्पन्दरहित (स्थिर) अवस्था को प्राप्त करती है, उसी प्रकार अपने शरीर के कालाधीन होने पर जीवन्मुक्त अवस्था को छोड़कर अदेहमुक्त अवस्था में प्रविष्ट होता है। जैसे वायु किसी समय गति को छोड़कर निश्चल अवस्था को प्राप्त करता है वैसे ही मुक्त आत्मा उपाधि कृत संसार का परित्याग कर अपने चैतन्य स्वरूप में अवस्थित होता हैं।

"विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥"

उदयास्तमयौ हर्षविषादौ । न शाम्यति न च तत्परित्यागी लिङ्गदेहस्यात्रैव लीनत्वात् । सद्वाच्यो जगद्धेतुरविद्या मायोपाधिर्न प्राज्ञेश्वरः । असद्वाच्यो नापि भूतभौतिकः । न दूरस्थ इत्युक्त्वा न मायातीतः । न चेत्युक्त्वा स्थूलभुक्समीपस्थत्वं निषिध्यते । अहं न चेति समष्टिश्च । नेतर इति न व्यष्टिश्च । व्यवहारयोग्यो विकल्पः कोऽपि नास्तीत्यर्थः ।

विदेहमुक्त पुरुष, हर्ष, विषाद रूप उदय और अस्त को प्राप्त नहीं करता है। न तो शान्त होता है और न उसका परित्याग होता है, क्योंकि लिङ्गदेह स्थूल शरीर के साथ ही वह लय प्राप्त करता है। वह सत्रूप नहीं अर्थात् जगत् का कारण अविद्या और माया उपाधि विशिष्ट प्राज्ञ और ईश्वर रूप भी नहीं है। असत् अर्थात् भूत और उसका कार्यरूप भी नहीं है, माया से अतीत नहीं है तथा समष्टि एवं व्यष्टि शरीर के व्यवहार के योग्य कोई भी विकल्प उसमें नहीं रहते हैं।

"ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ॥"

एवंविधया विदेहमुक्त्या सदृशत्वोत्कर्षत्वोक्तेर्जीवन्मुक्तावपि यावद्यावन्निर्विकल्पातिशयस्तावदुत्तमत्वं द्रष्टव्यम् । भगवद्गीतासु द्वितीयाध्याये स्थितप्रज्ञः पठ्यते ।

उस समय, निश्चल, गम्भीर अर्थात् मन से भी जाना न जा सके ऐसा प्रकाश नहीं, वैसे तम से भी विलक्षण, व्याप्त, वाणी का विषय नहीं, तथा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न हो सकने योग्य, अनिर्वचनीय सत्, अवशेष रहता है। इस प्रकार की विदेहमुक्ति के तुल्य जीवन्मुक्ति की गणना कर उसकी श्रेष्ठता कही गई है, अतएव जीवन्मुक्ति दशा में भी जितने अंश में अन्तःकरण की निर्विकल्पता की अधिकता होती है उतने अंश में उस दशा की उत्तमता समझनी चाहिये। भगवद् गीता के द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहा गया है—अर्जुन उवाच—

अर्जुन ने कहा—

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ! ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥"

प्रज्ञा तत्त्वज्ञानम् । तद्द्विविधम् । स्थितमस्थितं चेति । यथा जारेऽनुरक्तनार्याः सर्वेष्वपि व्यवहारेषु बुद्धिर्जारमेव ध्यायति, प्रमाणप्रतीतानि क्रियमाणान्यपि गृहकर्माणि सद्य एव विस्मर्यन्ते, तथा परवैराग्योपेतस्य योगाभ्यासपाटवेनात्यन्तवशीकृतचित्तस्योत्पन्ने तत्त्वज्ञाने तद्बुद्धिर्जारमिव नैरन्तर्येण तत्त्वं ध्यायति तदिदं स्थितप्रज्ञानम् । उक्तगुणरहितस्य केनापि पुण्यविशेषेण कदाचिदुत्पन्नेऽपि तत्त्वज्ञाने गृहकर्मवत्तत्रैव तत्त्वं विस्मर्यते तदिदमस्थिरं प्रज्ञानम् । एतदेवाऽऽभिप्रेत्य वसिष्ठ आह ।

समाहित स्थितप्रज्ञ और व्युत्थित (समाधि में से उठा हुआ) स्थितप्रज्ञ कालभेद से दो प्रकार का है। इनमें से समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ

पुरुष उसके लक्षण को बोधन कराने वाले कैसे शब्दों के व्यवहार करता है ? और वह व्युत्थित स्थितप्रज्ञ कैसी वाणी का व्यवहार करता है ? तथा किस प्रकार वह बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करता है ? किस प्रकार वह इन्द्रियों के निग्रह काल के अभाव में विषयों को प्राप्त करता है ?

प्रज्ञा (तत्त्वज्ञान) स्थिर और अस्थिर इस प्रकार दो प्रकार के भेद से की है। जैसे जार पुरुष में प्रीति करने वाली नारी, घर के सब कामों को करती हुई भी बुद्धि द्वारा जार ही का चिन्तन किया करती है तथा चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुए घर के कामों को करती है, जिस काम को प्रतिदिन किया करती है उसे भी भूल जाया करती है। उसी प्रकार परवैराग्ययुक्त पुरुष या जिसने (सद्गुरु के उपदेश से) योगाभ्यास की पटुता से चित्त को अत्यन्त वश में कर लिया है, उसकी बुद्धि, तत्त्वज्ञान सम्पन्न होने के कारण जार में अनुरक्त नारी के समान परमात्मा का निरन्तर ध्यान किया करती है। अत एव उसकी प्रज्ञा स्थित है, परन्तु जिसमें उक्त गुण नहीं है ऐसे पुरुष को कदाचित् किसी पुण्य विशेष से तत्त्वज्ञान हो भी जाता है तब वह व्यभिचारिणी स्त्री के गृह कार्यों के विस्मरण के समान तत्त्वज्ञान को भूल जाता है, इसलिये उसकी प्रज्ञा अस्थिर है। यह बात वसिष्ठ ने भी कही है—

"परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥"
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥" इति ।

तत्र स्थिरप्रज्ञः कालभेदाद् द्विविधः । समाहितो व्युत्थितश्च । तयोरुभयोर्लक्षणं पूर्वोत्तराभ्यामर्द्धाभ्यां पृच्छति—समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, कीदृशैर्लक्षणवाचकैः शब्दैः सर्वैरयं भाष्यते, व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः कीदृशं वाग्व्यवहारं करोति, तस्योपवेशन-गमने मूढेभ्यो विलक्षणे कीदृशे ?

जार (यार) के साथ फँसी हुई नारी अपने घर के कामों में व्यग्र होने पर भी जैसे पुरुष के साथ भोगादि जनित सुख का ही मन

में अनुभव किया करती है। इसी प्रकार परमशुद्धतत्त्वज्ञान होने पर धीर विवेकी पुरुष विश्रान्ति को पाकर बाहरी कामों को करते हुए भी अपने अन्तःकरण में उसी परम तत्त्व का अनुभव किया करता है। कालभेद से स्थितप्रज्ञ दो प्रकार का है एक समाहित, दूसरा व्युत्थित। उन दोनों का लक्षण पूर्वोक्त आधे श्लोक के द्वारा अर्जुन ने पूछा है। समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ की भाषा, अन्य साधारण पुरुषों की अपेक्षा कैसी होती है? किस प्रकार के लक्षण वाचक शब्दों से यह कहा जाता है (अर्थात् लोग इसे क्या कहकर व्यवहार करते हैं) व्युत्थितस्थितप्रज्ञ किस रीति का वाग्व्यवहार करता है? उसका बैठना, चलना, अन्य साधारण लोगों की अपेक्षा किस रूप में विलक्षण हैं?

श्रीभगवानुवाच—

श्रीकृष्ण ने कहा—

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥"

कामास्त्रिविधाः बाह्या आन्तरा वासनामात्ररूपाश्चेति। उपार्जितमोदकादयो बाह्या, आशामोदकादय आन्तराः, पथिगततृणादिवदापाततः प्रतीता वासनारूपाश्च। समाहिताऽशेषधीवृत्तिसंक्षयात्सर्वान्परित्यजति। अस्ति चास्य मुखप्रसादलिङ्गगम्यः सन्तोषः। स च न कामेषु किं त्वात्मन्येव, कामानां त्यक्तत्वात्। बुद्धेः परमानन्दरूपेणाऽऽत्माभिमुखत्वाच्च। न चात्र सम्प्रज्ञातसमाधाविवाऽऽत्मानन्दो मनोवृत्त्योल्लिख्यते, किन्तु स्वप्रकाशचिद्रूपेणाऽऽत्मना। सन्तोषश्च न वृत्तिरूपः किन्तु तत्संस्काररूपः। एवं विधैर्लक्षणवाचकैः शब्दैः समाहितो भाष्यते।

अर्जुन ! जिस समय वह समाधिस्थ पुरुष अपने मन में स्थित सब कामनाओं का परित्याग कर देता है और अपनी आत्मा में (वृत्ति रहित चित्त में) आत्मा द्वारा सन्तोष को प्राप्त कर लेता है; तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। काम तीन प्रकार का है। बाह्य, आभ्यन्तर और वासनारूप। इनमें से अपने प्रयत्नपूर्वक उपार्जित मोदक आदि

पदार्थ बाह्य काम की गणना में हैं, जो मोदकादि पदार्थ उपार्जित तो नहीं हैं, परन्तु आशारूप से अन्तःकरण में स्थित हैं; यह आशा मोदकादि आभ्यन्तर काम हैं तथा मार्ग में पड़ी घास आदि पदार्थ (विना इच्छा के इनपर दृष्टि पड़ ही जाती है) के समान रागद्वेष-शून्य दृष्टि से प्रतीत हुए भोग्य पदार्थ केवल "वासनारूप काम" की गणना में हैं। समाधिस्थ पुरुष अन्तःकरण की सारी वृत्तियों के क्षय के कारण सब कामों का त्याग कर देता है यद्यपि इसके चेहरे की प्रसन्नता का चिह्न ऊपर से उसके अन्तःकरण में सन्तोषरूप वृत्ति का स्फुरण रहने के समान प्रतीत होता है। परन्तु उसको काम में सन्तोष नहीं है। क्योंकि, कामनाओं का तो उसने त्याग ही कर दिया है; तथा उसकी वृत्ति परमानन्दरूप में आत्मा के ही अभिमुख रहती है। जैसे सम्प्रज्ञात समाधि में आत्मानन्द मनोवृत्ति द्वारा अनुभव करता है, वैसा अनुभव असम्प्रज्ञात समाधि में नहीं होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में स्वयं प्रकाश चैतन्य, आत्मरूप का अनुभव करता है, वह सन्तोष वृत्ति से जन्य नहीं है, किन्तु वृत्ति का संस्कार रूप है। इस प्रकार के लक्षण वाचक शब्दों से समाधिस्थ पुरुष को कहा जाता है।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"

दुःखं रागादिनिमित्तजन्या रजोगुणविकाररूपा सन्तापात्मिका प्रतिकूला चित्तवृत्तिः। तादृशे दुःखे प्राप्ते सत्यहं पापी धिङ्मां दुरात्मानमित्यनुतापात्मिका तमोगुणविकारत्वेन भ्रान्तिरूपा चित्तवृत्तिरुद्वेगः । यद्यप्ययं विवेक इवाऽऽभाति पूर्वस्मिन्जन्मनि चेत्तत्पापप्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात्सप्रयोजनो भवति । इदानीं तु निष्प्रयोजन इति भ्रान्तित्वं द्रष्टव्यम् । सुखं राजपुत्रलाभादिजन्या सात्त्विकी प्रीतिरूपाऽनुकूला चित्तवृत्तिस्तस्मिन्सुखे सत्यागामिनस्तादृशस्य सुखस्य कारणं पुण्यमनुष्ठाय वृथैव तदपेक्षातामसी वृत्तिः स्पृहा। तत्र च सुखदुःखयोः प्रारब्धकर्मप्रापितत्वाद् व्युत्थितचित्तस्य वृत्तिसम्भवाच्च तदुभयं

समुत्पद्यते। उद्वेगस्पृहे तु न विवेकिनः सम्भवतः। तथा रागभयक्रोधाश्च तामसत्वेन कर्मप्रापितत्वाभावान्नास्य विद्यन्ते। एवंलक्षणलक्षितः स्थितधीः स्वानुभवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमनुद्वेगनिःस्पृहत्वादिगमकं वचो भाषत इत्यभिप्रायः।

जो दुःखों में उद्विग्न, सुखों में आसक्त नहीं होता है और प्रीति, भय तथा क्रोध को जिसने त्याग दिया है, वह मुनि (मनन शील) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

रागादि के कारण उत्पन्न रजोगुण का कार्यरूप सन्तापाकार प्रतिकूल चित्तवृत्ति का नाम दुःख है। दुःख प्राप्त होने पर "अरे मैं पापी हूँ, मुझ दुरात्मा को धिक्कार है" ऐसी तमोगुण जन्य वृत्ति होने से भ्रान्तिस्वरूप पश्चात्तापवाली चित्त की वृत्ति को उद्वेग कहते हैं। यद्यपि यह उद्वेग सामान्यदृष्टि से विवेक के समान प्रतीत होता है, तथापि यदि यह पूर्वजन्म में पाप में प्रवृत्ति करने से हुआ है तो पाप के प्रतिबन्धक होने से सफल होता है। परन्तु वर्त्तमान जन्म में प्रयोजन युक्त न होने से वह भ्रान्तिरूप है। राज्य, पुत्र, गृह, क्षेत्र आदि के लाभ से उत्पन्न सात्त्विक प्रीतिरूप अनुकूल वृत्ति को सुख कहते हैं। ऐसा सुख मिलने पर 'भविष्य में मुझको यह सुख मिले तो ठीक है' ऐसी सुख के कारण धर्म का आचरण किये विना केवल वृथा इच्छारूप तामसी वृत्ति को स्पृहा कहते हैं। जहाँ सुख दुःख को प्राप्त करानेवाला प्रारब्ध कर्म है और समाधि से जाग्रत् होने के बाद, वृत्ति भी बाहर उदय पाती है, उसको प्रारब्ध वश से सुख-दुःख तो होता है, किन्तु विवेकी पुरुष को तज्जन्य उद्वेग और स्पृहा सम्भव नहीं होती है, इसी प्रकार तमोगुण का कार्य राग है, भय और क्रोध प्रारब्ध का फलरूप न होने से उसमें नहीं रहता है। इस प्रकार के लक्षण से युक्त व्यक्ति स्थितप्रज्ञ होता है, वह शिष्य को उपदेश देने के लिये अनुद्वेग भाव और निःस्पृहता आदि विद्यमान दैवी सम्पत्तियों के बोधक वचनों का उच्चारण करता हुआ अपना अनुभव प्रकट करता है। यह "स्थितधीः किं प्रभाषेत ? इस प्रश्न का उत्तर हुआ।

"यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥"

यस्मिन्सत्यन्यदीये हानिवृद्धी स्वस्मिन्नारोप्येते तादृशोऽन्यविषयस्तामसवृत्तिविशेषः स्नेहः, सुखहेतुस्वकलत्रादिशुभवस्तुगुणकथनादिप्रवर्त्तिका धीवृत्तिरभिनन्दः । अत्र गुणकथनस्य परप्ररोचनार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात्तद्धेतुरभिनन्दस्तामसः। असूयोत्पादनेन दुःखहेतुः परकीयविद्यादिरेनं प्रत्यशुभो विषयः। तन्निन्दाप्रवर्त्तिका बुद्धिप्रवृत्तिर्द्वेषः सोऽपि तामसः। तन्निन्दाया निवारणार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात्। त एते तामसा धर्माः कथं विवेकिनि सम्भवेयुः।

जो विद्वान् सर्वत्र स्नेह से रहित है और अनुकूल पदार्थ पाकर आनन्द में, प्रतिकूल पदार्थ पाकर दुःख में मग्न नहीं होता उसकी बुद्धि स्थिर है अर्थात् वह स्वरूप में प्रतिष्ठित है।

जिसके रहने पर अन्य वस्तु की हानि वृद्धि अपने में आरोपित की जाय ऐसी जो अन्य वस्तुविषयक अन्तःकरण की तामस वृत्ति विशेष है; उसका नाम स्नेह है। सुख का साधनरूप अपनी स्त्री, पुत्रादि शुभ-वस्तु है, इनके गुण आदि धन में वाणी की जो प्रवृत्ति हाती है, उसका नाम 'अभिनन्द' (प्रशंसा) है। अपने मुख से अपने स्त्री-पुत्रादि की प्रशंसा करने से सुननेवाले को उस प्रशंसा से उन स्त्री पुत्रादिकों के प्रति प्रीति नहीं होती है, अत एव वह व्यर्थ प्रशंसा तामस है। अन्य पुरुष में रहने वाला विद्या आदि गुण, सुनने वाले के लिए असूया प्रकट करने वाली होने के कारण यह दुःख का साधन है, अतः यह अशुभ वस्तु विषयक है। उसकी निन्दा में प्रवृत्त कराने वाली वृत्ति का नाम द्वेष है। यह भी तमोगुण का ही कार्य है, क्योंकि निन्दा निवारण करने में असमर्थ होने से व्यर्थ है। ये स्नेहादि तमोगुण के परिणाम होने से विवेकी पुरुष में कैसे सम्भव हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं।

"यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"

व्युत्थितस्य समस्ततामसवृत्त्यभावः पूर्वश्लोकाभ्यामभिहितः। समाहितस्य तु वृत्तय एव न सन्ति कुतस्तामसत्व-

शङ्केत्यभिप्रायः ।

जैसे कच्छप अपने सब अङ्गों को समेट लेता है; वैसे ही जिसने अपनी सभी इन्द्रियों को विषयों से हटा लिया है; उसकी बुद्धि स्थिर है ।।

समाधि से उठे हुए पुरुष में सभी तामस वृत्तियों का अभाव रहता है, यह बात उपरोक्त दो श्लोकों के द्वारा कही गयी है । समाधिस्थ पुरुष में सभी वृत्तियों का अभाव होने से उसमें तामसवृत्ति के होने की शङ्का ही नहीं है—यह आशय है ।

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥"

प्रारब्धं कर्म सुखदुःखहेतून् कांश्चिद् विषयांश्चन्द्रोदयान्धकारादिरूपान् स्वयमेव सम्पादयति । अन्यांस्तु गृहक्षेत्रादीन् पुरुषोद्योगद्वारेण । तत्र चन्द्रोदयादयः पूर्णेनेन्द्रियसंहारलक्षणेन समाधिनैव निवर्तन्ते, नान्यथा । गृहादयस्तु समाधिमन्तरेणापि निवर्तन्ते । आहारणमाहार उद्योगः । निरुद्योगस्य गृहादिविषया निवर्तन्ते । रसस्तु न निवर्तते । रसो मानसी तृष्णा साऽपि परमानन्दरूपस्य परस्य ब्रह्मणो दर्शने सति स्वल्पानन्दहेतुभ्यो निवर्तते ।

"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः"
इति श्रुतेः ।

जिसने विषयों का सेवन नहीं किया उसके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें अभिलाषा बनी रहती है और स्थिर बुद्धि की तो परब्रह्म का साक्षात्कार करके रस अर्थात् विषयाभिलाषा भी निवृत्त हो जाती है—प्रारब्धकर्म सुखदुःख का कारणरूप चन्द्रोदय अन्धकार आदि पदार्थों की स्वयं ही रचना करता है, उसमें पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं है और गृह क्षेत्र आदि कतिपय पदार्थ पुरुष के उद्योग से उत्पन्न होते हैं । इसमें चन्द्रोदयादि पदार्थ तो सब इन्द्रियों की निरोधरूप समाधि अवस्था से ही निवृत्त हो जाती है, अन्य उपाय से वह निवृत्त

नहीं होता है और गृह क्षेत्रादि तो समाधि के विना भी उसकी प्राप्ति के लिये उद्योग त्यागने से भी निवृत्त हो जाता है। परन्तु उसमें मानसी तृष्णा (अभिलाषा) नहीं जाती है। परन्तु परमानन्दस्वरूप परब्रह्म के साक्षात्कार से तुच्छ सुख देने वाले विषयों से वह अभिलाषा भी निःशेष हो जाती है। क्योंकि—

"जिस पुरुष को इस परमानन्द स्वरूप स्वयं प्रकाश आत्मा की प्राप्ति हो गई है, ऐसे पुरुष को प्रजा का क्या प्रयोजन है। इस प्रकार श्रुति तत्त्वज्ञानी पुरुष के लिए अभिलाषा का अभाव सूचित करती है।

"यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥"
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

उद्योगत्यागब्रह्मदर्शनप्रयत्नं कुर्वतोऽपि कादाचित्कप्रमादपरिहाराय समाध्यभ्यासः। तदेतत् किमासीतेतिप्रश्नोत्तरम्।

हे अर्जुन ! यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष को भी व्याकुल करने वाली इन्द्रियाँ बलपूर्वकक (उसके) मन को हर लेती हैं। उन सब इन्द्रियों को भलीभाँति रोक कर मुझमें विश्वास कर एकाग्र चित्त होना चाहिए। क्योंकि, जिसकी इन्द्रियाँ अपने अधीन हैं, उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है।

प्रवृत्ति के त्याग और ब्रह्मदर्शनार्थ प्रयत्न करने पर भी किसी समय प्रमाद हो जाता है, उसके निरोध के लिये समाधि का अभ्यास करना आवश्यक है, यह 'किमासीत' वह इन्द्रियों का निग्रह किस प्रकार करता है ? इस प्रश्न का उत्तर है।

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥"

असति समाध्यभ्यासे प्रमादप्रकार उपन्यस्तः। सङ्गो ध्येयविषयसंनिधिः। सम्मोहो विवेकपराङ्मुखत्वम्। स्मृति-

विभ्रमस्तत्त्वानुसन्धानाभावः। बुद्धिनाशो विपरीतभावनोपचय-दोषेण प्रतिबद्धस्य ज्ञानस्य मोक्षप्रदत्वसामर्थ्याभावः।

जो पुरुष विषयों का चिन्तन करता है उसकी उन विषयों में प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति होने से इच्छा होती है; उस इच्छा के प्रतिबन्ध होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से अविवेक होता है, अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार नष्ट हो जाता है। अविवेक से स्मृति का नाश होता है, स्मृति के नाश से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नाश से सर्वस्व का नाश होता है अर्थात् परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

योगी जब समाधि का अभ्यास नहीं करता है, उस समय उसको किस प्रकार कब कौन सा प्रमाद होता है यह बात उपरोक्त श्लोकों द्वारा प्रदर्शित की गयी हैं। सङ्ग अर्थात् ध्येय पदार्थ के साथ संयोग (सन्निकर्ष)। सम्मोह—हित और अहित के ज्ञान का अभाव है। स्मृति-विभ्रम—तत्त्व पदार्थ के खोज की विस्मृति है। बुद्धिनाश—विपरीत भावना को वृद्धिरूप दोष के द्वारा प्रतिबन्ध होने से तत्त्वबुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती है और उत्पन्न हुई बुद्धि की मोक्ष फल की प्राप्ति कराने में अयोग्यता होती है—यही बुद्धि का नाश है।

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥"

विधेयात्मत्वं वशीकृतमनस्त्वम्, प्रसादो नैर्मल्यं बन्ध-राहित्यम्। समाभ्यासयुक्तत्तद्वासनाबलाद् व्युत्थानदशाया-मिन्द्रियैर्व्यवहरन्नपि प्रसादं सम्यक् प्राप्नोति। तदेतत्किं व्रजेतेतिप्रश्नोत्तरम्। उपरितनेनापि बहुना ग्रन्थेन स्थितप्रज्ञः प्रपञ्चितः।

ननु प्रज्ञायाः स्थित्युत्पत्तिभ्यां प्रागपि साधनत्वेन रागद्वेषादिराहित्यमपेक्षितम्। वाढम्। तथाऽप्यस्तिविशेषः, स च मार्गकारैर्दर्शितः।

इन्द्रियों को राग-द्वेष से हटाकर अपने अधीन कर जो वशी पुरुष विषयों का सेवन करता है वह प्रसन्नता को प्राप्त करता है। समाधि

का अभ्यास करने वाला पुरुष अभ्यास की वासना के बल से व्युत्थान अवस्था में सभी इन्द्रियों के व्यापार को करते हुए भी चित्त की प्रसन्नता का ही अनुभव करता है। इस प्रकार 'किं व्रजेत'? इस प्रश्न का उत्तर होता है। इसके अनन्तर अनेक श्लोकों के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ का विस्तार से वर्णन किया है।

शङ्का—ज्ञान की उत्पत्ति और स्थिति से पूर्व भी साधन रूप राग-द्वेष के अभाव की अपेक्षा है। क्या जीवन्मुक्तदशा में ही इसकी अपेक्षा है? ऐसा नहीं है।

समाधान—ठीक है, परन्तु इसमें कुछ अन्तर है और उसको श्रेयोमार्ग के प्रदर्शक आचार्यों ने बताया है।

"विद्यास्थितये प्राग् ये साधनभूताः प्रयत्ननिष्पाद्याः।
लक्षणभूतास्तु पुनः स्वभावतस्ते स्थिताः स्थितप्रज्ञे ॥
जीवन्मुक्तिरितीमां वदन्त्यवस्थां स्थितात्मसंबन्धाम्।
बाधितभेदप्रतिभामबाधितात्मावबोधसामर्थ्यात् ॥" इति ॥

विद्या की स्थिति के लिये मुमुक्षु पुरुष में जो साधन होकर दैवी सम्पत्तियाँ प्रयत्न साध्य होती हैं—वे स्थितप्रज्ञ पुरुष में स्वाभाविक रूप से रहती हैं। इस स्थितप्रज्ञ की दशा को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। इस दशा में आत्मज्ञान के सामर्थ्य के द्वारा भेदप्रतीति का बाध हो जाता है।

भगवद्भक्तो द्वादशाध्याये भगवता वर्णितः।

भगवद्भक्त का गीता में भगवान् ने बारहवें अध्याय में वर्णन किया है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥"

ईश्वरार्पितमनस्त्वेन समाहितस्यानुसन्धानाभावात्। व्युत्थितस्याप्युदासीनानुसन्धानेन हर्षविषादाभावाच्च सुखदुःख-साम्यम्। एवं वक्ष्यमाणेष्वपि द्वन्द्वेषु द्रष्टव्यम्।

किसी से द्वेष नहीं करनेवाला भी प्राणियों का मित्र, दयावान्, ममता से रहित, अहङ्कार रहित, सुख और दुःख को समान मानने वाला, शान्त, सभी समय सन्तुष्ट, योगी अर्थात् स्थिरचित्त, मन को अपने अधीन रखने वाला, दृढ़निश्चय अर्थात् किसी अपने विचार को नहीं बदलने वाला, मुझमें मन और बुद्धि को अर्पण करने वाला, जो मेरा भक्त है, वह मुझको प्रिय है।

जीवन्मुक्त पुरुष जिस समय समाधिस्थ होता है। उस समय उसका मन ईश्वराकार होने से, उस समय वह अन्य विषय का अनुसन्धान नहीं करता है, समाधि से व्युत्थान होने पर भी उदासीन वृत्तिवाला रहता है, इसलिये उसकी सदा सुख-दुख आदि द्वन्द्व धर्मों में समान वृत्ति होती है।

"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥" इति।

जिससे कोई उद्विग्न न हो और जो किसी से उद्विग्न न हो, जो हर्ष, अमर्ष, दूसरे के सुख को देखकर खिन्न, भय और उद्वेग, इनसे रहित है, वह मेरा प्रिय है। जो मिले उसी में सन्तुष्ट, पवित्र, प्रवीण, पक्षपात से रहित, खेदशून्य, फल की वासना को छोड़कर कर्मों का करने वाला मेरा भक्त है वह मुझको प्रिय है। जो प्रिय वस्तु पाकर प्रसन्न न हो, किसी से द्वेष न रखता हो, इष्ट पदार्थ के नाश होने से शोक नहीं करता है, किसी वस्तु पर लोभ नहीं करता है, अशुभ और शुभ इन दोनों का त्याग करनेवाला भक्तिमान् है, वह मेरा प्रिय हैं। शत्रु, मित्र, मान और अपमान इनमें एक-सा रहने वाला, जाड़ा-गरमी,

सुख और दुःख में एकाकार, सङ्गरहित, निन्दा और स्तुति को तुल्य माननेवाला, मौनी, जो कुछ मिले उसी में सन्तुष्ट, नियम से एक स्थान में वास नहीं करनेवाला, स्थिरबुद्धि, भक्तिमान् जो पुरुष है, वह मुझे प्यारा है।

अत्रापि पूर्ववद्विशेषो वार्त्तिककारैर्दर्शितः ।

इस स्थान में भी वार्तिककार ने विविदिषासंन्यासी और जीवन्मुक्त पुरुष में भेद पूर्व के समान बताया है—

"उत्पन्नात्मप्रबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥" इति ।

जिस पुरुष को आत्मज्ञान प्राप्त है, उस पुरुष में द्वेषशून्यता आदि गुण विना यत्न स्वभाव से सिद्ध होते हैं, उसके लिये साधन की आवश्यकता नहीं हैं।

गुणातीतश्चतुर्दशाध्याये वर्णितः—

गुणातीत का निरूपण भगवद्गीता के १४वें अध्याय में किया है।

"कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ! ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥"

त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि, तेषां परिणामविशेषात् सर्वः संसारः प्रवर्तते । अतो गुणातीतमसंसारित्वम् । जीवन्मुक्तत्वमिति यावत् । लिङ्गानि परेषामेतदीयगुणातीतत्वबोधकानि । आचार आचरणं तदीयमनःसञ्चारप्रकारः । कथमिति साधनप्रकारप्रश्नः । भगवानुवाच—

हे प्रभो ! तीनों गुणों का अतिक्रमण करने वाला किन चिह्नों से युक्त होता है ? उसका आचरण कैसा होता है ? और कैसे इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करता है ?

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के परिणाम विशेष ही संसार की सभी प्रवृत्तियाँ हैं। अत एव गुणातीत होना, असंसारी होना, जीवन्मुक्त होना एक ही वस्तु है। लिङ्ग अर्थात् जिन लक्षणरूप चिह्नों से गुणातीत पुरुष का गुणातीत स्वरूप अवगत हो, वैसा चिह्न, आचार अर्थात् उसके मन की प्रवृत्ति, 'कथं' इत्यादि वाक्य के द्वारा

गुणातीत होने के साधनों का प्रकार पूछा है। श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ? ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥"

प्रकाशप्रवृत्तिमोहाः सत्त्वरजस्तमोगुणाः । ते च जाग्रत्स्वप्नयोः प्रवर्तन्ते । सुषुप्तिसमाधिशून्यचित्तवृत्तित्वावस्थासु निवर्त्तन्ते । प्रवृत्तिश्च द्विविधा, अनुकूला प्रतिकूला चेति । तत्र मूढो जागरणे प्रतिकूलप्रवृत्तिं द्वेष्टि, अनुकूलप्रवृत्तिं काङ्क्षति । गुणातीतस्य त्वनुकूलप्रतिकूलाध्यासाभावाद् द्वेषाकाङ्क्षे न स्तः । यथा द्वयोः कलहं कुर्वतोरवलोकयिता कश्चित्तटस्थः स्वयं केवलमुदास्ते । न तु जयापराजयाभ्यामितस्ततश्चाल्यते । तथा गुणातीतो विवेकी स्वयमुदास्ते । गुणा गुणेषु वर्तन्ते, न त्वहमिति विवेकादौदासीन्यम् । अहमेव करोमीत्यध्यासो विचलनम्, न चास्य तदस्ति । तदिदं किमाचार इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरम् । समदुःखादीनि लिङ्गान्यव्यभिचारिभक्तिसहितज्ञानध्यानाभ्यासेन परमात्मसेवा इति गुणात्ययसाधनम् ।

हे पाण्डव ! सत्त्वगुण का प्रकाश, रजोगुण की प्रवृत्ति और तमोगुण का मोह परिणाम है। इनके प्रवृत्त होने पर जिसे त्रास न हो और निवृत्त होने में उनकी इच्छा न करे (वह गुणातीत है)।

उदासीन मनुष्य के तुल्य जो सुख-दुःख को एक समान मानता है, गुणों से चञ्चल नहीं होता है और 'गुण अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं' ऐसा जानकर सावधान बैठा रहता है, किसी तरह की चेष्टा नहीं करता है (वह गुणातीत है)।

सुख-दुःख को एक समान मानने वाला, स्वस्थ अर्थात् किसी प्रकार के विकार को प्राप्त न करने वाला, लोष्ट अर्थात् मिट्टी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण को एक ही दृष्टि से देखने वाला, प्रिय और अप्रिय वस्तु में समान बुद्धि, निन्दा और स्तुति में एक समान रहने वाला, धीर पुरुष (गुणातीत है)। जो मान-अपमान में एक समान, मित्र एवं शत्रुपक्ष में तुल्यदृष्टि, कर्मों के बीच फल की वासना से रहित है, वह गुणातीत कहा जाता है। जो मेरी अखण्डभक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह इन सब गुणों को भलीभाँति जीत कर ब्रह्मस्वरूप होने योग्य होता है ॥

सत्त्व, रज और तम क्रम से इनका कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह है, ये तीनों गुण जाग्रत् एवं स्वप्न इन दो अवस्थाओं में प्रवृत्त होते हैं। सुषुप्ति, समाधि और चित्त की शून्यावस्था में ये निवृत्त होते हैं। प्रवृत्ति अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से दो प्रकार की होती है। उनमें मूढ पुरुष जाग्रत् अवस्था में गुणों की प्रतिकूल प्रवृत्ति से द्वेष करता है, और अनुकूल प्रवृत्ति की इच्छा करता है। गुणातीत पुरुष की अनुकूल और प्रतिकूल अध्यास की निवृत्ति हो जाने से किसी प्रकार की प्रवृत्ति की इच्छा ही नहीं होती है, इसलिए वह किसी से द्वेष नहीं करता है। जैसे दो पुरुषों की लड़ाई को देखने वाला एक तीसरा गृहस्थ पुरुष केवल उदासीनभाव से देखा करता है, और किसी की हार या जीत हो तो उससे वह स्वयं हर्ष या विषाद को नहीं प्राप्त करता है। उसी प्रकार गुणातीत विवेकी पुरुष गुणों की परस्पर प्रवृत्ति निवृत्ति को साक्षी के समान देखता है। गुण ही गुणों के प्रति प्रवृत्ति करता है, मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, इस प्रकार का विवेक उदासीनता का स्वरूप है। मैं ही करता हूँ, ऐसा अध्यास उन गुणों के द्वारा चलायमान को होता है। यह चलायमान जीवन्मुक्त पुरुष में नहीं होता है। यह 'किमाचार' (उसका आचरण कैसा है ?) इस प्रश्न का उत्तर है। सुख-दुःख आदि में समान वृत्ति आदि गुणातीत के चिह्न है, और अखण्ड भक्ति सहित ज्ञान और ध्यान के अभ्यास के द्वारा परमात्मा का सेवन करना ये गुणातीत होने के साधन है।

ब्राह्मणो व्यासादिभिर्वर्णितः ।

जीवन्मुक्त पुरुष को ब्राह्मण इस नाम से व्यास आदि मुनियों ने वर्णन किया है—

"अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधायिनं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥"

ब्राह्मणशब्दो ब्रह्मविद्वाचीति "अथ ब्राह्मण" इति श्रुत्या वर्णितम् । ब्रह्मविदश्च विद्वत्सन्न्यासाधिकरात् ।

"यथाजातरूपधरो नाऽऽच्छादनं चरति स परमहंसः"

इत्यादिश्रुत्या परिग्रहरादित्यस्य मुख्यत्वाभिधानादनुत्तरीयत्वादिकं तस्य युक्तम् ।

जिसके पास उत्तरीय वस्त्र (अङ्गोछा) नहीं है, जिसके पास सोने के लिये कुछ भी नहीं है, अर्थात् भूमि पर शयन करता है, और जिसकी अपनी भुजारूप तकिया है, ऐसे शान्त पुरुष को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ।

इस श्लोक में ब्राह्मणशब्द ब्रह्मवित् का वाचक है, क्योंकि 'अथ ब्राह्मण' (उसके अनन्तर ब्राह्मण) इस श्रुति ने उसको ब्राह्मण शब्द से कहा है । (यथा जातरूप० इस जन्म समय जैसा पैदा हुआ वैसे रूप को धारण करनेवाला अर्थात् नङ्गा परमहंस कुछ भी नहीं ओढ़ता) पूर्वोक्त श्रुति में किसी पदार्थ को न ग्रहण करे यह परमहंस का मुख्य धर्म कहा है, अत एव उसके द्वारा उत्तरीय का त्याग आदि सम्भव होता है ।

"येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी स्यात् तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥"

देहनिर्वाहायाशनाच्छादनस्थानापेक्षायामप्यशनादिगतौ गुणदोषौ नोत्पद्येते । उदरपूरणपुष्ट्यादिरूपस्य निर्वाहस्य समत्वान्निष्प्रयोजनस्य गुणदोषविचारस्य चित्तदोषत्वात् ।

अत एव भागवते पठ्यते—

प्रारब्धद्वारा जो मिले उस वस्त्र से शरीर को ढाकनेवाला, जो कुछ अन्नपानादि मिले उसी से निर्वाह करनेवाला, और जिस किसी तरह रात्रि में सोनेवाला जो पुरुष है, उसको देवगण ब्राह्मण कहते हैं।

शरीर के निर्वाह के लिये अन्न, वस्त्र, शयन, स्थान आदि की अपेक्षा होने पर भी "यह ठीक है और यह नहीं", इस प्रकार की अन्नादि में, जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धि नहीं होती है। उदर-पूरण, शरीरपोषण आदि शरीरनिर्वाह तो भले या बुरे अन्नपानादि से भी हो सकता है, इसलिये निष्प्रयोजन भोग्यपदार्थों के गुण दोष का विचार करना, यह केवल चित्त का दोषरूप होने से विवेकी पुरुष के लिए त्यागने के योग्य है। अत एव भागवत के ११ वें स्कन्ध में भी कहा है—

"किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदर्शिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥" इति।
"कन्थाकौपीनवासस्तु दण्डधृग् ध्यानतत्परः।
एकाकी रमते नित्यं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥"

ब्रह्मोपदेशादिना प्राण्यनुजिघृक्षायामुत्तमत्वज्ञापनेन श्रद्धामुत्पादयितुं दण्डकौपीनादिलिङ्गं धारयेत्।

"कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकोपकारार्थाय च परिग्रहेत्" इति श्रुतेः।

अनुजिघृक्षयाऽपि तदीयगृहकृत्यादिवार्ता न कुर्यात्, किंतु ध्यानपरो भवेत्।

"तमेवैकं विजानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ" इति श्रुतेः।

गुण दोष के लक्षणों के बहुत वर्णन से क्या फल है? 'यह अच्छा है', 'यह बुरा है', इस भांति गुण दृष्टि करना, यही दोषरूप है। इस प्रमाण से गुण दोष दृष्टि का त्याग, ही गुण स्वरूप है।

गुदड़ी और लँगोट यही जिसके वस्त्र हैं, जो दण्ड धारण करता है, और ध्यान परायण है, और जो निरन्तर अकेला रहता है, अर्थात्

जिसको एकान्त रहने में आनन्द होता है उसको देवगण ब्राह्मण कहते हैं। ब्रह्मादि द्वारा प्राणियों पर अनुग्रह करने की इच्छा हो तो अपना उत्तम आश्रम है इस प्रकार मुमुक्षु लोगों के बोधार्थ उनकी अपने शरीर पर श्रद्धा उपजाने के लिये परमहंस दण्डादि चिह्नों को धारण करता है। क्योंकि—"कौपीन, दण्ड और आच्छादन अपने शरीर के निर्वाह के लिये और लोकोपकार के लिये ग्रहण करे" ऐसा श्रुति कहती है। प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये इच्छा हो तब भी वह परमहंस अन्यों के साथ, उसके घर और संसार की वार्ता न करे, किन्तु उपदेश के समय को छोड़ कर सब समय में वह ध्यानपरायण रहे। श्रुति भी कहती है—"उस एक आत्मा का ही ज्ञान सम्पादन करो, और अन्य बातों का त्याग करो" यहाँ अन्य शब्द से आत्म-व्यतिरिक्त वस्तु समझनी चाहिये।

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायात् बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥

ब्रह्मोपदेशस्त्वन्या वाङ् न भवतीति विरोधी। तच्च ध्यानमेकाकित्वे निर्विघ्नं भवति। अत एव स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्।

धीर ब्रह्मज्ञानी पुरुष, उस आत्मा का ही ज्ञान सम्पादन कर निरन्तर उसकी प्रज्ञा को करे, अनात्मविषयक अनेक शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणी को भ्रम देने वाला है। ब्रह्मोपदेश, अन्य वाणी नहीं है। अत एव वह जीवन्मुक्त पुरुष का विरोधी नहीं है। परमात्मा का ध्यान अकेले रहने से निर्विघ्नता के साथ हो सकता है। इसलिये अन्य स्मृतियों में भी कहा है—

"एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम्।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते॥
नगरं नहि कर्त्तव्यं ग्रामो वा, मिथुनं तथा।
[1]ग्रामवार्त्ता हि तेषां स्याद्भिक्षावार्त्ता परस्परम्॥

१. एक स्थल में "नामवार्त्तादि" के बदले "राजवार्तादि" यह पाठ मूलग्रन्थ में है। क्योंकि आगे की विवेचना में यह पाठ (राजवार्ता) पढ़ा है (पृ. ६४) जिसका अर्थ राजनीति वार्ता आदि ऐसा होता है।

स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षात्प्रवर्त्तते ।
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ॥
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥"

विशिष्टैः संसारिभिः प्रणमतां पुरुषाणामाशीर्वादः प्रयुज्यते । यस्य यदपेक्षितं तं प्रति तदभिवृद्धिप्रार्थनमाशीः । तथा च पुरुषाणां भिन्नरुचित्वात्तदभिमतान्वेषणे व्यग्रचित्तस्य लोकवासना वर्द्धते । सा च ज्ञानविरोधिनी । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

शास्त्रानुसार अकेला भिक्षु (संन्यासी) का नाम भिक्षु (संन्यासी) है। दो भिक्षु (मिलकर रहने विचारने वाले) का नाम मिथुन या जोड़ा है। तीन भिक्षुओं का संवाद गाँव कहलाता, और तीन से अधिक भिक्षुओं का नाम नगर है। भिक्षुओं का नगर, ग्राम या जोड़ा न करे। क्योंकि ऐसा करने से उनमें परस्पर ग्राम[1] या नगर की बातें होती हैं या भिक्षा की बातें होती हैं। समीप रहने से परस्पर स्नेह, चुगलखोरी, मत्सरता आदि दोष उत्पन्न होते हैं। जो किसी को आशीर्वाद न दे, जो कोई उद्यम न करे, किसी को नमस्कार या स्तुति न करे, जो दीनता के वश में न हो और जिसके कर्मों का क्षय हो गया है, उसको देवगण ब्राह्मण कहते हैं।

श्रेष्ठ संसारी पुरुष आपको प्रणाम करनेवाले लोगों के लिये आशीर्वाद देते हैं। जिसको जिस पदार्थ की आवश्यकता होती है, उसके लिए उस अपेक्षित पदार्थ की, ईश्वर से प्रार्थना करने का नाम आशीर्वाद है। जैसे जिसको सन्तति की अपेक्षा होती, उसके प्रणाम करने पर "ईश्वर तुमको पुत्र दे" या ईश्वर तुम्हें पुत्रवान् करे, इस प्रकार के वचन मुख से बोलने का नाम आशीर्वचन है। लोगों की भिन्न-भिन्न रुचि होने से सबकी इच्छित वस्तु के खोज करने में व्यग्रचित्तवाला जीवन्मुक्त संन्यासी की लोकवासना प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करती है, और वह ज्ञान की विरोधिनी होती है। योगवासिष्ठ में कहा है—

"लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥"

एतच्चाऽऽरम्भनमस्कारादिष्वपि द्रष्टव्यम् । आरम्भः स्वार्थं परोपकारार्थं वा गृहक्षेत्रादिसम्पादनप्रयत्नः । तावेताचाशीर्वादारम्भौ मुक्तेन त्याज्यौ चाऽऽशीर्वादाभावे प्रणतानां नृणां खेदः शङ्कनीयः । लोकवासनाखेदयोरुभयोः परिहाराय निखिलाशीर्वादप्रतिनिधित्वेन नारायणशब्दप्रयोगात् । आरम्भस्तु सर्वोऽपि दुष्ट एव । तथा च स्मृतिः—

लोकवासना, शास्त्रवासना और देह की वासना के कारण जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। उद्यम और नमस्कार भी लोकवासना की वृद्धि का हेतु होने से ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। आरम्भ अर्थात् अपने या पराये के लिये गृह, क्षेत्रादिकों के सम्पादनार्थ यत्न उद्योग करना इन आरम्भ और नमस्कार को मुक्त पुरुष त्याग देवे।

शङ्का:—मुक्त पुरुष के द्वारा (अपने को) प्रणाम करने वाले को आशीर्वाद न देने पर प्रणाम करने वाले के चित्त में खेद प्रतीत होता है, अत एव आशीर्वाद देना आवश्यक है।

समाधान:—लोकवासना न बढ़े और प्रणाम करने वाले के जी में खेद की प्रतीति भी न हो, इसलिये सभी आशीर्वादों के बदले जीवन्मुक्त पुरुष "नारायण" शब्द का प्रयोग करे और आरम्भ (उद्यम) तो सब ही बुरे हैं।

अन्य स्मृति भी कहती है—

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः" इति ।

नमस्कारोऽपि विविदिषासंन्यासिनोऽभिहितः—

जैसे धूंए से अग्नि का प्रकाश सब ओर से छिप जाता उसी प्रकार सब उद्यम दोषों से आवृत होते हैं। इसी प्रकार नमस्कार भी विविदिषासंन्यासी के लिये विहित है—

"यो भवेत् पूर्वसन्न्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।
तस्मै प्रणामः कर्त्तव्यो नेतराय कदाचन ॥"

तत्र पूर्वत्वधर्मतुल्यत्वविचारे चित्तं विक्षिप्यते । अत एव नमस्कारमात्र एव बहवः कलहायमाना उपलभ्यन्ते । तत्र

निमित्तं वार्त्तिककारैर्दर्शितम्—

'जिसने अपने से पूर्व संन्यास का ग्रहण किया है और धर्माचरण में जो अपने तुल्य है, ऐसे संन्यासी को प्रणाम करना चाहिए अन्य को नहीं। इस वाक्य से भी विविदिषासंन्यास में नमस्कार का विधान किया गया है। विद्वत्संन्यास के लिये यह वाक्य नहीं है। क्योंकि "यह संन्यासी मुक्त से पूर्व क्यों हुआ ? धर्म में मेरी समानता किस रीति से है" ? इत्यादि विचारों के द्वारा जीवन्मुक्त की बुद्धि विक्षेप को प्राप्त करती है। इसी से नमस्कार के निमित्त बहुत से संन्यासी परस्पर कलह अर्थात् झगड़ते पाये जाते हैं।

इस विषय में वार्तिककार ने कहा है—

"प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः ॥" इति ।

मुक्तस्य नमस्काराभावो भगवत्पादैर्दर्शितः—

प्रमादी, बहिर्मुखवृत्तिवाले (संसारी कामों में मन देने वाले) चुगलखोर, झगड़ने में प्रीति करनेवाले, इस प्रकार अपने दुर्दैव से दूषित चित्तवाले अनेक संन्यासी देखने में आते हैं। मुक्त पुरुष किसी को नमस्कार न करे यह बात शङ्कराचार्यजी ने भी कही है।

"नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्येऽवस्थितो यदा ।
प्रणमेत्कं तदाऽऽत्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥" इति ।

चित्तकालुष्यहेतोर्नमस्कारस्य प्रतिषेधेऽपि सर्वसाम्य-बुद्ध्या प्रसादहेतुर्नमस्कारोऽभ्युपेयते । तथा च स्मृतिः ।

आत्मज्ञ पुरुष, जिस समय नामरूप से परे व्यापक स्वरूप में अवस्थित होता हैं, तब वह किसको प्रणाम करे ? किसी को नहीं। क्योंकि उसका कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं रहता है। चित्त विक्षेप के हेतुरूप नमस्कार का निषेध होने पर भी सब पदार्थों में समब्रह्मबुद्धि से नमस्कार करनेका शास्त्र विधान करता है।

"ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥" इति ।

स्तुतिर्मनुष्यविषया प्रतिषिध्यते न त्वीश्वरविषया ।

तथा च बृहस्पतिस्मृतिः—

श्रीमद्भागवत के ११वें स्कन्ध में लिखा है—

'सब में ईश्वर, जीवकलारूप से प्रवेश कर स्थित है, इस भाव से चाण्डाल, श्वान (कुत्ता), बैल, गदहे पर्यन्त प्राणियों को भी भूमि पर प्रणाम करे। मनुष्य की स्तुति करने का निषेध है, ईश्वर की स्तुति करने का निषेध नहीं है।

वहस्पतिस्मृति का वचन है—

"आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया।
तथा चेत् विश्वकर्त्तारं को न मुच्येत बन्धनात् ॥" इति ।

अक्षीणत्वमदीनत्वम् ।

जैसे मनुष्य, धन की अभिलाषा से आदरपूर्वक धनाढ्य पुरुष की स्तुति करता है उसी प्रकार यदि विश्वकर्ता को स्तुति करे, तो कौन नहीं इस संसार रूप बन्धन से मुक्त हो जायगा ? अक्षीणता अर्थात् दीनता का त्याग करे।

अत एव स्मृतिः ॥

"अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमान् उभयं दैवतन्त्रितम् ॥ इति ।

क्षीणकर्मत्वं विधिनिषेधानधीनत्वम् ।

"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः"
इति स्मरणात् एतदेवाभिप्रेत्य भगवताऽप्युक्तम् ।

इस विषय में स्मृति भी कहती है—

योग्य समय पर कदाचित् अन्न न मिले तब भी संन्यासी को विषाद युक्त न होना चाहिये। और मिले तब भी उससे धैर्यवान् यति हर्षित न हो। क्योंकि, अन्नादि का मिलना या न मिलना दोनों ही प्रारब्ध के अधीन है। क्षीणकर्मता अर्थात् विधि निषेध के वश होकर व्यवहार न करे, क्योंकि त्रिगुणातीत मार्ग पर चजने वाले पुरुष के लिए क्या विधि है और क्या निषेध होता है ? ऐसा स्मृति कहती है।

इसी अभिप्राय से श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥" इति ।

नारदः—

"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ॥" इति ।

"योऽहेरिव गणाद्भीतः सन्मानान्नरकादिव ।
कुणपादिव यः स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥"

राजवार्तादि तेषां स्यादित्युक्तत्वात्सर्पवत् गणाद्भीति-रुत्पद्यते, सन्मानस्याऽऽसक्तिकारणतया पुरुषार्थविरोधित्वान्नरक-वद्धेयत्वम् । अत एव स्मृतिः ।

वेद (कर्मकाण्डात्मक) सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण जो संसार के विषयसुख उनका प्रकाश करनेवाले हैं। अर्जुन ! तू तो निष्काम हो और परस्पर विरोधी सुख दुःखादि पदार्थों से मुक्त हो, नित्य धैर्य को धारण कर, यह पदार्थ कैसे मिलेगा ? यह कैसे रहेगा ? इस चिन्ता से मुक्त आत्मवान् अर्थात् प्रमाद से रहित हो। भगवान् नारद का वचन है—निरन्तर विष्णु का स्मरण करे, किसी समय भी उसे नहीं भूले। जो सदा विष्णु का स्मरण करता है और कभी भी उसे भूलता नहीं है, उसके तो विधि और निषेध दास रहते हैं। सर्प के समान जो गण (समूह) से भय करता है, नरक के तुल्य जो सम्मान (आदर) से डरता है, मुर्दे के समान जो स्त्री को छूने से डरता है—उसे देव गण ब्राह्मण कहते हैं।

राजसम्बन्धी वार्ता आदि उनमें होती है इत्यादि कथन से सर्प के समान भय, जन समूह से जिसको उत्पन्न होता है। सम्मान यह आसक्ति का हेतु होने से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ का विरोधी है ऽ अत एव नरक के तुल्य त्याज्य है।

अन्य स्मृतियों में भी कहा है—

"असन्मानात्तपोवृद्धिः सन्मानात्तु तपःक्षयः ।
अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति ॥"

एतदेवाभिप्रेत्यावमान उपादेयतया स्मर्यते ।

अपमान से तप की वृद्धि होती है और सम्मान से तप का क्षय होता है। अत एव अर्चन पूजन को राग से ग्रहण करनेवाले पुरुष दुही गौ के समान दुःखी होता है।

इसी अभिप्राय से अन्य स्मृति में अपमान को यतियों के लिये (ग्रहणयोग्य) उपादेय को रूप में कहा है—

"तथाचरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥" इति ।

स्त्रीषु द्विविधो दोषः प्रतिषिद्धत्वं जुगुप्सितत्वं चेति । तत्र कदाचिद् रागात्प्रारब्धबलादुल्लङ्घ्यते । तदेतदभिप्रेत्याऽऽह स्मृतिः ।

सत्पुरुषों के धर्म को दूषित न करनेवाला योगी इस संसार में इस प्रकार का आचरण करे कि जिससे अन्य लोग उसका अपमान करे और उसका सङ्ग न करे।

स्त्रियों में दो प्रकार का दोष होता है, जिनमें से एक वह दोष है जिसका शास्त्रों में निषेध है, दूसरा वह है जो शास्त्र में निन्दित है इनमें कोई उत्कट पाप कदाचित् प्रारब्ध के योग से राग के कारण किसी अल्प धैर्यवान् पुरुष से निषेध का उल्लङ्घन हो जाता है। अर्थात् उसका आचरण हो जाता है।

इसीलिये अन्य स्मृति कहती है—

"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नैकशय्यासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

तथा च स्मृतिभिर्जुगुप्सा दर्शिता ।

माँ, बहिन और लड़की के साथ भी एक या बहुत समीप बिछावन पर न सोवे और एक आसन पर न बैठे। क्योंकि बलवान् इन्द्रियों का समूह विद्वानों को विषय की ओर झुकाती है। स्त्री में जुगुप्सादोष का निरूपण स्मृतियों ने किया है।

"स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च ।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥"

चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम् ।
ये रमन्ति जनास्तत्र कृमितुल्याः कथं न ते ॥"

अतः प्रतिषेधजुगुप्सयोरुभयोर्विवक्षया कुणपदृष्टान्तोऽत्राभिहितः ।

स्त्री का गुह्यभाग (जननेन्द्रिय) और आर्द्रनाडी व्रण में कोई भेद न होने पर भी मन की वृत्ति के कारण प्रायः लोग धोखा खाते हैं। अपान वायु मल त्याग के मार्ग के दुर्गन्ध से दूषित चमड़े के दो अलग-अलग टुकड़ा रूप स्त्री के गुह्यस्थान में जो पुरुष रमण करते हैं, वे कीड़े के समान क्यों नहीं हैं ? अर्थात् कृमि=कीड़े के समान हैं।

इससे स्त्री के शरीर को स्पर्श करने का निषेध है, और उसमें जो निन्द्यतारूप दोष स्थित है, इन दोनों दोषों के कारण स्त्री का शरीर मुर्दे के समान है।

"येन पूर्णमिवाऽऽकाशं भवेत्येकेन सर्वदा ।
शून्यं यस्य जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥"

संसारिणामेकाकित्वेनावस्थानं भयालस्यादिहेतुत्वाद्वर्ज्यम् । जनसम्बन्धश्चातथाविधत्वादभ्युपेयः । योगिनस्तु तद्विपरीतत्वमेकाकित्वे सत्यविघ्नेन ध्यानानुवृत्तौ परिपूर्णेन परमानन्दात्मना सर्वमाकाशं पूर्णमिवावभासते । अतो भयालस्यशोकमोहादयो न भवन्ति ।

अद्वितीय आत्मा से सम्पूर्ण आकाश जिसको सदा पूर्ण के समान प्रतीत होता है और जिसको जनसमूह वाला स्थान जनरहित स्थान के समान प्रतीत होता है, उसे देवगण ब्राह्मण कहते हैं।

संसारी जीव को एकान्तवास, भय आलस्यादि का कारण होने से वर्ज्य है और जनसम्बन्ध वैसा न होने से ग्राह्य है। योगी के लिए इससे विपरीत—अर्थात् निर्जन स्थान में स्वयं अकेला होने से निर्विघ्नता से वह ध्यान कर सकता है, जिससे उसको परिपूर्ण परमानन्द स्वरूप परमातमतत्त्वद्वारा सम्पूर्ण आकाश पूर्ण के समान प्रतीत होता हैं, इससे उसको एकान्त प्रदेश में संसारी के समान भय आलस्यादिदोष नहीं होते हैं।

इस विषय में श्रुति कहती है—

"यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥"

इति श्रुतिः।

जनाकीर्णमिति जनसहितं स्थानं राजवार्त्तादिना ध्यानविरोधित्वादात्मप्रतीतिरहितं तच्छून्यमिव चित्तं क्लेशयति। जगतो मिथ्यात्वादात्मनः पूर्णत्वाच्चेत्यर्थः।

अतिवर्णाश्रमी सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे पञ्चमाध्याये परमेश्वरेण वर्णितः।

जिसकी दृष्टि में सब भूत आत्मा ही हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष को और एकता का अनुभव करने वाले योगी को शोक या मोह कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं होता है।

जनपूर्ण स्थान में राजा की या अन्य के विषय में बात होने से, वह स्थान, आनन्द स्वरूप आत्मा की प्रतीति से रहित शून्य चित्त को ध्यान का विरोधी होने से क्लेश पहुँचाता है, क्योंकि जगत् मिथ्या है, और आत्मा पूर्ण है अर्थात् आत्मा ही एकमात्र सत्य है।

अतिवर्णाश्रमी, इस संज्ञा से जीवन्मुक्त पुरुष का वर्णन सूत संहिता के मुक्ति खण्ड के पाँचवें अध्याय में किया गया है—

"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
अतिवर्णाश्रमी तेऽपि क्रमाच्छ्रेष्ठा विचक्षणाः॥"

ब्रह्मचारी से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से सन्न्यासी (विविदिषासन्न्यासी) और सन्न्यासी से अतिवर्णाश्रमी (जिसने ज्ञानद्वारा वर्णाश्रम धर्म्मों का त्याग कर दिया है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ है और सबसे श्रेष्ठ अतिवर्णाश्रमी है।

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम्।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तम !॥

हे पुरुषोत्तम—विष्णो! अतिवर्णाश्रमी, सब अधिकारी पुरुषों का गुरु है, जैसे मैं (सदाशिव) किसी का शिष्य नहीं हूँ, इसी प्रकार वह भी किसी का शिष्य नहीं है।

"अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते ।
तत्समो नाधिकश्चास्मिँल्लोकेऽस्त्येव न संशयः ॥"

अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरुओं का गुरु कहा जाता है, इस लोक में, उसके तुल्य या उससे अधिक कोई नहीं है, इसमें संशय नहीं है ।

"यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विभिन्नं सर्वसाक्षिणम् ।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयम्प्रभम् ॥
परं तत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

शरीर को इन्द्रियों से भिन्न, सबका साक्षी, नित्यज्ञानरूप, सुखस्वरूप और स्वयम्प्रकाश इस परम तत्त्व को जो जानता वह अतिवर्णाश्रमी कहा जाता है ।

यो वेदान्तमहावाक्यश्रवणेनैव केशव ! ।
आत्मानमीश्वरं वेद सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥
योऽवस्थात्रयनिर्मुक्तमवस्थासाक्षिणं सदा ।
महादेवं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

हे केशव ! जो पुरुष वेदान्त के महावाक्य के श्रवण के द्वारा ही अपनी आत्मा को ईश्वर से अभिन्न अनुभव करता है, वह अतिवर्णाश्रमी कहा जाता है । जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से रहित और सदा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी महादेव (ज्योतिस्वरूप) को जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है ।

"वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।
नाऽऽत्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ॥
इति यो वेदवेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

वर्णाश्रमादि देह का विषय है, आत्मा में देहरूप उपाधि के सम्बन्ध के कारण अविद्याद्वारा कल्पित है । मैं जो बोध स्वरूप हूँ, उसका किसी काल में भी वर्णाश्रमादि धर्म से सम्बन्ध नहीं है, ऐसा जो वेदान्त वाक्य द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी है ।

"आदित्यसन्निधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु ।
तथा मत्सन्निधावेव समस्तं चेष्टते जगत् ॥"

इति यो वेदवेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

जैसे प्रातःकाल में सूर्य्य भगवान् के उदय होते ही, उस समय सूर्य की सन्निधि में लोग अपने आप अपने कामों में लग जाते हैं, वैसे ही मेरे सम्बन्ध से ही सम्पूर्ण जगत् क्रियावान् होता है, इस प्रकार जो वेदान्त के वाक्य के द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

"सुवर्णहारकेयूरकटकस्वस्तिकादयः ।
कल्पिता मायया तद्वज्जगन्मय्येव सर्वदा ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

जैसे सुवर्ण में हार, बाजूबन्द, कड़ा, और स्वस्तिक आदि आकार कल्पित हैं, उसी प्रकार सारा जगत् मुझमें ही कल्पित है, इस प्रकार जो वेदान्तवाक्य के द्वारा जानता है वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

"शुक्तिकायां यथा तारं कल्पितं मायया तथा।
महदादि जगन्मायामयं मय्येव कल्पितम् ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

जैसे शीप में रूपा अविद्या के द्वारा कल्पित होता है, उसी प्रकार यह महत्तत्त्व आदि मायामय सारा जगत् मुझमें कल्पित है, ऐसा जो वेदान्त वाक्य के द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी है।

"चण्डालदेहे पश्वादिशरीरे ब्रह्मविग्रहे।
अन्येषु तारतम्येन स्थितेषु पुरुषोत्तम! ॥
व्योमवत्सर्वदा व्याप्तः सर्वसम्बन्धवर्जितः।
एकरूपो महादेवः स्थितः सोऽहं परामृतः ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

हे पुरुषोत्तम! चाण्डाल के देह में, पशु आदि के शरीर में, और ब्राह्मणशरीर में, उसी तरह परस्पर विलक्षणता से स्थित अन्य पदार्थों में, आकाश के समान सदा व्याप्त, एकरूप, जो महान् परमात्मा देव स्थित है, वह मरणधर्म-रहित मैं हूँ। इस प्रकार जो वेदान्तवाक्यद्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

"विनष्टदग्भ्रमस्यापि यथा पूर्वा विभाति दिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्मे भाति तन्नहि ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

जिस पुरुष को दिङ्मोह (दिशा की भ्रान्ति) हो जाता है उसे सूर्यादिग्रह की गति अवलोकन से उस मोह के छूट जाने पर भी संस्काररूप होने से वैसी प्रतीती होती है, उसी प्रकार, यह विश्व ज्ञान के द्वारा नाश होने पर भी मुझको केवल आभास रूप से प्रतीत होता है, वस्तुतः जगत कुछ नहीं है। इस प्रकार जो वेदान्त वाक्य के द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

"यथा स्वप्ने प्रपञ्चोऽयं मयि मायाविजृम्भितः ।
तथा जाग्रत् प्रपञ्चोऽपि मयि मायाविजृम्भितः ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

जैसे यह स्वप्न प्रपञ्च मुझमें माया कल्पित है। उसी प्रकार यह जाग्रत् प्रपञ्च भी मुझमें माया कल्पित है, इस प्रकार जो वेदान्तवाक्य के द्वारा जानता है, वह अतिवर्णाश्रमी होता है।

"यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णाश्रमान् सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

आत्म साक्षात्कार होने के पश्चात् जिसका वर्ण और आश्रम का आचार निवृत्त हो गया है। वह पुरुष सब वर्ण तथा आश्रम को अतिक्रम कर अपनी आत्मा में स्थित रहता है।

आत्मा के साक्षात्कार के द्वारा देहादि अभिमान निवृत्त होने से देह के साथ उसके वर्णाश्रमादि धर्मों का भी उस मुक्त पुरुष के द्वारा अतिक्रमण हो जाने से वह अतिवर्णाश्रमी होता है। परन्तु उस स्थिति की प्राप्ति के बिना प्रमाद, आलस्यादि दोष वश व्यवहार करने वाले, जिस पुरुष ने वर्णाश्रमाचार का त्याग किया है, वह पतित है।

"यस्त्यक्त्वा स्वाश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥"

जो अपने वर्णाश्रम के अभिमान को छोड़ कर केवल स्वरूप में ही स्थित है, उसको सभी वेदवेत्ता पुरुष अतिवर्णाश्रमी कहते हैं।

"न देहो नेन्द्रियं प्राणो न मनो बुद्ध्यहंकृती।
न चित्तं नैव माया च न च व्योमादिकं जगत् ॥
न कर्त्ता नैव भोक्ता च न च भोजयिता तथा।
केवलं चित् सदानन्दो ब्रह्मैवाऽऽत्मा यथार्थतः ॥
जलस्य चलनादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः।
तथाऽहङ्कारसंसारादेव संसार आत्मनः ॥
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि केशव !।
आत्मन्यारोपिता एव भ्रान्त्या ते नात्मवेदिनः ॥"

आत्मा देह नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, प्राण नहीं है, मन नहीं है, बुद्धि नहीं है, अहङ्कार नहीं है, चित्त नहीं है, माया नहीं है, आकाशादि जगत् नहीं है, कर्त्ता नही है, भोक्ता नहीं है, भोगनेवाला नहीं है, वह तो यथार्थ दृष्टि से केवल सत् चित् आनन्द ब्रह्मरूप है। जैसे जल के डोलने से मूर्तिरूप जल में स्थित सूर्य में चञ्चलता प्रतीत होती है, उसी प्रकार सारा जगत् अहङ्कार में होने पर भी उसके तादात्म्याध्यास से आत्मा मिथ्या रूप से प्रतीत होता है। अतः हे केशव ! वर्ण और आश्रम जो अन्य का [अहङ्कार का] धर्म है, वह केवल अज्ञजन को भ्रान्ति के कारण आत्मा में आरोपित है; अत एव आत्मज्ञ पुरुष को यहाँ भ्रम नहीं होता है।

"न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना।
आत्मविज्ञानिनामस्ति तथा नान्यज्जनार्दन ! ॥
आत्मविज्ञानिनां निष्ठामहं वेदाम्बुजेक्षण !।
मायया मोहिता मर्त्या नैव जानन्ति सर्वदा ॥
न मांसचक्षुषा निष्ठा ब्रह्मविज्ञानिनामियम्।
द्रष्टुं शक्या स्वतः सिद्धा विदुषां सैव केशव ! ॥
यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी।
प्रबुद्धो यत्र ते विद्वान् सुषुप्तस्तत्र केशव ! ॥

एवमात्मानमद्वन्द्वं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
नित्यशुद्धं निराभासं चिन्मात्रं परमामृतम् ॥
यो विजानाति वेदान्तैः स्वानुभूत्या च निश्चितम् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः स एव गुरुरुत्तमः ॥" इति ।

तदेवं "विमुक्तश्च विमुच्यते" इत्यादिश्रुतयो जीवन्मुक्तस्थितप्रज्ञभगवद्भक्तगुणातीतब्राह्मणातिवर्णाश्रमिप्रतिपादकस्मृतिवाक्यानि च जीवन्मुक्तिसद्भावे प्रमाणानीतिस्थितम् ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्तिविवेके प्रथमं
जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरणम् ॥ १ ॥

आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष को विधि, निषेध, वर्ज्य, अवर्ज्य की कल्पना नहीं रहती है, उसी प्रकार हे जनार्दन ! अन्य लौकिक व्यवहार भी नहीं है, हे कमल के समान नेत्रवाले विष्णो ! आत्मज्ञानी की निष्ठा को मैं जानता हूँ, माया के मोहवश जीव कभी भी नहीं जान सकता है, ब्रह्मवित् पुरुष की यह निष्ठा केवल मांसमय नेत्र से नहीं देखी जा सकती है। हे केशव ! विद्वान् पुरुष की यह स्वतः सिद्ध निष्ठा है। जिस समय मनुष्य सोता है, उस समय विद्वान् जागता है, और जिस समय विद्वान् सोता है, उस समय मनुष्य जागता है। इस प्रकार अद्वितीय, निर्विकार, निरावरण, नित्यशुद्ध, आभासरहित, चैतन्यस्वरूप, और सदा मरणधर्मरहित ऐसी आत्मा को जो पुरुष वेदान्तवाक्य के द्वारा और अपने अनुभव से साक्षात् अनुभव करता है, वही निश्चय रूप से अतिवर्णाश्रमी कहा जाता है और वही उत्तम गुरु है।

इस प्रकार 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवचन का तथा जीवन्मुक्त, गुणातीत, ब्राह्मण, और अतिवर्णाश्रमी के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले स्मृतिवाक्य जीवन्मुक्ति के सद्भाव में प्रमाणरूप से हैं।

जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ द्वितीयं वासनाक्षयप्रकरणम् ।

अथ जीवन्मुक्तिसाधनं निरूपयामः ।

तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयास्तत्साधनम् । अत एव वासिष्ठ-रामायण उपशमप्रकरणस्यावसाने "जीवन्मुक्तिशरीराणाम्" इत्यस्मिन्प्रस्तावे वसिष्ठ आह—

"वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ! ।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदायिनः ॥" इति ।

अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह—

अब जीवन्मुक्ति के साधन का निरूपण करते हैं ।

तत्त्वज्ञान वासनाक्षय और मन का नाश ये तीनों मिलकर जीवन्मुक्ति के साधन हैं । इसीलिये योगवासिष्ठ के उपशम प्रकरण के अन्त में जीवन्मुक्ति का वर्णन है—

हे महामति रामचन्द्र ! वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान, और मनोनाश का दीर्घकालपर्य्यन्त अभ्यास करने से ये फल देने वाले होते हैं ।

वासनाक्षयादि तीन साधनों का अन्वय (इन तीनों के अभ्यास से जीवन्मुक्तिरूप फल होता है) बताया, अब इनका व्यतिरेक (इन तीनों का साथ-साथ अभ्यास न करने से पूर्वोक्त फल नहीं होता है) इसका निरूपण करते हैं—

"त्रयमेते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥" इति ।

समकालाभ्यासाभावे बाधकमाह—

जब तक इन तीनों का बार-बार भली-भाँति एक साथ अभ्यास न किया जाय, तब तक सैकड़ों वर्षों में भी परमात्मपद की प्राप्ति नहीं होती है ।

तीनों का एक साथ अभ्यास न किये जाने पर उसमें बाधा का निरूपण कर रहे हैं—

"एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम् ।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः सङ्कलिता इव ॥ इति ।

यथा सन्ध्यावन्दने मार्जनेन सह विनियुक्तानां "आपो हिष्ठा" इत्यादीनां तिसृणामृचां मध्ये प्रतिदिनमेकैकस्या ऋच पाठे शास्त्रीयानुष्ठानं न सिद्ध्यति । यथा वा षडङ्गमन्त्राणामेकैकमन्त्रेण न सिद्धिः । यथा वा लोके शाकसूपौदनादीनामेकैकेन न भोजनसिद्धिस्तद्वत् ।

चिराभ्यासस्य प्रयोजनमाह—

यदि इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग बहुत दिनों तक भली-भाँति सेवन किया जाय तब भी वे एक क्रम में सह विनियुक्त मन्त्रों के समान फल नहीं देते हैं।

जैसे सन्ध्यावन्दन में मार्जन के लिये एक साथ विनियोग की गई तीन ऋचायें हैं, उनमें से प्रतिदिन एक-एक ऋचा को पढ़ने से यथाशास्त्र मार्जन कर्म सिद्ध नहीं होता है। अथवा जैसे श्रीसदाशिव के ऊपर अभिषेक करने में विनियुक्त षडङ्ग मन्त्रों में से प्रतिदिन एक-एक मन्त्र के द्वारा अभिषेक करने से अभिषेक रूप शास्त्रीय कर्म की यथार्थ सिद्धि नहीं होती है। या जैसे जगत् में शाक, दाल, भात आदि में से केवल एक ही पदार्थ के आहार से यथार्थ भोजन की सिद्धि नहीं होती है। उसी प्रकार वासना क्षय तत्त्वज्ञान, और मन के नाश से एक-एक का पृथक्-पृथक् सेवन करने से जीवन्मुक्तिरूप अलौकिक फल की सिद्धि नहीं होती है।

"त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
निःशङ्कमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद् गुणा इव ॥" इति ।

तस्यैव व्यतिरेकमाह—

तत्त्वज्ञान आदि पूर्वोक्त तीनों के चिरकाल तक अभ्यास करने से हृदय की दृढ़ गाँठें, जैसे कमल दण्ड को तोड़ने से उसके सूत टूट जाते, उसी प्रकार टूट जाती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उसी पूर्वोक्त अर्थ को व्यतिरेक के द्वारा कहते हैं—

"जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम ! संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥" इति ।

न केवलमेकैकाभ्यासे फलाभावः किन्तु तत्स्वरूपमपि न सिद्ध्यतीत्याह—

हे राम ! अनेक जन्मों से परिचित जो संसार की संस्थिति है, उसका, तत्त्वज्ञान आदि तीनों के दीर्घकाल तक अभ्यास के विना कभी नाश नहीं हो सकता है।

तत्त्वज्ञान, मनोनाश, और वासनाक्षय में से केवल एक-एक का अलग-अलग अभ्यास करने से कोई फल नहीं होता है, इतना ही नहीं वरन् उस प्रत्येक स्वरूप की भी सिद्धि नहीं होती है, इसी विषय का प्रतिपादन कर रहे हैं—

"तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितानि हि ॥" इति ।

त्रयाणामेतेषां मध्ये द्वयोर्द्वयोर्मेलनेन त्रीणि द्वन्द्वानि भवन्ति । तत्र मनोनाशवासनाक्षयद्वन्द्वस्यान्योऽन्यकारणत्वं व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—

तत्त्वज्ञान, मनोनाश, और वासनाक्षय, ये तीनों परस्पर कारणता को प्राप्त करने पर इनमें प्रत्येक असाध्य है।

इन तीनों में से दो-दो का योग करने से तीन युग्म (जोड़ा) बनते हैं। उनमें मनोनाश वासनाक्षय नाम के जोड़े की परस्पर कारणता को व्यतिरेक के[1] द्वारा निरूपण कर रहे हैं।

"यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥"

प्रदीपज्वालासन्तानवद्वृत्तिसन्तानरूपेण परिणममानमन्तःकरणद्रव्यं मननात्मकत्वान्मन इत्युच्यते । तस्य नाशो नाम

---

१. परस्पर के सद्भाव को 'अन्वय' और परस्पर के अभाव से परस्पर केभाव को 'व्यतिरेक' कहते हैं।

वृत्तिरूपपरिणामं परित्यज्य निरुद्धत्वाकारेण परिणामः। तथा च पतञ्जलिर्योगशास्त्रे सूत्रयामासः—

"व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः" यो० सू० ३।९ इति ॥

व्युत्थानसंस्कारा अभिभूयन्ते। निरोधसंस्कारा प्रादुर्भवन्ति। निरोधयुक्तः क्षणश्चित्तेनान्वीयते। सोऽयं मनोनाश इत्यवगन्तव्यम्। पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारो वासना। पूर्वापूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात्। तस्याश्च वासनायाः क्षयो नाम विवेकजन्यानां शान्तिदान्तिशुद्धवासनायां दृढायां सत्यपि बाह्यनिमित्ते क्रोधाद्यनुत्पत्तिः तत्र मनोनाशाभावे वृत्तिषूत्पद्यमानासु कदाचिद् बाह्यनिमित्तेन क्रोधाद्युत्पत्तेर्नास्ति वासनाक्षयः। अक्षीणायां च वासनायां तथैव वृत्त्युत्पादनान्नास्ति मनोनाशः। तत्त्वज्ञानमनोनाशयोः परस्परकारणत्वं व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—

जब तक मन का विलय नहीं होता है, तब तक वासनाओं का क्षय नहीं होता है, इसी प्रकार जब तक वासनायें क्षीण नहीं होती हैं, तब तक चित्त भी शान्त नहीं होता है।

दीप की शिखा के समान वृत्तिनामक शिखा या सन्तानरूप में परिणाम को प्राप्त कर अन्तःकरण नामक द्रव्य ही मननरूप होने से मन कहलाता है। इसका नाश अर्थात् वृत्तिरूप परिणाम निवृत्त होने से उसका निरुद्धाकार परिणाम हो जाता है।

यह बात भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र में कही है—

जब चित्तगत व्युत्थानसंस्कार (स्फुरण होना संस्कार) शान्त हो जाता, और निरोध संस्कार प्रकट होता है, तब चित्त निरोधयुक्त के अनुकूल होता है, यह चित्त का निरोधपरिणाम कहा जाता है।

इस प्रकार के चित्त के निरोध परिणाम को ही मनोनाश समझना चाहिए। पूर्वापर विचार किये विना अकस्मात् अन्तःकरण से उठी हुई क्रोधादिवृत्तियों का हेतुरूप जो चित्तगत संस्कार है उसका नाम

वासना है। पूर्व-पूर्व के अभ्यास से संस्कार चित्त में स्थित होता है, अत एव संस्कार को वासना कहा जाता है। उस वासना का क्षय अर्थात् विवेकजन्य शम दम आदि शुद्ध वासनाओं के दृढ़ होने से उसके बाह्य उद्‌बोधक साधन के सान्निध्य होने पर भी क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में मनोनाश के अभाव से वृत्तियों के उत्पन्न होने पर कदाचित् बाह्य निमित्तों के द्वारा क्रोधादि की उत्पत्ति से वासना का क्षय नहीं होता है। इसी प्रकार वासना का क्षय न होने पर वासना के कारण वृत्तियों का स्फुरण होने से मन का नाश नहीं होता है। इसलिये दोनों का एकसाथ अभ्यास करना आवश्यक है।

तत्त्वज्ञान और मनोनाश की परस्पर कारणता व्यतिरेक द्वारा कह रहे हैं—

"यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः।
यावन्नचित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥" इति।

इदं सर्वमात्मैव प्रतीयमानं रूपरसादिकं जगन्मायामयं न त्वेतद्वस्तुतोऽस्तीति निश्चयस्तत्त्वज्ञानम्। तस्याऽनुत्पत्तौ रूपरसादिविषयाणां सद्भावे सति तद्गोचराश्चित्तवृत्तयो न निवारयितुं शक्यन्ते। यथा प्रक्षिप्यमाणेष्विन्धनादिषु वह्निज्वाला न वार्यन्ते तद्वत्। असति च चित्तोपशमे वृत्तिभिर्गृह्यमाणेषु रूपादिषु सत्सु "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इति श्रुतेः "यजमानः प्रस्तरः" इत्यादेरिव प्रत्यक्षविरोधशङ्कया ब्रह्माद्वितीयमित्येतादृशस्तत्त्वनिश्चयो नोदियात्।

वासनाक्षयतत्त्वज्ञानयोः परस्परकारणत्वं व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—

जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता है तब तक चित्त की शान्ति कहाँ? और चित्त की शान्ति नहीं होती है, तब तक तत्त्वज्ञान भी नहीं होता है।

'ये जो कुछ प्रतीत होते हैं, वे आत्मा ही हैं, रूप रसादि अनेक वस्तु स्वरूप जगत्, मायामय है, वस्तुतः वे नहीं ही हैं, इस प्रकार जो निश्चय उसका नाम 'तत्त्वज्ञान' है। जब तक तत्त्वज्ञान उत्पन्न

नहीं होता है, तब तक रूपरसादि विषयों का सद्भाव ज्यों का त्यों बना रहने से, उन विषयों का निवारण नहीं हो सकता है। जैसे अग्नि में इन्धन जब तक डालते रहेंगे, तब तक उसकी ज्वाला की शान्ति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार "यजमानः प्रस्तरः" (दर्भमुष्टि यजमान है) इस वाक्य के सुनने वाले पुरुष को दर्भमुष्टि में अचेतन का और यजमान में चेतन का अनुभव होने से, उसको जैसे 'यजमानः प्रस्तरः' इसवाक्य के अर्थ में प्रत्यक्ष विरोध प्रतीत होता है, उसी प्रकार जब तक जिस पुरुष के मन का नाश नही होता है, तब तक उस पुरुष की प्रवृत्ति के द्वारा विषयों का साक्षात् अनुभव होने से "नेह नानास्ति किञ्चन" (यहाँ अनेक वस्तु कुछ भी नहीं हैं) इस श्रुति में प्रत्यक्ष विरोध की शङ्का के उत्पन्न होने के कारण पूर्वोक्त श्रुति वाक्य से "अद्वितीय ब्रह्म है, उससे भिन्न अन्य किसी पदार्थ की सत्ता है ही नही" इस प्रकार का तत्त्व निश्चय नहीं होता है, अत एव मन का नाश एवं तत्त्वज्ञान की परस्पर कारणता व्यतिरेक द्वारा कही गई है।

"यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥" इति।

क्रोधादिवासनास्वनष्टासु शमादिसाधनाभावान्न तत्त्वज्ञानमुदेति। अज्ञाते चाद्वितीयब्रह्मतत्त्वे क्रोधादिनिमित्तस्य सत्यत्वभ्रमानपायान्न वासना हीयते। तथोक्तानां त्रयाणां द्वन्द्वानामन्योन्यकारणत्वमन्वयमुखेन वयमुदाहरामः। मनसि नष्टे सति संस्कारोद्बोधकस्य बाह्यनिमित्तस्याप्रतीतौ वासना क्षीयते, क्षीणायां च वासनायां हेत्वभावेन क्रोधादिवृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति। तदिदं मनोनाशवासनाक्षयद्वन्द्वम्। "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इतिश्रुतेरात्मैक्याभिमुखवृत्तेर्दर्शनहेतुत्वादितरकृत्स्नवृत्तिनाशस्य तत्त्वज्ञानहेतुत्वमवगम्यते। सति च तत्त्वज्ञाने मिथ्याभूते जगति नरविषाणादाविव धीवृत्त्यनुदयादात्मनश्च दृष्टत्वेन पुनर्वृत्त्यनुपयोगान्निरिन्धनाग्निवन्मनो नश्यति। तदिदं मनोनाशतत्त्वज्ञानयोर्द्वन्द्वम्। तत्त्वज्ञानस्य क्रोधादिवासनाक्षयहेतुतां वार्तिक-

कार आह—

जब तक वासना का क्षय नहीं होता हैं, तब तक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती है। उसी प्रकार जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता है, तब तक वासना का क्षय नहीं होता हैं।

जब तक क्रोधादिवासना का नाश नहीं होता है तब तक ज्ञान का शम दमादि साधनों का अभाव होने से तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है। उसी प्रकार जब तक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव नहीं होता है तब तक क्रोधादि वृत्तियों के कारण सत्यता की भ्रान्ति निवृत्त न होने से वासना का भी क्षय नहीं होता है। मनोनाश और वासनाक्षय का युग्म, तत्त्वज्ञान और मनोनाश का युग्म, और वासना-क्षय तथा तत्त्वज्ञान का युग्म इन तीन द्वन्द्वों की परस्पर कारणता को व्यतिरेक के द्वारा सप्रमाण बताया हैं। अब इन तीनों की परस्पर कारणता को व्यतिरेक द्वारा कह रहे हैं।

जब मन का नाश हो जाता है, तब संस्कारों के उद्‌बोधक बाह्य निमित्तों की प्रतीति न होने से वासना का नाश होता है। उसी प्रकार वासना के क्षय होने से क्रोधादिवृत्तियों को प्रकट करने वाले हेतुओं (वासनाओं) का नाश होने से वे वृत्तियाँ उदित नहीं होती हैं, अत एव मन का भी नाश होता है। यह मनोनाश और वासना क्षय के नाम के युग्म की परस्पर कारणता बतलायी गयी। 'दृश्यते त्व०' 'एकाग्र हुई बुद्धिद्वारा आत्मसाक्षात्कार होता हैं' इस श्रुति से अद्वितीय आत्मा को अभिमुख करनेवाली वृत्ति आत्मसाक्षात्कार में कारणरूप होने से इतर सभी वृत्तियों का नाश इस तत्त्वज्ञान का कारण है, ऐसा प्रतीत होता है। तत्त्वज्ञान के बाद नरविषाण के समान मिथ्या जगत् में बुद्धिवृत्ति का उदय नहीं होता है और आत्मा का साक्षात्कार हो गया है, अत एव उसकी पुनः वृत्ति का उपयोग ही नहीं है। अत एव जैसे इन्धन के अभाव से अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है इसी प्रकार वृत्ति का भी किसी भी विषय में जाने का प्रयोजन न होने से स्वयं मन शान्त हो जाता है इस प्रकार तत्त्वज्ञान और मनोनाश के युग्म में भी परस्पर कारणता कही गई है।

तत्त्वज्ञान इस क्रोधादिवासना के क्षय का कारण है, ऐसा वार्तिक-कार ने कहा है—

"रिपौ बन्धौ स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥" इति ॥

क्रोधादिवासनाक्षयरूपस्य शमादेर्ज्ञानहेतुत्वं प्रसिद्धम् । वसिष्ठोऽपि ।

प्रत्येक अवयवों का भिन्न-भिन्न अभिमानी नहीं है। परन्तु अवयव समुदायरूप सम्पूर्ण शरीर का अभिमानी मैं एक हूँ, इस प्रकार जो समझता है, वह पुरुष, एक अङ्गद्वारा अन्य अङ्ग को मारने पर, इस मारने वाले अवयव पर जैसे क्रोध नहीं करता है उसी प्रकार विवेकी पुरुष, जो शत्रु में, बन्धु में, और अपने शरीर में एक ही आत्मा का अनुभव करता है, उसे शत्रु आदि पर क्रोध कहाँ से हो सकता है? अर्थात् नहीं होता है।

क्रोधादिवासना का क्षय रूप शमादिगुण ज्ञान का साधक है—यह बात तो प्रसिद्ध है। भगवान् वसिष्ठ मुनि भी कहते हैं कि—

"गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथा ज्ञता ।
परस्परं विवर्धेते द्वे पद्मसरसी इव ॥" इति ।

तदिदं वासनाक्षयतत्त्वज्ञानयोर्द्वन्द्वम्। तत्त्वज्ञानादीनां त्रयाणां सम्पादने साधनमाह—

ज्ञान से शमादिगुणों की प्राप्ति होती है, और शमादिगुणों से ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार से कमल और सरोवर के जल की भाँति दोनों एक दूसरे के आश्रय से बढ़ते हैं।

यह वासनाक्षय और तत्त्वज्ञान का युग्मभाव भी कहा गया है। अब तत्त्वज्ञान आदि तीनों के सम्पादन करने का साधन कहते हैं—

"तस्माद् राघव! यत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत् समाश्रयेत् ॥" इति ॥

पौरुषो यत्नः केनाप्युपायेनावश्यं सम्पादयिष्यामीत्येवं-विधोत्साहरूपो निर्बन्धः। विवेको नाम विभज्य निश्चयः। तत्त्व-ज्ञानस्य श्रवणादिकं साधनम्, मनोनाशस्य योगः। वासना-

क्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति । भोगेच्छायाः स्वल्पाया अभ्युपगमे—

"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते"

इति न्यायेनातिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् दूरत इत्युक्तम् ।

ननु पूर्वत्र विविदिषासंन्यासस्य तत्त्वज्ञानं फलम्, विद्वत्संन्यासस्य जीवन्मुक्तिव्यवस्था वर्णिता, तथा च सति प्रथमतस्तत्त्वज्ञानं सम्पाद्य पश्चाद्विद्वत्संन्यासं कृत्वा जीवतः स्वस्य बन्धरूपयोर्वासनामनोवृत्त्योर्विनाशः सम्पादनीय इति प्रतिभाति, अत्र तु तत्त्वज्ञानादीनां सहैवाभ्यासो नियम्यतेऽतः पूर्वोत्तरविरोध इति चेत् । नायं दोषः । प्रधानोपसर्जनभावेन व्यवस्थोपपत्तेः । विविदिषासंन्यासिनस्तत्त्वज्ञानं प्रधानम् । मनोनाशवासनाक्षयावुपसर्जनीभूतौ । विद्वत्संन्यासिनस्तु तद्वैपरीत्यम् । अतः सहाभ्यास उभयत्राऽप्यविरुद्धः । न च तत्त्वज्ञानोत्पत्तिमात्रेण कृतार्थस्य किमुत्तरकालीनेनाभ्यासप्रयासेनेति शङ्कनीयम् । जीवन्मुक्तिप्रयोजननिरूपणेन परिहरिष्यमाणत्वात् ।

ननु विद्वत्संन्यासिनो वेदनसाधनश्रवणाद्यनुष्ठानवैफल्याद्वेदनस्य च स्वरूपेण कर्तुमन्यथा कर्त्तुमशक्यस्याननुष्ठेयत्वादुपसर्जनेनाप्युत्तरकालीनोऽभ्यासः कीदृश इति चेत्? केनापि द्वारेण पुनः पुनस्तत्त्वानुस्मरणमिति ब्रूमः । तादृशश्चाभ्यासो लीलोपाख्याने दर्शितः ।

इसलिये हे राघव ! विवेकी पुरुष के प्रयत्न के द्वारा अपनी भोग की सारी इच्छाओं को सर्वथा त्याग कर तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय का भली भाँति आश्रयण करे ।

'किसी भी प्रकार मैं अवश्य इष्ट फल को सम्पादन करूँगा' इस प्रकार उत्साहरूप जो निश्चय वह 'पुरुष प्रयत्न' कहा जाता है । विवेचन पूर्वक जो निश्चय उसका नाम 'विवेक' है । तत्त्वज्ञान का,

श्रवण, मनन, और निदिध्यासन साधन है। मनोनाश का साधन योग है और वासनाक्षय का उपाय विरोधी वासना का उत्पादन कराना है। "घृतद्वारा जैसे बुझी हुई अग्नि पुनः जलने लगती है उसी प्रकार तृष्णा पुनः बढ़ जाती है"। इस न्याय से थोड़े भोग की इच्छा स्वीकार करने पर वह इतनी वृद्धि को प्राप्त हो जाती है, कि उसका निवारण कठिन या अशक्य हो जाता है, अत एव उसका निःशेषरूप से त्याग करे ऐसा कहा है।

शङ्काः—विविदिषा संन्यास का 'तत्त्वज्ञान' फल है और विद्वत्संन्यास का 'जीवन्मुक्ति' फल है, ऐसी व्यवस्था पूर्व में प्रदर्शित की गई है, इस पूर्वोक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञान सम्पादन कर जीवनपर्य्यन्त बन्धनरूप वासना और मनोनाश अर्थात् वृत्तियों का नाश करे और यहाँ तो तत्त्वज्ञान आदि तीनों का एक साथ अभ्यास करे ऐसा नियम किया जा रहा है। अत एव पूर्वापर विरोध आता है।

उत्तरः—विविदिषा संन्यासी को तत्त्वज्ञान का अभ्यास प्रधानरूप से करना चाहिये, और वासनाक्षय, मनोनाश का अभ्यास गौणभाव से करना उचित है, और विद्वत्संन्यासी को इसके विपरीत करना चाहिए। अर्थात् उसको तत्त्वज्ञान का अभ्यास गौणभाव से और वासनाक्षय, एवं मनोनाश के निमित्त की प्रधानता से अभ्यास करना कर्त्तव्य है, अत एव विद्वत्संन्यासी को गौणप्रधान भाव से तीनों का एकसाथ अभ्यास करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है।

शङ्काः—तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति मात्र से ही कृतकृत्यता को प्राप्त पुरुष को फिर मनोनाश और वासनाक्षय के लिये परिश्रम किस लिये करना चाहिये ?

उत्तरः—इस प्रश्न का समाधान जीवन्मुक्ति के प्रयोजन के निरूपण समय आगे करेंगे।

शङ्काः—विद्वत्संन्यासी को पूर्वकाल में ही ज्ञान प्राप्त हो गया है, अत एव उसके लिए श्रवणादिसाधनों का अनुष्ठान व्यर्थ है, और तत्त्वज्ञान स्वतः या श्रवणादि व्यतिरिक्त साधनों द्वारा नहीं होता है, अत एव तत्त्वज्ञान का गौणभाव से अभ्यास भी कैसा होता है ?

उत्तरः—किसी प्रकार पुनः-पुनः तत्त्व का स्मरण करना यही अभ्यास समझना चाहिए।

यह अभ्यास योगवासिष्ठ रामायण के लीला नामक उपाख्यान में कहा गया है—

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् ॥" इति ।

मनोनाशवासनाक्षयाभ्यासावपि तत्रैव दर्शितौ—

उसी का चिन्तन, उसी का कथन, परस्पर उसी का बोधन और उसी विषय में परायण रहना, विद्वान् की दृष्टि में ब्रह्म का अभ्यास हैं। यह दृश्य जगत् और मैं सृष्टि के आदि काल में ही उत्पन्न न हुआ और तीनों काल में नहीं हूँ, इस प्रकार के विचार का नाम श्रेष्ठ ब्रह्माभ्यास है।

मनोनाश और वासनाक्षय का अभ्यास भी 'लीला आख्यान में ही दिखाया है—

"अनन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते तत्राभ्यासिनः स्थिताः ॥" इति ।

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वधीरभावसम्पत्तिः । स्वरूपेणाप्यप्रतीतिरत्यन्ताभावसम्पत्तिः । युक्तिर्योगः । सोऽयं मनोनाशाभ्यासः ।

'जो पुरुष, ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु के अत्यन्त अभाव की प्रतीति होने से, शास्त्र तथा मुक्ति द्वारा प्रयत्न करता है, उसका नाम अभ्यासी है।

ज्ञाता और ज्ञेय के विषय में मिथ्यात्वबुद्धि यह उसके अभाव की प्रतीति है और उसके स्वरूप की भी अप्रतीति उस ज्ञाता और ज्ञेय की अत्यन्ताभाव की प्रतीति की गणना में है। युक्ति अर्थात् योग साधन समझना चाहिए। योगाभ्यास और सत् शास्त्रों के अभ्यास से जो ज्ञाता और ज्ञेयादि सारे संसार की अप्रतीति होने का यत्न करता है, उसी का नाम ब्रह्माभ्यासी है। इस प्रकार का अभ्यास, मनोनाश का अभ्यास है।

"दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्नवोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ॥" इति ।

सोऽयं वासनाक्षयाभ्यासः । तेष्वेतेषु त्रिष्वभ्यासेषु साम्येन प्रतीयमानेषु प्रधानोपसर्जनभावेन न विवेक्तुं शक्यत इति चेत् । मैवम् । प्रयोजनानुसारेण विवेक्तुं शक्यत्वात् । मुमुक्षोः पुरुषस्य जीवन्मुक्तिर्विदेहमुक्तिश्चेति प्रयोजनद्वयम् । अत एव दैवसम्पदा मोक्षः, आसुरसम्पदा बन्धः । एतच्च षोडशाध्याये भगवताऽभिहितम् ।

दृश्य के असम्भव का ज्ञान होने से रागद्वेषादि शून्य विषय में रति का उदय नहीं हो पाता है, इसका नाम ब्रह्माभ्यास है । इसको वासनाक्षय का अभ्यास भी कहते हैं ।

शङ्का:—इन तीनों प्रकार के अभ्यास एक से जान पड़ते हैं, अत एव इसका अभ्यास प्रधान और इसका अभ्यास गौण है, इसका विवेक किस तरह हो सकता है ?

समाधान:—प्रयोजनवश उनका विवेक हो सकता है, जैसे—

मुमुक्षु पुरुष को जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दो प्रयोजन है। इसीलिये "विमुक्तश्च विमुच्यते" ऐसा श्रुति भी कहती है । अत एव दैवी सम्पत्ति द्वारा मोक्ष होता है एवं आसुरी सम्पत्ति से बन्धन होता है, यह बात भगवद्गीता के १६ वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कही है—

"दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता ॥" इति ।

ते च सम्पदौ तत्रैवाभिहिते—

दैवी सम्पत्ति मोक्ष के लिये और आसुरी सम्पत्ति बन्धन के लिये है ।

इन दो प्रकार की सम्पत्तियों का वर्णन गीता के १६ वें अध्याय में किया गया है—

"अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥" इति ।

पुनरप्याध्यायपरिसमाप्तेरासुरसम्पत्प्रपञ्चिता । तत्राशास्त्रीयायाः स्वभावसिद्धाया आसुरसम्पदो दुर्वासनायाः शास्त्रीयया पुरुषप्रयत्नसाध्यया दैवसम्पदा सद्वासनया क्षये सति जीवन्मुक्तिर्भवति । वासनाक्षयवन्मनोनाशस्यापि जीवन्मुक्तिहेतुत्वं श्रूयते ।

श्रीभगवान् ने कहा—अभय, चित्तकी शुद्धि, ज्ञान प्राप्ति का उद्योग, दान, इन्द्रियों का संयम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप, आर्जव (सीधापन), अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग (उदारता), शान्ति, चुगली न करना, प्राणियों पर दया, विषयों में लोलुप न होना, मृदुता, लज्जा, चपलता का त्याग, प्रौढ़ता, क्षमा, धीरता, शौच (बाहर भीतर से शुद्धि), अद्रोह, और अनतिमानिता (अपने में पूज्यत्व की भावना का अभाव अर्थात् 'मैं अधिक आदरणीय हूँ' इस प्रकार की दुर्भावना से रहित होना)—ये सब हे भारत ! दैवी सम्पत्ति भोगने के लिए जन्म पानेवालों को प्राप्त होते हैं। हे पार्थ ! दम्भ, गर्व, मान, क्रोध, कठोरपन और अज्ञान, ये सब आसुरी सम्पत्ति भोगने के लिये जन्म पाने वाले पुरुषों को प्राप्त होते हैं।

इस आसुरी सम्पत्ति का वर्णन भगवद्गीता अ० १६ की समाप्ति तक किया गया है। शास्त्रीय पुरुषार्थ से साध्य शुभ वासनारूप दैवीसम्पत्ति द्वारा जब अशास्त्रीय स्वाभाविक दुर्वासनारूप आसुरी सम्पत्ति का क्षय हो जाता है, तब जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है।

वासनाक्षय के समान मनोनाश भी जीवन्मुक्ति का कारण है, यह बात श्रुति में कही गयी है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥
निरस्ताविषयासङ्गं सन्निरुद्धो मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्हृदिगतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः ॥" इति ।

बन्धो द्विविधः तीव्रः मृदुश्च । तत्राऽऽसुरसम्पत्साक्षादेव क्लेशहेतुत्वात्तीव्रो बन्धः । द्वैतमात्रप्रतीतिस्तु स्वयमक्लेशरूपत्वादासुरसम्पदुत्पादकत्वाच्च मृदुर्बन्धः, तत्र वासनाक्षयेण तीव्रबन्ध एव निवर्त्यते मनोनाशेन तूभयम् । तर्हि मनोनाशेनैवालं वासनाक्षयस्तु निरर्थक इति चेन्न । भोगहेतुना प्रबलेन प्रारब्धेन व्युत्थापिते मनसि वासनाक्षयस्य तीव्रबन्धनिवारणार्थत्वात् । भोगस्य मृदुबन्धेनाप्युपपत्तेः । तामसवृत्तयस्तीव्रबन्धः । सात्त्विकराजसवृत्तिद्वयं मृदुबन्धः ।

मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है, विषय में आसक्त मन बन्धन का कारण है, और निर्विषय होने से मन मुक्ति का हेतु है, यतः इस निर्विषय मन की मुक्ति मान ली है, इसलिये मुमुक्षु पुरुष को नित्य अपने मन को विषय से अलग रखना चाहिये, विषय-संसर्गरहित हृदय में निरोध करने पर मन जब उन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है, उस समय, वह परम पद ब्रह्म रूप हो जाता है। जब तक उसका क्षय न हो तब तक उसका हृदय देश में निरोध करे। 'मन का निरोध' यही ज्ञान और ध्यान है, उसके सिवाय और सब तो युक्तियों का विस्तार है।

तीव्रबन्ध और मृदुबन्ध के रूप में बन्ध दो प्रकार का है। इनमें से आसुरी सम्पत्ति साक्षात् क्लेश का हेतु होने से तीव्र बन्ध की गिनती में है और द्वैतमात्र की अप्रतीति स्वतः क्लेश रूप नहीं है, तब भी आसुरी सम्पत्ति को उत्पन्न करनेवाली है। इसलिये वह मृदुबन्ध मानी जाती है। इसमें वासना के क्षय से तीव्र बन्ध निवृत्त होता है और मनोनाश से दोनों प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति होती है।

शङ्का:—यदि ऐसा माना जाय, तो मन के नाश से कार्य सम्पन्न हो जायगा, अतः वासनाक्षय का कोई प्रयोजन नहीं।

समाधान:—भोग देने वाले प्रबल प्रारब्ध से जब मन का व्युत्थान होता है, उस समय तीव्र बन्ध के निवारण के लिये वासनाक्षय की अपेक्षा होती है। क्योंकि भोग की सिद्धि तो विषय की प्रतीति रूप मृदुबन्ध से भी हो सकती है। तामसी वृत्तियाँ तीव्रबन्ध है। सात्त्विक और राजस वृत्तियाँ मृदुबन्ध है। एतच्च—

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।"

इत्यत्र स्पष्टीकृतम्। एवञ्च सति मृदुबन्धस्याभ्युपेयत्वात् तीव्रबन्धस्य वासनाक्षयेणैव निवृत्तेरनर्थको मनोनाश इति चेन्न। दुर्बलप्रारब्धापादितानामवश्यम्भाविभोगानां प्रतीकारार्थत्वात्। तादृग्भोगस्य प्रतीकारनिर्वर्त्यत्वमभिप्रेत्येदमाहुः।

दुःखों से जिसका मन उद्विग्न नहीं होता है एवं सुखों में अभिलाषा-रहित है। यह विषय इस श्लोक के व्याख्यान करते समय स्पष्ट किया है।

शङ्का:—इस उपरोक्त वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि मृदुबन्ध रहने पर भी कोई हानि नहीं है। केवल हानिकारक तीव्र बन्ध ही है। अत एव उसकी निवृत्ति वासना क्षय ही से होती है, उससे मनोनाश का कोई प्रयोजन नहीं है।

समाधान:—दुर्बल प्रारब्ध से प्राप्त हुए अवश्य-भावि-भोग के प्रतीकार के लिये मनोनाश की आवश्यकता है।

अवश्य-भाविभोग की मनोनाश के सिवाय अन्य उपाय से निवृत्ति नहीं होती है। इस अभिप्राय का स्मृतिवाक्य है—

"अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः॥" इति।

तदेवं जीवन्मुक्तिं प्रति वासनाक्षयमनोनाशयोः साक्षात् साधनत्वात् प्राधान्यम्। तत्त्वज्ञानं तु तयोरुत्पादनेन व्यवहितत्वात् उपसर्जनम्। तत्त्वज्ञानस्य वासनाक्षयहेतुत्वं बहुशः श्रुतौ श्रूयते।

अवश्यंभावि भोग के प्रतिकार का यदि अन्य उपाय होता तो नल, राम और युधिष्ठिर के समान पुरुष को दुःख ही नहीं होता।

इस प्रकार वासनाक्षय और मनोनाश जीवन्मुक्ति का साक्षात् साधन होने से विद्वत्संन्यासियों को उनका अभ्यास प्रधानता से करना उचित है, और तत्त्वज्ञान तो इन दोनों की उत्पत्ति से व्यवहित कारणरूप होने से उसका गौणभाव से अभ्यास कर्त्तव्य है।

तत्त्वज्ञान वासनाक्षय का कारण है, यह बात अनेक श्रुतियों में कही गई है—

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥"

"तरति शोकमात्मवित्" "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।" "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" इति। मनोनाशहेतुत्वं च तत्त्वज्ञानस्य श्रुतिसिद्धम्।

विद्यादशामभिप्रेत्येदं श्रूयते—"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं जिघ्रेत्" इत्यादि।

गौडपादाचार्याश्चाऽऽहुः—

"परमात्मदेव के ज्ञान से सब बन्धनों की निवृत्ति हो जाती है, क्लेशों के क्षय से जन्ममरण का नाश होता है। अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति से परमात्मदेव का साक्षात्कार करने पर धीर पुरुष हर्षशोक से मुक्त होता है।" आत्मवित् पुरुष शोक को पार कर जाता है। सर्वत्र अद्वितीय आत्मवस्तु का साक्षात् अनुभव करने पर शोक मोह कहाँ से होंगे? अर्थात् नहीं होंगे। परमात्मदेव को जानने पर सभी बन्धन छूट जाते हैं।

तत्त्वज्ञान मनोनाश का भी कारण है, यह बात भी श्रुति द्वारा ही सिद्ध है। विद्यादशा को अङ्गीकार कर यह श्रुति कही गई है—"जो विद्यादशा में इस अविकारी पुरुष के लिए सब आत्मा ही हो

जाता है, उस अवस्था में वह किस इन्द्रिय से किस पदार्थ को देखेगा ? और किस इन्द्रिय से किस पदार्थ को सूँघेगा ?

गौड़पादाचार्य ने भी कहा है—

"आत्मतत्त्वानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहः॥" इति।

जीवन्मुक्तेर्वासनाक्षयमनोनाशाविव विदेहमुक्तेः साक्षात्साधनत्वाज्ज्ञानं प्रधानम्।

आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से जब संकल्प रहित होता है, उस समय अधिकारी पुरुष अमनस्कभाव को प्राप्त करता है, तत्त्वज्ञान-द्वारा ग्राह्य वस्तुओं का अभाव होने से वह वृत्ति द्वारा किसी भी विषय का ग्रहण नहीं करता है।

जैसे जीवन्मुक्ति का साक्षात्साधन वासनाक्षय और मनोनाश है, उसी प्रकार विदेहमुक्ति का साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान है। अत एव विदेहमुक्ति के लिये ज्ञानाभ्यास प्रधानरूप से सेवा के योग्य है।

"ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते॥" इति स्मृतेः।

केवलस्याऽऽत्मनो भावः कैवल्यं देहादिरहितत्वम्। तच्च ज्ञानादेव प्राप्यते सदेहत्वस्याज्ञानकल्पितत्वेन ज्ञानैकनिवर्त्यत्वात्। ज्ञानादेवेत्येवकारेण कर्मव्यावृत्तिः। "न कर्मणा न प्रजया" इति श्रुतेः। यस्तु ज्ञानशास्त्रमनभ्यस्य यथासम्भवं वासनाक्षयमनोनाशावभ्यस्य सगुणं ब्रह्मोपास्ते न तस्य कैवल्यमस्ति। लिङ्गदेहस्यानपायात्। अत एवकारेण तावपि व्यावर्त्येते। "येन मुच्यते" इत्यस्यायमर्थः येन ज्ञानप्रापितकेवलत्वेन कृत्स्नसम्बन्धाद्विमुच्यते इति। बन्धश्चानेकविधः अविद्याग्रन्थिः, अब्रह्मत्वम्, हृदयग्रन्थिः, संशयः, कर्माणि, सर्वकामत्वम्, मृत्युः, पुनर्जन्मेत्यादिशब्दैस्तत्र व्यवहारात्। अज्ञानत एते बन्धाः सर्वे ज्ञाननिवर्त्याः। तथा च श्रुतयः—

"एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य", "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।"

'ज्ञान से ही कैवल्य को प्राप्त करता है और उस कैवल्य से इस संसार से मुक्त होता है। ऐसा स्मृति वचन है। कैवल्य अर्थात् देहादि-रहितभाव वह केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है। सशरीर होना यह अज्ञान से है—इसलिये केवल ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति होती है। इस स्मृतिवाक्य में 'एव' ('ही') पद कर्म की निवृत्ति के लिये है। कर्म, प्रजा और धन से मुक्ति नहीं प्राप्त होती है इस प्रकार श्रुति भी कहती है। जो पुरुष ज्ञानशास्त्र का अभ्यास किये विना केवल मनोनाश और वासनाक्षय का ही अभ्यास कर सगुण ब्रह्म की उपासना करता है, उसके लिङ्ग शरीर के नाश न होने से वह कैवल्य को प्राप्त करता है। अत एव वासनाक्षय और मनोनाश द्वारा भी कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती है यह भी 'एव' पद से व्यक्त है। ऊपर के स्मृति वाक्य में 'येन मुच्यते' का यह अर्थ है—ज्ञान प्राप्त होने पर कैवल्य से सारे बन्धनों से मुक्त होता है। अविद्या-ग्रन्थि, अब्रह्मत्व, हृदय-ग्रन्थि, संशय, कर्म, सर्वकामत्व, पुनर्जन्म आदि अनेक शब्दों से भिन्न-भिन्न स्थलों में बन्धन का निरूपण किया है। बन्ध अनेक प्रकार के हैं। ये सब बन्धन अज्ञान से हुए हैं, अत एव उनकी निवृत्ति ज्ञान से होती है। निम्नलिखित श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाणभूत हैं। (एतद्यो० इत्यादि) "हे सौम्य ! बुद्धि-गुहा में स्थित इस आत्मस्वरूप को जो जानता है, वह यहीं अविद्या ग्रन्थि को काट डालता है" जो ब्रह्म को जानता वह ब्रह्म ही हो जाता है"।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"

"यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान्कामान्त्सह" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।"

"उस परमात्मा का साक्षात्कार होने से इस अधिकारी पुरुष के हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं" "जो हृदयाकाशरूप गुहा में स्थित ब्रह्म को जानता है, वह सब कामनाओं के साथ रहता है।" "उस ब्रह्म को ही जान कर अधिकारी पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है।

"यस्तु विज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥"

"य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति" इत्यादीन्यसर्वज्ञत्वादिबन्धनिवृत्तिपराणि वाक्यान्यत्रोदाहरणीयानि। सेयं विदेहमुक्तिर्ज्ञानोत्पत्तिसमकालीना ज्ञेया। ब्रह्मण्यविद्यारोपितानामेतेषां बन्धानां विद्यया विनाशे सति पुनरुत्पत्त्यसम्भवादननुभवाच्च। तदेतद्विद्यासमकालीनत्वं भाष्यकारः समन्वयसूत्रे प्रपञ्चयामास।

"तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" इति। ननु वर्त्तमानदेहपातानन्तरभाविनी विदेहमुक्तिरिति बहवो वर्णयन्ति तथा च श्रुतिः—

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति। वाक्यवृत्तावप्युक्तम्।

जो अमनस्कभाव को प्राप्त कर सदा पवित्र पुरुष विज्ञानयुक्त होता है, वह परमात्म पद को प्राप्त करता है, जिससे पुनः संसार में जन्म धारण नहीं करता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जो जानता है—साक्षात् अनुभव करता है, वह सर्वरूप होता है।

ये सब वाक्य, असर्वज्ञत्व आदि बन्ध-निवृत्ति में प्रमाणरूप से समझने चाहिए। वही यह विदेहमुक्ति, ज्ञान की उत्पत्ति समय में प्राप्त होती है, ऐसा जानें। क्योंकि, ब्रह्म में आरोपित पूर्वोक्त सब बन्धनों के नाश होने पर विद्या प्राप्ति के साथ ही बन्धन की निवृत्ति होती है, यह बात भगवान् भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजी ने समन्वय सूत्र में विस्तार पूर्वक कहा है।

उस ब्रह्म के साक्षात्कार के बाद और पूर्व अर्थात् पुण्यपाप के क्रम से अस्पर्श और विनाश होता है, श्रुति में उसे कहा गया है।

शङ्काः—"वर्तमान शरीर के पतन होने पर विदेहमुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा बहुत लोग कहते हैं" और उस ज्ञानवान् पुरुष को तब तक विदेहमुक्ति में विलम्ब होता है जब तक वर्तमान देह से मुक्त नहीं होता है। ऐसा होने पर ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है। इस प्रकार की श्रुति भी है—वाक्यवृत्ति में भी कहा है :—

"प्रारब्धकर्मवेगेन जीवन्मुक्तो यदा भवेत् ।
कञ्चित् कालमथाऽऽरब्धकर्मबन्धस्य संक्षये ॥
निरस्तातिशयानन्दं वैष्णवं परमं पदम् ।
पुनरावृत्तिरहितं कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥" इति

सूत्रकारोऽप्याह—"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" इति ।
इतरे—प्रारब्धपुण्यपापे ।
वसिष्ठोऽप्याह—

अधिकारी पुरुष जब जीवन्मुक्त होता है, तब प्रारब्ध कर्म के योग से (कुछ) काल तक अनुभव कर, प्रारब्ध कर्म के क्षय होने के बाद, पुनरावृत्तिरहित निरतिशय आनन्दस्वरूप वैष्णव सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के कैवल्यपद को प्राप्त होता है । सूत्रकार ने भी कहा है—

"योग के रूप में प्रारब्धस्वरूप पुण्य पाप का क्षय करने पर परमात्मा के स्वरूप में अभेद प्राप्त होता है ।

वसिष्ठजी ने भी कहा है—

"जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥" इति ।

जैसे गतिमान् वायु निष्पन्द (स्थिर) अवस्था को प्राप्त करती है, वैसे जीवन्मुक्त पुरुष, अपने शरीर के काल के वश होने पर (मरने पर) जीवन्मुक्तदशा का त्याग कर विदेहमुक्त पद में प्रवेश करता है ।

नायं दोषः, विवक्षाविशेषेण मतद्वयस्याविरोधात् । विदेहमुक्तिरित्यत्रत्येन देहशब्देन कृत्स्नं देहजातं विवक्षित्वा बहुभिर्वर्णितम् । अस्माभिस्तु भाविदेहमात्रविवक्षयोच्यते । तदनारम्भायैव ज्ञानसम्पादनात् । अयं देहः पूर्वमेवाऽऽरब्धः, अतो ज्ञानेनापि नास्याऽऽरम्भो वारयितुं शक्यते । क्षये तन्निवृत्तिरपि न ज्ञानफलम् । अज्ञानिनामप्यारब्धकर्मक्षये तन्निवृत्तेः ।

समाधान—अभिप्राय के भेद को लेकर मतभेद प्रतीत होता है । वस्तुतः मतभेद नहीं है । जो मरने के बाद विदेहमुक्ति मानते हैं, उस विदेहमुक्ति पद में देह शब्द से सम्पूर्ण देह मानते हैं । सकल देह की

निवृत्ति तो मरने के बाद ही होती है, अत एव उसके अभिप्रायानुसार मरने के बाद विदेहमुक्ति में प्रवेश होना वास्तविक है। हम तो भावि-देह की निवृत्ति को ही विदेहमुक्ति कहते हैं। क्योंकि भाविदेह का आरम्भ न होने के लिये ज्ञानसम्पादन किया जाता है। वर्त्तमान देह का तो ज्ञान होने से पूर्व में ही आरम्भ हो चुका है। अत एव ज्ञान से भी वर्तमान शरीर का निवारण हो सकता है, ऐसी बात नहीं है। वर्त्तमान शरीर की निवृत्ति भी किसी ज्ञान का फल नहीं है। क्योंकि प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर अज्ञानी लोगों का भी वर्त्तमान देह निवृत्त होता है।

तर्हि वर्तमानलिङ्गदेहनिवृत्तिर्ज्ञानफलमस्तु ज्ञानमन्तरेण तद-निवृत्तेरिति चेन्न। सत्यपि ज्ञाने जीवन्मुक्तेस्तन्निवृत्त्यभावात्।

शङ्का—वर्त्तमान स्थूलशरीर की निवृत्ति ज्ञान का फल न हो तो, वर्त्तमान लिङ्गशरीर का नाश ज्ञान का फल मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान के विना लिङ्गदेह का नाश नहीं होता है।

समाधान—यह बात ठीक है, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुष को ज्ञान प्राप्त होने पर भी उसके लिङ्गशरीर का नाश नहीं होता है। अत एव ज्ञान का फल लिङ्ग शरीर की निवृत्ति भी नहीं मानी जा सकती।

ननु ज्ञानस्य किञ्चित्कालं प्रारब्धेन कर्मणा प्रतिबद्धत्वे-नानिवर्तकत्वेऽपि प्रतिबन्धक्षये लिङ्गदेहनिवर्तकत्वं भविष्यतीति चेन्न।

शङ्का—यद्यपि प्रारब्धकर्म अपने स्थितिपर्यन्त ज्ञान का प्रतिबन्धक होने से जब तक प्रारब्ध शेष रहता है, तब तक लिङ्गदेह की निवृत्ति नहीं होती है, तथापि प्रारब्ध रूप रुकावट के क्षय होने पर ज्ञानद्वारा लिङ्गदेह की निवृत्ति होती है, अत एव ज्ञान का फल लिङ्ग की निवृत्ति है, यह मानने में कोई बाधा नहीं मालूम होती है।

पञ्चपादिकाचार्य्येण "यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकम्" इत्युपपादितत्वात्।

समाधान—तेज और तम के समान ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है। लिङ्गदेह तो अज्ञान का कार्य्य होने से उसका तो अज्ञान के साथ विरोध होता ही नहीं है। अत एव ज्ञानद्वारा ही अज्ञान की निवृत्ति होती है, ऐसा श्रीपञ्चपादिकाचार्य्य ने प्रतिपादन किया है।

तर्हि लिङ्गदेहनिवृत्तेः किं साधनं इति चेत् ? सामग्रीनिवृत्तिरिति ब्रूमः । द्विविधं हि कार्यनिवर्तकम् । विरोधिसद्भावः सामग्रीनिवृत्तिश्चेति । तद्यथा विरोधिना वायुना तैलवर्त्तिसामग्रीनिवृत्त्या वा दीपो निवर्त्तते । लिङ्गदेहस्य साक्षाद्विरोधिनं न पश्यामः । सामग्री हि द्विविधा प्रारब्धमनारब्धश्चेति । ताभ्यामुभाभ्यामज्ञानिनां लिङ्गदेह इहामुत्र चावतिष्ठते । ज्ञानिनां त्वनारब्धस्य ज्ञानेन निवृत्त्या प्रारब्धस्य भोगेन लिङ्गदेहो निवर्त्तते । अतो न तन्निवृत्तिर्ज्ञानफलम् ।

प्रश्न—उस समय लिङ्गदेह की निवृत्ति का क्या साधन है ? समाधान—जिस सामग्री से लिङ्गदेह उत्पन्न होता है उस सामग्री की निवृत्ति से लिङ्गदेह की निवृत्ति होती है । (१) विरोधी के सद्भाव से, (२) सामग्री की निवृत्ति से, इस प्रकार दो प्रकार से कार्य की निवृत्ति होती है । जैसे तेल बत्ती आदि दीप की सामग्री होने पर भी विरोधी वायु से दीप शान्त हो जाता है, उसी प्रकार लिङ्गदेह का साक्षात् विरोधी तो कोई पदार्थ देखने में नहीं आता है, इसलिये उसकी सामग्री की निवृत्ति से निवृत्ति होती है । प्रारब्धकर्म और सञ्चित आदि अनारब्धकर्म के भेद से दो प्रकार की लिङ्गदेह की सामग्री है । अज्ञानी का लिङ्गदेह इन दो सामग्रियों के द्वारा इस लोक और परलोक में स्थिर रहता है । ज्ञानी पुरुषों का अनारब्धकर्म, ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है, और प्रारब्ध कर्म की भोग से निवृत्ति होती है । अत एव तेल, बत्ती रूप सामग्री के नाश से जैसे दीप का नाश होता है, उसी प्रकार उसका लिङ्गदेह उक्त दो प्रकार के कर्मरूप सामग्रियों की निवृत्ति से निवृत्त होता है ।

नन्वनेन न्यायेन भाविदेहानारम्भोऽपि ज्ञानफलम् । तथा हि—किमनारम्भ एव हि फलम्, किं वा तत्प्रतिपालनम् । नाद्यः । तस्य प्रागभावरूपत्वेनानादिसिद्धत्वात् । न द्वितीयः, अनारब्धकर्मरूपसामग्रीनिवृत्त्यैव भाविदेहारम्भप्रागभावप्रतिपालनसिद्धेः । न च तन्निवृत्तिः फलम्, अविद्यानिवृत्तेरेव विद्याफलत्वात् ।

शङ्का—पूर्व कथित वाक्य से भावि देह का अनारम्भ (आरम्भ न हुआ) भी ज्ञान का फल है, ऐसा अवगत होता है, परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि, क्या भाविदेव का अनारम्भ ही ज्ञान का फल है ? या भाविदेह के अनारम्भ का पालन अर्थात् अनारम्भ सदा रहे यह भी उसका फल है ? इनमें से प्रथम पक्ष—भाविदेह का अनारम्भ यह ज्ञान का फल है, यह बात सम्भव नहीं है, क्योंकि भाविदेह का अनारम्भ इस भावि देह का प्रागभावरूप होने से अनादि सिद्ध है, अत एव यह ज्ञान से नहीं उत्पन्न होता है। उसी प्रकार भाविदेह के अनारम्भ का पालन यह ज्ञानफल है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि भाविदेह के आरम्भ के प्रागभाव का पालन अर्थात् सर्वकाल भाविदेह का अभाव ही रहना यह तो सञ्चित कर्मरूप सामग्री की निवृत्ति से ही होता है। अनारब्धकर्म [सञ्चितकर्म] रूप सामग्री की निवृत्ति भी ज्ञान का फल नहीं है। केवल अविद्या की निवृत्ति ही विद्या का फल है।

नैष दोषः। भाविजन्मारम्भादीनां विद्याफलत्वस्य प्रामाणिकत्वात्। "यस्माद् भूयो न जायते" इत्याद्युदाहृताः श्रुतयस्तत्र प्रमाणम्। न च ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकमिति न्यायेन विरोधः। अज्ञानसहभावनियतानामब्रह्मत्वादीनामज्ञानशब्देन पञ्चपादिकाचार्यैर्विवक्षितत्वात्। अन्यथाऽनुभवविरोधः। अनुभूयते ह्यज्ञाननिवृत्तिवदब्रह्मत्वादिनिवृत्तिरपि। तस्माद्भाविदेहराहित्यलक्षणा विदेहमुक्तिर्ज्ञानसमकालीना। तथा च याज्ञवल्क्यवचनं श्रूयते—"अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि," इति, "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति च।

उत्तर—तुमने जिस दोष को प्रदर्शित किया वह ठीक नहीं है, क्योंकि भविष्य में जन्म की प्राप्ति नहीं होती है, इत्यादि विद्या के फलत्व की प्रमाणसिद्ध बात है। (यस्माद्भूयो न जायते) 'जिस तत्त्वज्ञान के होने से फिर जन्म नहीं होता है इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाणभूत हैं। सदा अज्ञानी के साथ रहनेवाला अज्ञान के सद्भाव से ही अस्तित्ववाला पूर्वोक्त 'अब्रह्मत्व ('मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा मिथ्या निश्चय) इत्यादि बन्धन को श्रीपञ्चपादिकाचार्य ने अज्ञान ही

माना है। पुनर्जन्म, अब्रह्मत्व आदि बन्धन की निवृत्ति के ज्ञान का फल न मानने पर अनुभव का विरोध प्राप्त होता है। ज्ञान से जैसे अज्ञान की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार उसके साथ पूर्वोक्त 'अब्रह्मत्व' आदि बन्धन की भी निवृत्ति होती है, यह बात अनुभवसिद्ध हैं। इसलिये भाविदेह की अप्राप्तिरूप जीवन्मुक्ति ज्ञान के समकाल ही हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मुनि ने भी कहा है कि—'हे जनक ! तुम अभय को प्राप्त हो गये हो'। 'इतना ही यथार्थ अमृतत्व है'।

श्रुत्यन्तरेऽपि "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" इति। यद्युत्पन्नेऽपि तत्त्वज्ञाने तत्फलभूता विदेहमुक्तिस्तदानीं न भवेत् कालान्तरे च भवेत्। तदा ज्योतिष्टोमादाविव ज्ञानजन्यमपूर्वं किञ्चित्कल्प्येत। तथा च कर्मशास्त्र एव ज्ञानमन्तर्भवेत्। अथोच्यते। मन्त्रादिप्रतिबद्धाग्निवत् प्रारब्धप्रतिबद्धं ज्ञानं कालान्तरे विदेहमुक्तिं दास्यतीति। मैवम्। अविरोधात्। न ह्यस्मदभिप्रेता भाविदेहात्यन्ताभावलक्षणा विदेहमुक्तिर्वर्तमानदेहमात्रस्थापकेन प्रारब्धेन विरुध्यते, येन प्रतिबध्येत। किञ्च क्षणिकत्वेन कालान्तरे स्वयमविद्यमानं ज्ञानं कथं मुक्तिं दद्यात्। ज्ञानान्तरं चरमसाक्षात्कारलक्षणमुत्पत्स्यत इति चेन्न। साधनाभावात्। प्रतिबन्धकप्रारब्धनिवृत्त्यैव सह गुरुशास्त्रदेहेन्द्रियाद्यशेषजगत्प्रतिभासनिवृत्तेः किं ते साधनं स्यात्।

अन्य श्रुति भी कहती है—इस प्रकार आत्मा का ज्ञान जिस को होता है वह पुरुष वर्तमान शरीर में ही मरण रहित हो जाता है।

तत्त्वज्ञान होने पर भी उसकी फलरूप विदेहमुक्ति उस समय न हो और कालान्तर में हो तो ज्योतिष्टोमादिकर्म समाप्ति के अनन्तर, तत्काल स्वर्गादिफल न मिलने से जैसे अपूर्व नाम के संस्कार विशेष की कर्म के विषय में कल्पना की जाती है, उसी प्रकार ज्ञान में भी अपूर्व की कल्पना करनी पड़ेगी (अर्थात् ज्ञान और उसके फल के मध्य में अपूर्व के समान ही किसी संस्कार को मानना पड़ेगा)। ऐसी स्थिति में कर्मशास्त्र में ही ज्ञानशास्त्र का अन्तर्भाव मानना होगा। कदाचित्

इस स्थल में वादी ऐसा कह सकते हैं कि मणिमन्त्रादि के द्वारा जिसकी दाहकशक्ति का प्रतिबन्ध हो गया है ऐसी अग्नि प्रतिबन्ध छूट जाने पर जिस प्रकार अपना दाह कर्म कर सकती है, उसी तरह प्रारब्ध से प्रतिबन्ध की प्राप्ति होने पर ज्ञान से प्रारब्ध के अन्त में विदेहमुक्ति-रूप फल प्राप्त होगी, परन्तु यह कहना वस्तुत: ठीक नहीं है, क्योंकि, हमारे अभिप्रेत भाविदेह का अत्यन्त अभाव रूप विदेहमुक्ति को केवल वर्त्तमान शरीर का ही स्थित सब करनेवाले प्रारब्धकर्म के साथ कोई विरोध नहीं है। जिस प्रारब्धकर्म विदेहमुक्तिरूप ज्ञान के फल का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है वह ज्ञान क्षणिक हैं इसलिये कालान्तर में स्वयं न होने से विदेहमुक्ति को कैसे दे सकते हैं ? कदाचित् ऐसा कहा जाय कि मरणसमय में चरमसाक्षात्कार रूप अन्यज्ञान उत्पन्न होगा और वह विदेहमुक्ति प्रदान करेगा तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि उस समय पुनः अन्यज्ञान का उत्पादक कोई अन्य साधन नहीं होता है। प्रतिबन्धकरूप प्रारब्धकर्म की निवृत्ति से ही गुरु, शास्त्र; देह, और, इन्द्रिय आदि सारे संसार की प्रतीति की निवृत्ति हो जाती है, इसलिये उस समय किस साधन से ज्ञान होगा ? अर्थात् उस समय ज्ञान नहीं ही होता है।

तर्हि "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इत्यस्याः श्रुतेः कोऽर्थ इति चेत्। आरब्धान्ते निमित्ताभावाद्देहेन्द्रियाद्यशेषनैमित्तिक-निवृत्तिरित्येवार्थः। ततो भवदभिमता वर्तमानदेहराहित्यलक्षणा विदेहमुक्तिः पश्चादस्तु देहपातानन्तरम्। अस्मदभिमता तु ज्ञान-समकालीनैव। एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् शेष आह--

शङ्का—उस समय 'प्रारब्ध के क्षय होने पर फिर सारी माया की निवृत्ति होती है, इस श्रुति से क्या अवगत होता है ?

समाधान:—इस श्रुति का अर्थ यही है कि प्रारब्ध के अन्त में देहादि का स्थापक निमित्त न होने से देह इन्द्रियादि सब की निवृत्ति होती है। इसलिये अन्य मत के अनुसार वर्तमान देह का अभावरूप विदेहमुक्ति देहपात के बाद हो, परन्तु भाविदेह के अभावरूप को हम मानते हैं यह विदेहमुक्ति तो ज्ञान के समय में ही प्राप्त होती है।

इसी अभिप्राय से भगवान् शेष भी कहते हैं—

"तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥" इति।

मरण के समय में जिसको स्वरूप का विस्मरण हो गया है, ऐसा पुरुष कदाचित् तीर्थ में या चाण्डाल के घर पर जावे तो भी ज्ञान-काल में ही मुक्त होकर शोक रहित वह पुरुष मुक्ति को ही प्राप्त करता है।

तस्माद्विदेहमुक्तौ साक्षात्साधनस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रधानत्वमुपपन्नम्। वासनाक्षयमनोनाशयोर्ज्ञानसाधनत्वेन व्यवहितत्वादुपसर्जनत्वम्। आसुरवासनाक्षयकारिण्या दैववासनाया ज्ञान-साधनत्वं श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते—"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्।" इति श्रुतिः।

स्मृतिरपि—

विदेहमुक्ति में उसके साक्षात् साधन तत्त्वज्ञान की ही प्रधानता है यह बात इससे सिद्ध होती है, वासनाक्षय और मनोनाश तत्त्व-ज्ञानद्वारा विदेहमुक्ति का साधन है। इसलिये विदेहमुक्ति में उसकी गौणता है। आसुरी वासनाओं की क्षय करनेवाली दैवीवासना ज्ञान का साधन है, यह बात श्रुति और स्मृति से प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। "शान्तो दान्त इत्यादि" 'शम दम उपरति और समाधान आदि दैवी सम्पत्ति युक्त होकर अपनी आत्मा से अभिन्न परमात्मा का अनुभव करे यह श्रुति इसमें प्रमाण स्वरूप है। और स्मृति में कहा है कि—

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः॥"

अमानित्व, निरभिमानता, अदम्भित्व (निष्कपटता), अहिंसा, शान्ति, आर्जव (सीधापन), गुरु की सेवा, पवित्रता, स्थिरता और अपने शरीर का संयम।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

इन्द्रियों के विषय जो शब्दादि हैं उनमें विरक्ति, निरहङ्कार और जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, व्याधि और दुःख इनमें दोष देखना।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

पुत्र, स्त्री, गृह आदि से विरक्ति और उनके सुखदुःखों में अत्यन्त दृष्टि न देना । इष्ट और अनिष्ट में सदा एक समान रहना ।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

मेरे विषय में अनन्यभाव से अव्यभिचारिणी भक्ति, चित्त को प्रसन्न करनेवाले देश में निवास, संसारी पुरुषों की सभा में अप्रीति ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

अध्यात्मज्ञान (आत्मादि विषयक जो विचार) अर्थात् जीव माया ईश्वरादि का विवेक । इसका नित्यचिन्तन और तत्त्वज्ञान का प्रयोजन जो मोक्ष है उसका अवलोकन यह सब ज्ञान कहलाता है इससे भिन्न अज्ञान है ।

अन्यस्मिन्नहंबुद्धिरभिष्वङ्गः । ज्ञायतेऽनेनेतिव्युत्पत्त्या ज्ञानसाधनमित्यर्थः । मनोनाशस्यापि ज्ञानसाधनत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति । "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति च । प्रत्यगात्मसमाधिप्राप्त्या देवं ज्ञात्वेत्यर्थः ।

यह पदार्थ मैं ही हूँ इस प्रकार की अभेदभावना से उन पदार्थों में अधिक प्रीति करना अर्थात् उन पदार्थों के सुखी दुःखी होने से मैं ही सुखी दुःखी होता हूँ इस प्रकार अत्यन्त अभिनिवेश है—उसको अभिष्वङ्ग कहा जाता है ।

"इसके द्वारा जाना जाता है इस व्युत्पत्ति से ज्ञानसाधन" होता है । मनोनाश भी ज्ञान का साधन है, यह श्रुति में प्रसिद्ध है, श्रुति का प्रमाण (—ततस्तु तं०) ध्यान करनेवाला पुरुष उस निरवयव आत्मा का साक्षात् दर्शन करता है" (अध्यात्म०) प्रत्यक् आत्मा में समाधि के लाभ से परमात्म देव को जान कर धीर पुरुष हर्ष शोक को छोड़ देते हैं ।" स्मृति का वचन प्रमाण है—

"यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै विद्यात्मने नमः ॥"

निद्रा, श्वास और इन्द्रियों को जीतनेवाले योगीजन जिस ज्योति को योग द्वारा देखते हैं उस योगात्मक विद्यात्मा (ज्ञानस्वरूप) परमात्मा को नमस्कार है।

तदेवं तत्त्वज्ञानादीनां त्रयाणां विदेहमुक्तिजीवन्मुक्तिवशाद् गुणप्रधानभावव्यवस्था सिद्धा ।

इस प्रकार विदेहमुक्ति और वासनाक्षय की यथायोग्य गौणत्व की एवं प्रधानता की व्यवस्था सिद्ध होती है।

ननु विविदिषासंन्यासिना सम्पादितानामेतेषां किं विद्वत्संन्यासादूर्ध्वमनुवृत्तिमात्रं किं वा पुनरपि सम्पादनप्रयत्नोऽपेक्षितः । नाद्यः । तत्त्वज्ञानस्येवान्ययोरप्ययत्नसिद्धत्वे प्राधान्यप्रयुक्तादराभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । इतरयोरिव ज्ञानस्यापि यत्नसापेक्षत्वे सत्युपसर्जनत्वप्रयुक्तौदासीन्याभावप्रसङ्गात् ।

शङ्का—विविदिषासंन्यासी द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान आदि तीन साधनों की विद्वत्संन्यास धारण करने के बाद अनुवृत्तिमात्र समझें ? या उसके सम्पादन के लिये फिर प्रयत्न करने की आवश्यकता है ? यदि उसकी अनुवृत्तिमात्र करोगे तो तत्त्वज्ञान के समान वासनाक्षय और मनोनाश भी विना यत्न के सिद्ध होने से उसको प्रधानता देकर विशेष आदर करने की आवश्यकता नहीं रहती है और प्रयत्न की आवश्यकता है ऐसा कहोगे तो जैसे मनोनाश और वासनाक्षय के निमित्त यत्न की अपेक्षा है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के लिये भी यत्न की अपेक्षा होने से उसकी गौणता के कारण उसमें उदासीनता रखना उचित है यह सिद्ध नहीं होता है।

नायं दोषः । ज्ञानस्यानुवृत्तिमात्रमितरयोर्यत्नसाध्यत्वमित्यङ्गीकारात् ।

समाधान—यह दोष नहीं है, जीवन्मुक्त-अवस्था में ज्ञान की केवल अनुवृत्ति तथा वासनाक्षय और मनोनाश प्रयत्नसाध्य है, ऐसा हमने स्वीकार किया है—

तथा हि—विद्याधिकारी द्विविधः, कृतोपास्तिरकृतोपास्तिश्चेति। तत्रोपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तामुपास्तिं कृत्वा यदि ज्ञाने प्रवर्तेत, तदा वासनाक्षयमनोनाशयोर्दृढतरत्वेन ज्ञानादूर्ध्वं विद्वत्संन्यासजीवन्मुक्ती स्वत एव सिद्ध्यतः। तादृश एव शास्त्राभिमतो मुख्यो विद्याधिकारी। ततस्तं प्रति शास्त्रेषु सहोपन्यासात् स्वरूपेण विविक्तावपि विद्वत्संन्यासौ सङ्कीर्णाविव प्रतिभासेते। इदानीन्तनास्तु प्रायेणाकृतोपास्तय एवौत्सुक्यमात्रात्सहसा विद्यायां प्रवर्तन्ते। वासनाक्षयमनोनाशौ च तात्कालिकौ सम्पादयन्ति। तावता श्रवणमनननिदिध्यासनानि निष्पद्यन्ते। तैश्च दृढाभ्यस्तैरज्ञान-संशय-विपर्ययनिरासात् तत्त्वज्ञानं सम्यगुदेति। उदितस्य ज्ञानस्य बाधकप्रमाणाभावान्निवृत्ताया अविद्यायाः पुनरुत्पत्तिकारणाभावाच्च नास्ति तस्य शैथिल्यम्। वासनाक्षयमनोनाशौ तु दृढाभ्यासाभावाद् भोगप्रदेन प्रारब्धेन तदा तदाबाध्यमानत्वाच्च सवातप्रदेशदीपवत्सहसा निवर्तेते। तथा च वसिष्ठः—

कृतोपासन (जिसने उपासना सिद्ध कर ली है) और अकृतोपासन (जिसने उपासना नहीं सिद्ध की है) इस प्रकार विद्याधिकारी के दो भेद हैं। इनमें से जो अपने उपास्य देव के साक्षात्कार होने तक उपासना कर ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं उस अधिकारी के मनोनाश, एवं वासनाक्षय अत्यन्त दृढ़ होने से ज्ञान होने के अनन्तर विद्वत्संन्यास और जीवन्मुक्ति उसको स्वतः सिद्ध होती हैं। शास्त्र में तो ऐसे पुरुष को ही अध्यात्मविद्या का मुख्य अधिकारी माना है, इसलिये ऐसे अधिकारी के लिये ही शास्त्र में तीन साधनों के साथ कथन किया है इससे विद्वत्संन्यास और विविदिषासंन्यास स्वरूप के आधार पर भिन्न होने पर भी वे मिले हुए के समान भान होते हैं, इस समय तो प्रायः अकृतोपासन ही अधिकारी होते हैं। इससे उनकी केवल उत्सुकता से सत्वर ब्रह्म विद्या में प्रवृत्ति होती है, उतने समय तक ही वासनाक्षय और मनोनाश का सम्पादन करते हैं, उतने से उनका श्रवण, मनन और निदिध्यासन सिद्ध होता है। इस प्रकार के दृढ़ अभ्यास से अज्ञान, संशय और विपर्यय निवृत्त होने के कारण तत्त्वज्ञान का

भली-भाँति उदय होता है, उदय प्राप्त होने पर तत्त्वज्ञान का बाध करनेवाला कोई भी प्रमाण न होने से निवृत्त होकर अविद्या को फिर उत्पन्न करनेवाले किसी के कारण न होने से उसका तत्त्वज्ञान शिथिल नहीं होता है। परन्तु वासनाक्षय और मनोनाश के दृढ़ अभ्यास न होने से और भोग देनेवाले प्रबल प्रारब्ध से उसका उस-उस समय में बाध होने से वायुवाले प्रदेश में स्थित दीपक के समान उसी समय वासनाक्षय और मनोनाश निवृत्त होते हैं।

वसिष्ठजी ने कहा है—

"पूर्वेभ्यस्तु प्रयत्नेभ्यो विषमोऽयं हि सम्मतः ।
दुःसाध्यो वासनात्यागः सुमेरून्मूलनादपि ॥"

अर्जुनोऽपि—

पूर्वोक्त प्रयत्नों के अभ्यास करने की अपेक्षा यह वासनात्याग प्रयत्न सुमेरुपर्वत को जड़ से उखाड़ने से भी विषम और अधिक कष्ट से सिद्ध होने योग्य है, ऐसा माना है।

अर्जुन ने गीता के अ० ६, श्लोक ३४ में कहा है—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥" इति ।

हे कृष्ण ! इन्द्रियों को क्षुब्ध करनेवाला, विचार से जीतने योग्य नहीं है, दृढ़ अर्थात् विषयवासनाओं से दुर्भेद्य मन अत्यन्त ही चपल है। वायु के समान इसका रोकना दुष्कर मानता हूँ।

तस्मादिदानीन्तनानां विद्वत्संन्यासिनां ज्ञानस्यानुवृत्तिमात्रम् । वासनाक्षयमनोनाशौ तु प्रयत्नसम्पाद्याविति स्थितम् ।

ननु केयं वासना ? यस्याः क्षयाय प्रयतितव्यमिति चेत्तत्स्वरूपमाह वसिष्ठः—

ऐसा है इसलिये इस समय के विद्वत्संन्यासियों को ज्ञान की केवल अनुवृत्ति और वासनाक्षय, और मनोनाश प्रयत्न से साध्य हैं, यह बात सिद्ध हुई।

जिसके क्षय के लिये यत्न करने की आवश्यकता है—यह वासना क्या है ? ऐसी शङ्का करने पर महामुनि वसिष्ठ जी ने उसका स्वरूप निरूपण कहा है :—

"दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्त्तिता ॥
भावितं तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः ।
भवत्याशु महाबाहो ! विगतेतरसंस्मृतिः ॥
तादृग्रूपो हि पुरुषो वासनाविवशीकृतः ।
संपश्येति यदेवैतत् सद्वस्त्विति विमुह्यति ॥
वासनावेगवैवश्यात्स्वरूपं प्रजहाति तत् ।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मोहवशादिव ॥" इति ।

पूर्वापर विचार को किए विना दृढ़ भावना से पदार्थ का जो ग्रहण है—उसे वासना कहा जाता है । हे महाबाहो ! तीव्र संवेग से जो स्वयं भावना करता है (जैसा कि मैं शरीररूप हूँ), उसका वह स्वरूप तत्काल हो जाता है, और इतर स्मृति उसकी जाती रहती है । वासना के वश में करने से पुरुष स्वयं जिस वासना के अनुसार निश्चय कर लेता है वह उसी रूप में होता है, और स्वयं निश्चित किया हुआ वही वस्तु ठीक है, इस प्रकार मोह को प्राप्त करता है । वासना के वेग में विवश होने से अपने रूप को भूल जाता है । जैसे मदिरा पीकर पुरुष नशे के वश में हो यथार्थ स्वरूप को नहीं देखता हैं, उसी प्रकार वासना से दूषित हुई दृष्टि वाला पुरुष सब पदार्थों को भ्रान्ति-युक्त देखता है, उसके वास्तविक रूप को नहीं देख सकता है ।

अत्र च स्वस्वदेशाचारकुलधर्मभाषाभेदतद्गतापशब्दसुशब्दादिषु प्राणिनामभिनिवेशः सामान्यत उदाहरणम् । विशेषस्तु भेदानुक्त्वा पश्चादुदाहरामः यथोक्तां वासनामभिप्रेत्य बृहदारण्यके श्रूयते—

"यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते" इति ।

वासनाभेदो वाल्मीकिना दर्शितः—

अपने देश, आचार, कुल, धर्म, भाषा, और भाषा के अपशब्द, साधु शब्द आदि में जो प्राणियों का आग्रह देखने में आता है उसे

वासना का सामान्य उदाहरण समझना चाहिए। उसका विशेष उदाहरण वासना के भेदों को कह कर पीछे दिया जायगा। इस प्रकार की वासना को स्वीकार कर बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि—

"वह जैसी वासना वाला होता वैसा सङ्कल्प करता है, जैसा सङ्कल्प करता है वैसी क्रिया करता है और जैसी क्रिया करता है वैसा उसे फल मिलता है।

वासना का भेद वाल्मीकि जी ने योगवासिष्ठ में बतलाया है।

"वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा।
मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी॥
अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः॥
पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता सम्भृष्टबीजवत्।
देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते॥" इति।

शुद्धवासना तथा मलिनवासना इस रूप में दो प्रकार की वासना हैं। इनमें मलिन वासना जन्म का कारण है। और शुद्धवासना जन्म को नष्ट करने वाली है। अज्ञान से अतिशय घन आकाश वाली और घन अहंकार वाली मलिनवासना को विद्वान् पुरुषों ने पुनर्जन्म देने वाली कहा है। भूने हुए बीज के समान पुनर्जन्मरूप अङ्कुर को छोड़ कर स्थित तथा जिसके द्वारा ज्ञेय वस्तु का ज्ञान होता है वह शुद्धवासना देह के निर्वाहार्थ धारण की जाती है, ऐसा विवेकी पुरुष कहते हैं।

देहादीनां पञ्चकोशानां तत्साक्षिणश्चिदात्मानश्च भेदावरकमज्ञानं तेन सुष्ठु घनीभूत आकारो यस्याः सेयमज्ञानसुघनाकारा। यथा क्षीरं तक्रमेलनेन घनीभवति। यथा वा विलीनं घृतमत्यन्तशीतलप्रदेशे चिरमवस्थापितं सुघनीभवति तथा वासना द्रष्टव्या। घनीभावश्चात्र भ्रान्तिपरम्परा। तां चाऽऽसुरसम्पद्विवरणे भगवानाह—

अन्नमयादि (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्द-मय) तथा इनके साक्षी आत्मा के भेद को ढाकने वाला अज्ञान है। उस अज्ञान से उसका आकार अतिघनीभूत हो गया है। इसलिये मलिनवासना को "अज्ञानसुघनाकारा" ऐसा विशेषण दिया है। जैसे तक्र मिलाने से दूध गाढ़ा हो जाता। जैसे अत्यन्त शीतल स्थान में रखा हुआ पतला घृत जम कर गाढ़ा हो जाता है, उसी प्रकार वासना के सम्बन्ध में जानना चाहिये अर्थात् भ्रान्ति की परम्परा से वासना भी घनीभाव को पहुँच जाती है। इस भ्रान्ति की परम्परा रूप वासना के घनीभाव का निरूपण, भगवद्गीता के १६ अ०, श्लोक ७ से १२ तक में आसुरी सम्पत्ति के विचार के प्रसङ्ग में किया गया है—

"प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥" इति।
अहङ्कारश्च तत्रैवोदाहृतः।

आसुर स्वभाववाले लोगों की प्रवृत्ति और निवृत्ति किस प्रकार की होती हैं, यह नहीं जानते हैं। उनमें शौच, आचार, सत्य, इनमें कोई नहीं होते हैं। वे इस जगत् को असत्य (नहीं है सत्य वेदादिकों का प्रमाण जिसमें), अप्रतिष्ठ (नहीं है धर्माधर्मरूप व्यवस्था जिसमें) और अनीश्वर (नहीं हैं ईश्वर कर्त्ता जिसका) कहते हैं। यह भी

कहते हैं कि परस्पर काम से प्रेरित स्त्रीपुरुषों के संयोग से जगत् उत्पन्न हुआ है, कोई कारण नहीं है। मलिनचित्त, अल्पबुद्धि, क्रूरकर्म करनेवाले, शत्रु की भाँति जगत् के क्षय करने के लिये उत्पन्न होते हैं। दुःख से पूर्ण होने के योग्य अभिलाषा को अङ्गीकार कर दम्भ, मान, और मद से युक्त अशुचि (अपवित्र) व्रत के करने वाले अशुभ विचार को स्वीकार करके सर्वत्र प्रवृत्त होते हैं। वे मरणकाल तक चिन्ता से व्याप्त कामोपभोग ही एक परम पुरुषार्थ है दूसरा कोई ऐसा नहीं है यह मानते हैं। अनेक आशारूप पाशों (फाँसों) से बँधे, काम-क्रोध में तत्पर, वे कामोपभोग के लिये अन्याय से धन्योपार्जन की इच्छा करते हैं। अहङ्कार का उदाहरण भी वहीं (गी० अ० १६, श्लो० १३-१६) कहा है।

"इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥" इति।

एतेन पुनर्जन्मकारणत्वमुदाहृतं भवति, तच्च पुनः प्रपञ्चितम्।

यह मैंने आज पाया, इस मनोरथ (अभिलषित) को पाऊँगा। यह वस्तु मेरे पास है और यह भी धन फिर मुझको मिलेगा। इस शत्रु को मैंने मारा, औरों को भी मारूँगा। मैं ईश्वर [समर्थ] हूँ, मैं भोगी (भोग्य वस्तु को उपभोग करनेवाला) हूँ, सिद्ध [कृतकृत्य] हूँ, बलवान् हूँ, और सुखी हूँ, धनी हूँ, और उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरे समान इस संसार में कौन है ? मैं यज्ञ करता हूँ, दान देता हूँ, और प्रसन्न रहता हूँ, इस प्रकार अज्ञान से अत्यन्त मोहित अनेक प्रकार के चित्त के विकारों से भ्रान्त, मोह ('अज्ञान') रूप जाल से

फँसे हुए विषय भोगों में अत्यन्त अनुरक्त हो, वे अपवित्र नरक में पड़ते हैं। इत्यादि नाना प्रकार के पुनर्जन्म में कारणता प्रदर्शित की गई है, फिर उसी का विस्तार से वर्णन (श्लो० १७-२०) करते हैं—

"आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥" इति।

शुद्धवासना तु ज्ञातज्ञेया। ज्ञेयस्वरूपं त्रयोदशाध्याये भगवानाह—

अपने आप अपनी प्रशंसा (तारीफ) करनेवाले, स्तब्ध पूज्यों का सत्कार न करनेवाले, धन से उत्पन्न हुए मानमदों से युक्त, वे दम्भ के कारण विधिपूर्वक यज्ञ नहीं करते हैं। अहङ्कार, बल, गर्व, काम, एवं क्रोध को भली भाँति प्राप्त कर वे अपने और दूसरों के शरीर में स्थित जो मैं उनके (मेरे) साथ द्वेष करते हुए निन्दा में प्रवृत्त होते हैं। सन्मार्ग के शत्रु, क्रूर, अशुभ कर्म करने वाले, उन नीच मनुष्यों को मैं सदा इस संसार में आसुरी योनि के बीच जन्म देता हूँ। हे कौन्तेय (अर्जुन)! वे मूढ़ प्रत्येक जन्म में असुर योनि को प्राप्त करते हैं, मुझको न पाकर अधमाधम गति को प्राप्त करते हैं। ज्ञेय का ज्ञान करानेवाली शुद्धवासना है।

ज्ञेयवस्तु का स्वरूप भगवान् ने गीता के १३ अ० में कहा है—

"ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्मृतम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः पारमुच्यते ॥" इति ।

जिसको जानकर मोक्ष प्राप्त होता है उस ज्ञेय (ज्ञान करने योग्य वस्तु) को कहता हूँ। वह अनादि परब्रह्म सत् (विद्यमान) असत् (अविद्यमान) से विलक्षण कहा जाता है। उसके चारों ओर हाथ, पैर, आँख, शिर, मुँह और कान हैं। वह लोक में सबको व्याप्त करके स्थित है। वह सारे इन्द्रियों के गुणों का आभास अर्थात् प्रकाश स्थान होकर भी सब इन्द्रियों से हीन है। सङ्ग रहित होकर भी सारे ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाला है और सत्त्व रज तम गुणों से अलग भी सत्त्वादिगुणों का भोक्ता है। वह सारे भूतों के बाहर और भीतर चर और अचर है, सूक्ष्म होने से जानने के योग्य नहीं हैं, दूर है और निकट भी है। वह भूतों के विषय में अविभक्त (अलग बटा हुआ नहीं भी बटा-सा) स्थित है और सारे भूतों का पोषण संहार और उत्पत्ति करनेवाला है वह सूर्य चन्द्र आदि ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशक) है, तमसे परे अर्थात् अज्ञान से परे कहा जाता है।

अत्र तटस्थलक्षणस्वरूपलक्षणाभ्यामवगन्तुं सोपाधिकनिरूपाधिकस्वरूपद्वयशून्यमुपन्यस्तम् । कदाचित्सम्बन्धिसद्यल्लक्षयति तत्तटस्थलक्षणम् । यथा देवदत्तगृहम् । तथा कालत्रयसम्बन्धि सद्यल्लक्षयति तत्स्वरूपलक्षणम् । यथा प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति ।

उपरोक्त श्लोकों में ज्ञेय वस्तु को तटस्थ और स्वरूपलक्षण द्वारा जानने के लिए उपाधि सहित और उपाधिरहित इस दो प्रकारके ज्ञेय स्वरूप को कहा है। जो लक्ष्य के साथ किसी समय विशेष में सम्बद्ध होकर लक्ष्य वस्तु का बोधन करता है उसका नाम तटस्थ लक्षण है

जैसे पटनेवाले देवदत्त का घर है ? इस वाक्य में पटना देवदत्त के घरके साथ समय विशेष में ही सम्बद्ध होकर इतर घर से अलग हो देवदत्त के गृहरूप लक्ष्य को बतलाता है अतएव मध्य तस्थलक्षण कहा जाता है। सदा लक्ष्य के साथ ही रहकर लक्ष्य को अन्य पदार्थों से अलग कर बतलानेवाला स्वरूप लक्षण है जैसे किसी ने किसी बालक से पूछा कि इस आकाश में स्थित ज्योतिर्गणों में चन्द्रमा कौन है ? इसके उत्तर में स्थूलविचार से उसने कहा कि जिसका सबसे अधिक प्रकाश है वह चन्द्रमा है इस वाक्य में बालक को तारागण से अलग करते हुए चन्द्रमा का बोध कराता है, प्रकृष्ट प्रकाशयुक्त चन्द्रमा है, यह स्वरूप लक्षण है।

ननु त्यक्तपूर्वापरविचारत्वं वासनालक्षणमुक्तम्। ज्ञेयज्ञानं च विचारजन्यमतो न शुद्धायां तल्लक्षणमस्ति। मैवम्।

शङ्का—पूर्वापर विचाररहित स्फुरण का हेतुरूप संस्कार को तुम वासना कहते हो और ज्ञेय-ज्ञान तो विचारजन्य है, अत एव उसमें शुभवासना का लक्षण सम्भव नहीं होता है।

लक्षणे दृढभावनयेत्युक्तत्वात्। यथा बहुषु जन्मसु दृढभावितत्वेनास्मिन् जन्मनि विनैव परोपदेशमहङ्कारममकारकामक्रोधादयो मलिनवासना उत्पद्यन्ते, तथा प्राथमिकस्य बोधस्य विचारजन्यत्वेऽपि दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारभाविते तत्त्वे पश्चाद् वाक्ययुक्तिपरामर्शमन्तरेणैव पुरोवर्त्तिघटादिवत्सहसा तत्त्वं परिस्फुरति तादृश्या बोधानुवृत्त्या सहित इन्द्रियव्यवहारः शुद्धवासना। सा च देहजीवनमात्रायोपयुज्यते। न तु दम्भदर्पाद्यासुरसम्पदुत्पादनाय, नापि जन्मान्तरहेतुधर्माधर्मोत्पादनाय। यथा भृष्टानि व्रीह्यादिबीजानि कुसूलपूरणमात्रायोपयुक्तानि न रुचिरान्नाय, नापि सस्यनिष्पत्तये, तद्वत्।

समाधान—वासनालक्षण में "दृढभावनया" (दृढ अभ्यास द्वारा) ऐसा पद दिया है, इसलिये जैसे अनेक जन्मों में दृढ अभ्यास किया हुआ होने से इस जन्म में अन्य के उपदेश के विना ही, अहङ्कार, ममकार, काम, क्रोध आदि मलिन वासनायें उत्पन्न होती हैं। उसी प्रकार प्रथम ज्ञान से विचार के द्वारा उत्पन्न होने पर भी उसका चिरकाल

अविच्छिन्नता से (निरन्तर) आदरपूर्वक सेवन करनेसे परमतत्त्व की भावना दृढ़ होने के अनन्तर महावाक्य और युक्तियों का स्मरण किये बिना भी सम्मुख रक्खे हुए घड़े के समान आत्मतत्त्व का स्फुरण कराता है। इस प्रकार के बोध की अनुवृत्ति सहित जो इन्द्रियव्यवहार, वह शुद्धवासनारूप है, वह शरीर के जीवन के लिये ही उपयोगी है। वह दम्भ, दर्प आदि किसी आसुरी सम्पत्ति को नहीं पैदा करती है, उसी प्रकार जन्मान्तर के कारणरूप धर्म, अधर्म को भी उत्पन्न नहीं करती है। जैसे भूना हुआ व्रीहि आदि बीज केवल कोठी भरने ही के काम में आता है, किन्तु उससे रुचिकर अन्न नहीं होता है उसी प्रकार उससे बीजान्न भी नहीं उपजता है, उसी तरह शुभवासना भी भूँजे हुए बीज की तरह अर्थात् वह शरीर निर्वाह के सिवाय आसुरी सम्पत्ति की उत्पत्ति या पुनर्जन्म का कारण नहीं हो सकती है।

मलिना च वासना त्रिविधा। लोकवासना शास्त्रवासना देहवासना चेति। सर्वे जना यथा मां न निन्दन्ति यथा वा स्तुवन्ति तथैव सर्वदा चरिष्यामीत्यभिनिवेशो लोकवासना। तस्याः सम्पादयितुमशक्यत्वान्मलिनत्वम्—तथा हि—

"कोन्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्" इत्यादिना बहुधा वाल्मीकिः प्रपच्छ।

"इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः"

इत्यादिना प्रत्युत्तरं नारदो ददौ। तादृशस्यापि रामस्य पतिव्रताशिरोमणिभूताया जगन्मातुः सीतायाश्च श्रोतुमशक्यो जनापवादः सम्प्रवृत्तः। किमु वक्तव्यमन्येषाम्।

लोकवासना शास्त्रवासना और देहवासना इस प्रकार मलिन-वासना तीन प्रकार की है। वहाँ सब लोग मेरी स्तुति करे, कोई भी मेरी निन्दा न करे ऐसा मैं आचरण करूँगा इस प्रकार के अभिनिवेश को लोकवासना कहते हैं ऐसी वासना का सम्पादन करना कठिन होने से इसका नाम मलिनवासना है क्योंकि श्रीवाल्मीकीजी ने नारदजीसे पूछा कि इस संसार में अत्यन्त गुणवान् और कीर्तिमान् कौन है? इसके उत्तर में नारद ने कहा कि, ऐसे तो इक्ष्वाकुवंश में अवतीर्ण

श्रीरामजी हैं, ऐसे श्रीरामचन्द्रजी की स्त्री पतिव्रताओं में मुकुट स्वरूपा जगन्माता श्रीसीता देवी के ऊपर भी ऐसा अपवाद लगा जिसे लोग सुन न सके। जब कि ऐसों की यह दशा हुई फिर दूसरों का क्या कहना ?

तथा देशविशेषेण परस्परं निन्दाबाहुल्यमुपलभ्यते। दाक्षिणात्यैर्विप्रैरौत्तरीया वेदविदो विप्रा मांसभक्षिणो निन्द्यन्ते। औत्तरेयैश्च मातुलसुतोद्वाहिनो यात्रासु मृद्भाण्डवाहिनो दाक्षिणात्या निन्द्यन्ते। बह्वृचा आश्वलायनशाखां कण्वशाखायाः प्रशस्तां मन्यन्ते। वाजसनेयिनस्तु वैपरीत्येन। एवं स्वस्वकुलगोत्रबन्धुवर्गेष्टदेवतादिप्रशंसा परकीयनिन्दा च, आविद्वदङ्गनागोपालं सर्वत्र प्रसिद्धा। एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्।

उसी तरह देशभेद के कारण परस्पर निन्दा प्राय: देखने में आती है—दक्षिणदेशस्थ ब्राह्मण उत्तर देशस्थ वेद जाननेवाले ब्राह्मणों की ये मांस खानेवाले हैं यह कहकर निन्दा करते हैं, उसी तरह उत्तरदेशस्थ ब्राह्मण दाक्षिणात्य ब्राह्मणों को "वे मातुल (मामी) की लड़की से ब्याह करते हैं तथा मुसाफरी में माटी के बर्तनों को साथ लेकर जाते हैं", यह कहकर निन्दा करते हैं। ऋग्वेदी ब्राह्मण आश्वलायन शाखा को कण्वशाखा से श्रेष्ठ मानते हैं, तो वाजसनेयी शाखा के पढ़नेवाले यजुर्वेदी द्विज इसके उलटा मानते हैं अर्थात् आश्वलायन शाखा से कण्व को श्रेष्ठ मानते हैं इस प्रकार अपने-अपने कुल, गोत्र, बन्धु वर्ग एवं इष्टदेव की प्रशंसा तथा अन्य कुल गोत्र की निन्दा, विद्वान् से लेकर अत्यन्त पामर स्त्री एवं यादव जाति के लोग करते हैं—यह सर्वत्र लोक प्रसिद्ध बात है।

इसी अभिप्राय से कहा है कि—

"शुचिः पिशाचो विचलो विचक्षणः।
क्षमोप्यसक्तो बलवांश्च दुष्टः॥
निश्चित्तचोरः सुभगोऽपि कामी।
को लोकमाराधयितुं समर्थः॥" इति।

पवित्र और पिशाचके समान, चपल और विचक्षण शक्तिमान्

तथा अशक्त, बलवान् तथा दुष्ट, चित के ठिकाना के विना चोर, सुन्दर और कामी ऐसा कौन पुरुष लोक को प्रसन्न करने में समर्थ है? कोई भी नहीं ।

"विद्यते न खलु कश्चिदुपायः
सर्वलोकपरितोषकरो यः ।
सर्वथा स्वहितमाचरणीयं
किं करिष्यति जनो बहुजल्पः ॥" इति च ।

जिससे सब लोग प्रसन्न ही रहें कोई भी अप्रसन्न न हो ऐसा कोई भी उपाय नहीं है इसलिये सब प्रकार जिसमें अपनी भलाई हो वैसा ही काम करे । बहुत बोलनेवाला मनुष्य क्या कर सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता है ।

अतो लोकवासनाया मलिनत्वमभिप्रेत्य योगीश्वरस्य तुल्यनिन्दास्तुतित्वं मोक्षशास्त्रेषु वर्णितम् । शास्त्रवासना त्रिविधा । पाठव्यसनं शास्त्रव्यसनमनुष्ठानव्यसनं चेति । पाठव्यसनं भरद्वाजेऽवगम्यते । स हि पुरुषायुषत्रयेण बहून् वेदानधीत्येन्द्रेण चतुर्थायुषि प्रलोभितस्तत्रापि परिशिष्टवेदाध्ययनायोद्यमं चकार । तस्यापि पाठस्याशक्यत्वान्मलिनवासनात्वम् । तां चाशक्तिमिन्द्रः प्रतिबोध्य पाठान्निवर्त्य ततोऽप्यधिकाय पुरुषार्थाय सगुणब्रह्मविद्यामुपदिदेश । तदेतत्सर्वं तैत्तिरीयब्राह्मणे द्रष्टव्यम् । तथैवाऽऽत्यन्तिकपुरुषार्थाभावाद्बहुशास्त्रव्यसनस्य मालिन्यं कावषेयगीतायामुपलभ्यते ।

"कश्चिन्मुनिर्दुर्वासा बहुविधशास्त्रपुस्तकभारैः सह महादेवं नमस्कर्तुमागतस्तत्सभायां नारदेन मुनिना भारवाहिगर्दभसाम्यमापादितः कोपात्पुस्तकानि लवणार्णवे परित्यज्य महादेवेनाऽऽत्मविद्यायां प्रवर्त्तितः" इति । आत्मविद्या चानभिमुखस्य गुरुकारुण्यरहितस्य न वेदशास्त्रमात्रेणोत्पद्यते । तथा च श्रुतिः—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" इति।

अन्यत्राप्युक्तम्।

इस प्रकार लोकवासना को मलिन कहकर मोक्षशास्त्र में योगीश्वर की निन्दा और स्तुति में समानता कही गई है।

शास्त्रवासना भी तीन प्रकार की है—१. पाठव्यसन २. शास्त्रव्यसन और ३. अनुष्ठानव्यसन। इनमें से पाठव्यसन भरद्वाज मुनि में देखने में आता है। श्री भरद्वाज मुनि ने अपनी ३०० वर्ष की पूरी आयु पर्यन्त बहुत वेदों को पढ़ा, तब इन्द्र ने आकर १०० वर्ष की आयु देने का लालच दिया, इतनी आयु से भी शेष रहे वेदों के अध्ययन के लिये प्रयत्न करने का निश्चय किया। उसके बाद इन्द्र ने उनको समझाकर पाठ करने से रोककर उन्हें अधिक पुरुषार्थ करने के लिये सगुण ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। ये विषय तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्पष्ट है। बहुत शास्त्रोंका व्यसन भी मोक्षरूप आत्यन्तिक पुरुषार्थ का हेतु न होने से उसे भी मलिनता कावषेय गीता में कहा गया है, वह इस प्रकार है—किसी दुर्वासा नाम के मुनि ने अनेक प्रकार की पुस्तकों का भार साथ लेकर महादेव जी को नमस्कार करने आये तब नारदमुनि जो महादेवजी की सभा में पहले से बैठे थे। उन्होंने दुर्वासा मुनि को भार ढोनेवाले गदहे की भाँति सभा के बीच व्यक्त किया। इससे दुर्वासा मुनि ने क्रोध के वश सभी पुस्तकें खारसमुद्र में फेंक दी और महादेवजी की सभा में आए, महादेवजी ने उनकी अध्यात्मविद्या में प्रवृत्ति कराई। यह आत्मविद्या, जिसकी अन्तर्मुख वृत्तियाँ नहीं हुई हैं तथा जिसने सद्गुरु की कृपा प्राप्त नहीं की है, ऐसे पुरुष को किसी काल में भी केवल वेदशास्त्र के अभ्यास से प्राप्त नहीं होती है। यह आत्म-शास्त्र के द्वारा, ग्रन्थ के अर्थ को धारण करानेवाली शक्ति द्वारा, या बहुत सुनने से प्राप्त नहीं होती है ऐसा श्रुति में कहा है। अन्यत्र भी कहा है—

"बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम्॥" इति।

अनेक शास्त्रों की कथारूप कन्था के बार-बार चर्वण से क्या फल

हैं ? तत्त्वज्ञ पुरुष तो प्रयत्न द्वारा आन्तर ज्योति का अन्वेषण करें (आन्तर ज्योति को खोजें)।

"अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥" इति च ।

चारो वेदों और अनेक शास्त्रों के पढ़नेपर भी, जैसे अनेक पाक में फिरती हुई कलछी (दर्वी) अन्न के रस को नहीं जानती है, वैसे ही अन्तर्मुख वृत्ति रहित और गुरुकृपाशून्य पुरुष ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानता है।

नारदश्चतुःषष्टिविद्याकुशलोऽप्यनात्मवित्त्वेनानुतप्तः सनत्कुमारमुपससाद इति छन्दोगा अधीयते । अनुष्ठानव्यसनं विष्णुपुराणे निदाघस्योपलभ्यते । वासिष्ठरामायणे दाशूरस्य । निदाघो हि ऋभुणा पुनः पुनर्बोध्यमानोऽपि कर्मश्रद्धाजाड्यं चिरं न जहौ । दाशूरश्चात्यन्तश्रद्धाजाड्येनानुष्ठानाय शुद्धप्रदेशं भूमौ न क्वाप्युपलेभे । अस्याश्च कर्मवासनायाः पुनर्जन्महेतुत्वान्मलिनत्वम् । तथाचाऽऽथर्वणिका अधीयते—

नारदमुनि ६४ कला विद्याओं में कुशल थे। तब भी ब्रह्मवित् न होने से व्याकुल हो सनत्कुमार मुनि की शरण में गये यह बात छान्दोग्य उपनिषद् में कही गई है। अनुष्ठान-व्यसनता निदाघजी का विष्णुपुराण में भी कही गई है। दाशूर के पुत्र निदाघ को ऋभु के बार-बार बोध कराने पर भी चिरकाल तक उन्होंने कर्म में जडश्रद्धा की त्याग नहीं किया। दाशूर को अत्यन्त श्रद्धा की जडता के कारण यज्ञ करने योग्य भूमि पृथिवी पर कहीं नहीं मिली। यह बात योगवासिष्ठ रामायण में कही गई है। यह कर्मवासना पुनर्जन्म की हेतुरूप होने से मलिन है। अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषद् में भी कहा है कि—

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरां मृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ॥
अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनेव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेनानुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥"

भगवताप्युक्तम्।

जिन यज्ञों में अठारह प्रकार के (१६ ऋत्विक् १ यजमान और यजमान की स्त्री) नीच कर्म को कहा है। वे ये यज्ञरूप नौकायें अदृढ़ हैं अर्थात् इनसे संसारसागर का पार नहीं पा सकते हैं। जो मूढ़ लोग इस उक्त कर्म को परमकल्याण मार्ग या मोक्ष है, ऐसा सर्वोत्कृष्ट मानकर अच्छे प्रकार का आनन्द मानते हैं। वे बार-बार ही वृद्धावस्था के साथ-साथ होनेवाली मृत्यु को प्राप्त करते हैं अर्थात् नष्ट-भ्रष्ट होते हैं। अविद्या के बीच डूबे हुए आपको धीर और पण्डित मानने वाले अधम, जैसे नेत्रहीन पुरुष द्वारा अन्य अन्धे पुरुष चलते हैं, इसी प्रकार वे मूढ़ (कर्म करनेवाले) बार-बार जन्म-मरण रूप गढ़े (कुमार्ग) में गिरते हैं। बहुत प्रकार की अविद्या में ऐसे बालक (अज्ञलोग) अपने को कृतकृत्य मानते हैं। राग का आश्रयकर जिस किसी कर्म में आसक्त होकर उस कर्म की फलप्राप्ति के लिए आतुर कर्म फल के क्षय होने से उस परमतत्त्व मोक्ष से गिर जाते हैं। जो अत्यन्त मूढ़ कर्मी पुरुष इष्टापूर्त्त (लौकिक फलभोग की इच्छा) को ही श्रेष्ठ मानते हैं, कर्म के सिवाय अन्य उपायों को श्रेष्ठ नहीं मानते हैं। उससे वे स्वर्ग में सुकृत के द्वारा तज्जन्य तुच्छ सुख को भोगकर इस मनुष्य लोक में या इस से भी नीचे के लोक में प्रवेश करते हैं।

श्री कृष्णजी ने भगवद्गीता के अ० २, श्लो० ४२-४६ में कहा है कि—

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥" इति ।

हे अर्जुन ! वेदों में अनेक भाँति से दिखाये हुए जो स्वर्ग आदि फल हैं उनमें अभिलाषा करनेवाले, कर्मकाण्ड से अन्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है ऐसा कहनेवाले विविध-कामनाओं के कर्म में प्रवृत्त, स्वर्गवास को ही परम पुरुषार्थ माननेवाले ऐसे जो अज्ञानी लोग हैं, वे केवल ऐश्वर्यों के भोग में ही दृष्टि देकर नाना क्रियाओं के आडम्बरों से बढ़ी हुई, जन्म के द्वारा कर्मफलों को देनेवाली वाणी को पल्लवित कर (बढाकर) कहते हैं। परन्तु भोग और ऐश्वर्य में फँसे हुए तथा-कर्मकाण्डों से खींची है चित्तवृत्ति जिनकी ऐसे व्यक्तियों के अन्तःकरण में दृढ प्रवृति वाली बुद्धि नहीं होती है। वेद सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूप जो संसार के विषय सुख उनको प्रकाश करने वाले हैं। हे अर्जुन ! तुम तो निष्काम हो और परस्पर विरोधी सुखदुःखादि-पदार्थों से मुक्त हो, नित्य धैर्य को धारण कर, यह पदार्थ कैसे मिलेगा यह कैसे रहेगा इस चिन्ता को छोड़ आत्मवान् अर्थात् प्रमाद से रहित हो, छोटे-छोटे जलाशयों से होनेवाले जो काम होते हैं, वे चारो ओर से भरे हुए बड़े भारी जलाशय में जैसे सहज में होते हैं; उसी प्रकार सम्पूर्ण वेदों से होने वाले जो प्रयोजन वे ब्रह्म जानने वाले को सहज में हो जाते हैं।

"दर्पहेतुत्वाच्छास्त्रवासनाया मलिनत्वम् । श्वेतकेतुरल्पेनैव कालेन सर्वान् वेदानधीत्य दर्पेण पितुरपि पुरतोऽविनयं चकारेति छन्दोगाः षष्ठाध्याये पठन्ति । तथा बालाकिः कानिचिदुपासनान्यवगत्य दृप्त उशीनरादिषु बहुषु देशेषु दिग्विजयेन बहून् विप्रानवज्ञाय काश्यामजातशत्रुं ब्रह्मविच्छिरोमणिमनुशासितुं धाष्टर्यं चकारेति कौषीतकिनो वाजसनेयिनश्चाधीयते । देह-वासनाऽऽप्यात्मत्वगुणाधानदोषापनयनभ्रान्तिभिस्त्रिविधा । तत्राऽऽत्मत्वं भाष्यकार उदाजहार—

"देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता लौकयितिकाश्च

प्रतिपन्नाः ॥" इति ।

शास्त्रवासना गर्व का कारण होने से मलिन है, श्वेतकेतु ने थोड़े समय में सब वेदों का अभ्यास कर गर्व से अपने पिता के समीप भी अविवेक किया, यह वार्त्ता छान्दोग उपनिषद में है। बालाकि ने कतिपय उपासनाओं को जानने से अभिमानी होकर, उशीनर आदि अनेक देशों में दिग्विजय द्वारा बहुत से ब्राह्मणों का अपमान कर अन्त में काशी में ब्रह्मज्ञ शिरोमणि अजातशत्रु नामक राजा को भी उपदेश देने के लिये अपनी ढिठाई (धृष्टता) प्रकट की, यह बात बृहदारण्यक एवं कौषीतकी उपनिषद् में प्रसिद्ध है। देहवासना भी देहात्मभाव, गुणाधान, और दोषापनयन भ्रान्ति द्वारा तीन प्रकार की है :— "चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है, इस प्रकार पामर लोग और लौकायतिक—चर्वाक के अनुयायी मानते हैं। इस प्रकार देह में आत्मत्व का उदाहरण भगवान् शङ्कराचार्य ने शारीरक-भाष्य में दिया है।

"स वा पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यारभ्य "तस्मादन्नं तदुच्यते" इत्यन्तेन ग्रन्थेन तामेव प्राकृतप्रतिपत्तिं तैत्तिरीयाः स्पष्टीकुर्वन्ति । विरोचनः प्रजापतिनाऽनुशिष्टोऽपि स्वचित्तदोषेण देहात्मबुद्धिं दृढीकृत्यासुरान् सर्वाननुशशास इति छन्दोगा अष्टमाध्याये समामनन्ति । गुणाधानं द्विविधम् । लौकिकं शास्त्रीयं चेति । समीचीनशब्दादिसम्पादनं लौकिकम् । कोमलध्वनिना गातुमध्येतुं वा तैलपानमरीचभक्षणादिषु लोकाः प्रयतन्ते । मृदुस्पर्शाय लोकाः पुष्टिकरावौषधाहारावुपयुञ्जते । लावण्यायाभ्यङ्गोद्वर्तनदुकूलालङ्कारानुपसेवन्ते । सौगन्ध्याय स्रगालेपने धारयन्ति । शास्त्रीयं गुणमाधातुं गङ्गास्नानशालिग्रामतीर्थादिकं सम्पादयन्ति ।

यह पुरुष अन्न रस का विकार रूप है। यहाँ से आरम्भ कर "इस लिये उसे अन्न कहते हैं" यहाँ तक तैत्तिरीयोपनिषद् में भी उसी प्राकृत लोगों का मत दिखलाया है। विरोचन को ब्रह्मा ने उपदेश दिया उस पर भी उसने अपने अन्तःकरण के दोष से देहात्म-बुद्धि को दृढ़ कर

उसने असुरों को उपदेश दिया, यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् के अध्याय ८ में स्पष्ट है। गुणाधान (आपे में जो गुण न हो उसको प्राप्त करना) शास्त्रीय और लौकिक इस भाँति दो प्रकार का है। कण्ठ में सुन्दर स्वर का सम्पादन आदि लौकिक गुणाधान है। कोमल स्वर से गान या अध्ययन के लिये तैलपान, मरीच का सेवन आदि उपायों को बहुत लोग प्रयत्न पूर्वक व्यवहार करते हैं। बहुत लोग तो अपने शरीर को मुलायम करने के लिये पुष्टिकारक औषध और आहार का सेवन करते हैं। सुन्दर रूप होने के लिये अभ्यंग और उबटन का व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार सुन्दर वस्त्र और अलंकारों को धारण करते हैं। शरीर को सुगन्धित करने के लिये चन्दन और पुष्पमालाओं को धारण करते हैं। इन सब की लौकिक गुणाधान में गिनती है। शास्त्रीय गुण को प्राप्त करने के लिये गंगा स्नान और शालिग्राम के चरणामृत का सेवन करते हैं।

दोषापनयनं च चिकित्सकोक्तैरौषधैर्मुखादिप्रक्षालनेन च लौकिकम्, शौचाचमनाभ्यां वैदिकमित्युभयविधम्। अस्याश्च देहवासनाया मालिन्यं वक्ष्यते। देहस्याऽऽत्मत्वं तावदप्रामाणिकत्वादशेषदुःखहेतुत्वाच्च मलिनत्वम्। अस्मिँश्चार्थे पूर्वाचार्यैः सर्वैरपि पराक्रान्तम्। गुणाधानं च प्रायेण न पश्यामः। प्रसिद्धा एव गायका अध्यापकाश्च प्रयतमाना अपि बहवो ध्वनिसौष्ठवं न लभन्ते। मृदुस्पर्शोऽङ्गपुष्टिश्च न नियता। लावण्यसौगन्ध्ये अपि दुकूलस्रगादिनिष्ठे न तु देहनिष्ठे। अत एव विष्णुपुराणेऽभिहितम्।

दोषापयन (शरीर के दोषों को दूर करना) भी लौकिक और शास्त्रीय दृष्टि से दो प्रकार का है। वैद्य के कथन के अनुसार औषधों के सेवन तथा मुखप्रक्षालनादि से दोषापनयन को लौकिक दोषापनयन कहते हैं, और शौच आचमन द्वारा शास्त्रीय दोषापनयन कहलाता है। इसे देहवासना की मलिनता कहेंगे। देह को आत्मा जानना यह प्रमाण शून्य और सब दुःखों का कारण रूप होने से मलिन है। देह को आत्मा मानने का खण्डन सभी पूर्वाचार्यों ने अतिशय प्रयत्न से किया है। गायक और अध्यापक सुन्दरध्वनि होने के लिये प्रयत्न

करते हुए भी प्रायः निष्फल हो जाते हैं। शरीर का खूब मुलायम होना और पुष्ट होना यह भी औषधादि के सेवने से ही हो जाता है। लावण्य और सुगन्धी भी वस्त्र अलंकार पुष्पमाला आदि में स्थित है, देह में नहीं;

अत एव विष्णुपुराण में कहा है—

"मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ।
देहे चेत्प्रीतिमान् मूढो भवति नरकेऽपि सः॥
स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते॥" इति।

माँस, रुधिर, पीव, विष्ठा, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियों के संघातरूप शरीर में जो मूढ़ पुरुष प्रीति रखता है, वह नरक जो वैसे ही पदार्थों से भरा रहता है, उसमें भी उसको प्रसन्न होना चाहिये। अपने शरीर में स्थित अशुचि दुर्गन्ध से जिस पुरुष को शरीर में विराग उत्पन्न नहीं होता है, उस पुरुष को दूसरा वैराग्यजनक किस कारण का उपदेश किया जावेगा।

"शास्त्रीयं च गुणाधानं प्रबलेन शास्त्रान्तरेणापोह्यते "न हिंस्यात्सर्वाभूतानि" इत्यस्य "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेनापवादस्तद्वत्प्रबलशास्त्रमेतत्॥

शौच आचमनादि गुणाधान, उसके विधान करने वाले शास्त्र की अपेक्षा अधिक बलवान् शास्त्र से बाधित होता है, जैसे "किसी प्राणी की हिंसा न करे" इस वेदवचन का—"अग्निष्टोम यज्ञ में पशु का आलम्भन करे"—यह वाक्य अपवाद है। वैसे शास्त्रीय गुणाधान का अपवाद रूप निम्नलिखित शास्त्र वचन है—

"यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यस्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥"

जिस को वात, पित्त और कफ, इन धातुओं के बने हुये शव (देह) में आत्मबुद्धि है, स्त्री, पुत्रादि में जिस की आत्मबुद्धि है,

पृथ्वी का विकार रूप प्रतिमा आदि में जिसकी पूज्य बुद्धि है, जिसकी जल में तीर्थ बुद्धि है, परन्तु ऐसी बुद्धि जिस ज्ञानवान् पुरुष में नहीं है, वह पुरुष भारवाही बैल या गदहा हैं।

"अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥" इत्यादि ।

देह अत्यन्त मलिन है, अर्थात् किसी प्रकार वह शुद्ध हो ऐसा नहीं है। और देहस्थ आत्मा अत्यन्त निर्मल हैं, उसकी शुद्धि की अपेक्षा नहीं है, ऐसा इन दोनों के भेद को समझ कर किसको शुद्ध करें? किसीको नहीं।

यद्यप्यनेन शास्त्रेण दोषापनयनं प्रतिषिध्यते न तु गुणाधानम्, तथाऽपि सति विरोधिनि प्रबलदोषे गुण आधातुमशक्य इत्यर्थाद् गुणाधानस्य प्रतिषेधः । अत्यन्तमालिन्यं चात्र मैत्रायणीयशाखायां श्रूयते ॥

यद्यपि यह वाक्य दोषापनयन का निषेध करता है, गुणाधान का निषेध नहीं करता है, तथापि जब तक प्रबल दोष विद्यमान रहते हैं, तब तक गुणाधान नहीं बन सकता है। इसलिये गुणाधान का निषेध भी इस वाक्य से समझ लेना चाहिए। देह की अत्यन्त मलिनता मैत्रायणी शाखा में कही गई है—

"भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिकादूषिते विण्मूत्रवातपित्तसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन्शरीरे किं कामोपभोगैः ॥ इति ।

हे भगवन्! इस शरीर को जो हड्डी, चर्म, नस, मज्जा, मांस, शुक्र (बीज), रुधिर, कफ, आँसु, दूषिका (आँख का मैल) आदि से दूषित है और विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त आदि का समुदायरूप और दुर्गन्धि वाला है, उसमें विषय-भोग का क्या प्रयोजन है? कोई भी नहीं है।

शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविद्व्यपेतं निरय इव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणाऽवबद्धं

विण्मूत्रकफपित्तमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्चाऽऽमयैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इव वसुनेति च चिकित्सया च रोगशान्तिर्न नियता। शान्तोऽपि रोगः कदाचित् पुनरुदेति। नवच्छिद्रैर्निरन्तरं स्रवत्सु मलेषु रोमकूपैरसङ्ख्यातैः स्विन्ने गात्रे को नाम स्वदेहमुपायेन प्रक्षालयितुं शक्नुयात्। तदुक्तं पूर्वाचार्यैः।

यह नरक तुल्य शरीर, मैथुन से उत्पन्न हुआ है। चैतन्यरहित, मूत्र द्वार से निकला, हड्डियों से व्याप्त, मांस से लिपटा, चाम से बँधा, जैसे द्रव्यों से भरा खजाना होने से इन विष्ठा, मूत्र, कफ, पित्त, मज्जा, मेद, वसा और अन्य रोग रूप द्रव्यों से पूर्ण है। दवा से रोगों की निवृत्ति हो ही जाती है ऐसा नियम नहीं है। और कदाचित् रोग छूट भी जावे तो फिर वह हो जाता है। नौ छिद्र (मलत्याग मार्ग, पेशाब करने का यन्त्र, मुँह, नाक के दो छेद, आँख के दो, और कान के दो) से निरन्तर मल निकलता रहता है और शरीर में पसीना होता है। उस समय भी असंख्यात रोमकूप से मल निकलता है। ऐसे शरीर को प्रक्षालन आदि उपायों से कौन शुद्ध कर सकता है? कोई नहीं।

पूर्वाचार्य्यों ने भी कहा है—

"नवच्छिद्रकृता देहाः स्रवन्ति घटिका इव।
बाह्यशौचैर्न शुद्ध्यन्ति नान्तः शौचं तु विद्यते॥"

अतो देहवासना मलिना। तदेतन्मालिन्यमभिप्रेत्य वसिष्ठ आह—

जैसे नौ छेदवाले घड़े में से जल बाहर गिरता है, उसी प्रकार नौ छेदवाले शरीर से मल बाहर होता है। यह शरीर बाह्य शौच (बाहरी सफाई) से शुद्ध नहीं हो सकता है। उसी प्रकार उसकी भीतरी शुद्धि तो नहीं है। इसलिये देहवासना मलिन है।

देहवासना को मलिन समझ कर वसिष्ठ ने भी कहा है :—

"आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः।
इत्येको निश्चयो राम! बन्धायासद्विलोकनात्॥

सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ।
साऽसिपत्रवनश्रेणी वा देहोऽहमितिस्थितिः ॥
सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ।
स्प्रष्टव्या सा न भव्येन स श्वमांसेव पुल्कसी ॥" इति ।

पैर से शिर तक मुझे माता-पिता ने ही रचा है। माता-पिता से उत्पन्न इस शरीर के सिवाय, अन्य मेरा स्वरूप नहीं है। हे राम ! इस प्रकार का एक निश्चय अयथार्थ दृष्टि रूप होने से बन्धन देने वाला हैं। 'मैं देह हूँ' ऐसा जो निश्चय है, वह कालसूत्र नामक नरक का मार्ग है। वह 'अवीचि' नामक नरक का मार्ग है। वह 'अवीचि' नामक नरक में फासने वाला बड़ा जाल है, वह 'असिपत्रवन' इस नाम के नरक की पंक्ति है। सभी पदार्थों के नाश का समय आने पर भी 'मैं देह हूँ' ऐसी भावना का सभी प्रयत्नों से त्याग करना चाहिए। भविष्य में कल्याण चाहने वाला पुरुष कुत्ते का मांस लेकर जाते हुए चाण्डाली के समान पूर्वोक्त अहम्भाव का स्पर्श भी नहीं करे।

"तदेतल्लोकशास्त्रदेहवासनात्रयमविवेकिनामुपादेयत्वेन प्रतिभासमानमपि विविदिषोर्वेदनोत्पत्तिविरोधित्वाद्विदुषो ज्ञानप्रतिष्ठाविरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम् । अत एव स्मर्यते ।"

लोकवासना, देहवासना और शास्त्रवासनायें तीन वासनायें अविवेकी पुरुष को ग्रहण करने योग्य प्रतीत भी हों तब भी वे जिज्ञासु के लिये ज्ञान उत्पत्ति में विरोधी होने से और ज्ञानी को स्थिरता की विरोधी होने से विवेकी पुरुष इनका सर्वथा त्याग करे।

इसीलिये योगवासिष्ठ में कहा है कि—

"लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥" इति ।

लोकवासना, शास्त्रवासना, और देहवासना के द्वारा जीव को यथाथ (ठीक) ज्ञान नहीं प्राप्त होता है।

या तु दम्भदर्पाद्यासुरसम्पद्रूपा मानसवासना तस्या नरकहेतुत्वान्मालिन्यमतिप्रसिद्धम् । अतः केनाप्युपायेन वासना-

चतुष्टयस्य क्षयः सम्पादनीयः। यथा वासनाक्षयः सम्पादनीयस्तथा मनसोऽपि। न च तार्किकवन्नित्यद्रव्यमणुपरिमाणं मनो वैदिका अभ्युपगच्छन्ति। येन मनोनाशो दुःसम्पादनीयः स्यात्। किं तर्हि सावयवमनित्यं सर्वदा जतुसुवर्णादिवद्बहुविधपरिणामार्हं द्रव्यं मनः। तस्य लक्षणं प्रमाणं च वाजसनेयिनः समामनन्ति।

दम्भ, दर्प आदि आसुरी सम्पत्तिरूप जो मानस वासना है। वह नरक का हेतु होने से उसकी मलिनता तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है, अत एव किसी उपाय से लोक, शास्त्र, देह और मानस इन चार प्रकार की वासनाओं का क्षय करे। जैसे वासनाओं का क्षय कर्त्तव्य है, उसी प्रकार मनोनाश भी कर्त्तव्य है।

तर्कशास्त्री लोग मन को नित्य, और अणुरूप मानते हैं, इसलिये उनके मत में मन का नाश यद्यपि अशक्य है। तथापि वैदिक पुरुष वैसा नहीं मानते हैं। वे तो अवयव वाले अनित्य और लोह सुवर्ण आदि के समान बहुत तरह के परिणाम पाने योग्य जो द्रव्य वह मन है ऐसा मानते हैं। मन का लक्षण और प्रमाण वाजसनेयी शाखा-वाले इस प्रकार कहते हैं।

"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव" इत्येतल्लक्षणम्।

कामादिवृत्तयः क्रमेणोत्पद्यमानाश्चाक्षुषप्रत्यक्षघटादिवत्साक्षिप्रत्यक्षा अतिस्पष्टं भासन्ते तद्वृत्त्युपादानं मन इत्यर्थः।

"काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय ये सब मन ही हैं ये सब ऊपर से जैसे घड़ा आदि पदार्थ चाक्षुष (आँख से) प्रत्यक्ष से स्पष्ट भासित होते हैं उसी प्रकार अनुक्रम से उत्पन्न होनेवाली काम आदि वृत्तियाँ साक्षिप्रत्यक्ष से स्पष्ट भासमान हैं। उन वृत्तियों का उपादान कारण यह मन ही है यह मन का लक्षण हुआ।

"अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्" इति "मनसा ह्येष पश्यति मनसा शृणोति" इत्यादि प्रमाणम्।

मेरा मन अन्यत्र था इससे मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था इससे मैंने नहीं सुना। और "यह पुरुष मन से देखता है और मन से सुनता है" यह श्रुति मन के सद्भाव में प्रमाणरूप है।

चक्षुःसन्निकृष्टः स्फीतालोकमध्यवर्त्ती घटः श्रोत्रसन्निकृष्ट उच्चैःपठितवेदश्च यस्यानवधाने सति न प्रतीयते, अवधाने तु प्रतीयते। तादृशं सर्वविषयोपलब्धिसाधारणकारणमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतीयत इत्यर्थः।

"तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाती" त्येतदुदाहरणम्।

नेत्र इन्द्रिय के समीप बहुत प्रकाश में रहने वाला घड़ा और कान के पास ऊंचे स्वर से पढ़ने से वेद जिसके अवधान से प्रतीत होता है, उसी प्रकार जिसकी अनवधानता से प्रतीत न हो वैसे सब विषयों के ज्ञान का जो साधारण कारण अन्वय व्यतिरेक रीति से प्रतीत होता है, वह मन है। "पीठ पर से हुए स्पर्श को मन से जानता है" यह मन का उदाहरण है।

यस्माल्लक्षणप्रमाणाभ्यां सिद्धं मनस्तस्मात्तदेवमुदाहरणीयम्। पृष्ठभागेऽप्यन्येनोपस्पृष्टो देवदत्तो विशेषेण जानाति हस्तस्पर्शोऽयमङ्गुलिस्पर्शोऽयमिति। नहि तत्र चक्षुः प्रसरति, त्वगिन्द्रियं तु मार्द्रवकाठिन्यमात्रोपक्षीणम्। तस्मान्मन एव विशेषज्ञानकारणं परिशिष्यते। तच्च मननान्मन इति चिन्तनाच्चित्तमिति चाभिधीयते। तच्च चित्तं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रकाशप्रवृत्तिमोहानां सत्त्वादिकार्याणां तत्र दर्शनात्। प्रकाशादीनां च गुणकार्यत्वं गुणातीतलक्षणेऽवगम्यते।

लक्षण और प्रमाण द्वारा मन के सिद्ध होने के लिये इस प्रकार उसका उदाहरण समझना चाहिए कि जैसे देवदत्त के पीठ की ओर होकर किसी ने उसका स्पर्श किया जिसको वह मालूम करता है कि "यह हाथ से किसी ने छुआ है और 'यह अङ्गुली से स्पर्श हुआ'— यहाँ पीठ की ओर नेत्र इन्द्रिय पहुँच नहीं सकती और त्वचा इन्द्रिय

केवल स्पर्शगत कठिनता या मृदुता को बताकर विराम को पाती है। अतएव हाथ का स्पर्श या अङ्गुली का स्पर्श इस विशेष ज्ञान का कारण जो शेष रहा वह मनन रूप क्रिया के कारण 'मन' कहा जाता है, और चिन्तन रूप क्रिया करने से 'चित्त' कहा जाता है। वह मन सत्त्व, रज, और तमोगुणमय है। क्योंकि इन तीनों गुणों का कार्य्य प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह मन में प्रतीत होते हैं।

"प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव"! इत्यभिधानात्। साङ्ख्यशास्त्रेऽपि प्रकाशप्रवृत्तिमोहा नियमार्था इत्युक्तम्। प्रकाशो नाम नात्र सितभास्वरं रूपं किं तु ज्ञानम्।

प्रकाश आदि तीन गुणों के कार्य्य हैं, यह गुणातीत के लक्षण में बताया है (भागवद्गीता में) प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह, नियम के लिये हैं। इसी प्रकार साङ्ख्यशास्त्र में भी कहा है। प्रकाश का अर्थ यहाँ शुक्लभास्वर रूप नहीं समझना चाहिए, किन्तु ज्ञानरूप प्रकाश समझना चाहिए। क्योंकि—

"सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥" इत्युक्तत्वात्।
ज्ञानवत्सुखमपि सत्त्वकार्यम्। तदप्युक्तम्॥

सत्त्वगुण से ज्ञान, रजो गुण से लोभ, और तमोगुण से प्रमाद, मोह, और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। गी० अ० १४ श्लो १६ में कहा गया है। ज्ञान के समान सुख भी सत्त्वगुण का कार्य है, यह बात भी उसी अध्याय में ९ वें श्लो. में कही गयी है।

"सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत!।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥" इति।

समुद्रतरङ्गवन्निरन्तरं परिणममानेषु गुणेषु कदाचित् कश्चिदुद्भवति। इतरावभिभूयेते। तदुक्तम्।

हे भारत! सत्त्वगुण के उदय होने से सुख, और रजोगुण के उदय होने से कर्मों में प्रवृत्ति होती है, परन्तु तमोगुण तो अपने उदय को पाकर ज्ञान को चारों ओर से रोक कर देही को प्रमाद में पटकता है।

समुद्र की लहरों की भाँति सदा परिणाम को प्राप्त होने वाले गुणों में जिस समय जिस गुण का अधिक उद्भव होता है। उस समय इतर गुण दब जाते हैं, यह भी गी० अ० १४ श्लो० १० में वर्णित है—

"रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ! ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥" इति ।
"बाध्यबाधकतां यान्ति कल्लोला इव सागरे ॥" इति ।

हे भारत ! सत्त्वगुण का, रजोगुण और तमोगुण को दबाकर उदय होता है। रजोगुण का, सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर उदय होता है। और तमोगुण का, सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर उदय होता है। समुद्र में लहरों की भाँति वे सब गुण बाध्यबाधकता को प्राप्त होते हैं।

तत्र तमस उदये सत्यासुरसम्पदुदेति । रजस उद्भवे सति लोकादिवासनास्तिस्रो भवन्ति । सत्त्वस्योद्भवे सति दैवी सम्पदुपजायते । एतदभिप्रेत्योक्तम् ।

जब तमोगुण का उद्भव होता है, तब आसुरी सम्पत्ति का उदय होता है, जब रजोगुण वृद्धि पाता है, तब लोक वासना आदि पूर्वोक्त तीन वासनाओं का उदय होता है, और जब सत्त्वगुण का उदय होता है तब दैवी सम्पत्ति उपजती है। इसी अभिप्राय से भागवद् गी० अ० १४ श्लो० ११ में कहा है—

"सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥" इति ।

इस शरीर के बीच जब सारे इन्द्रियों के द्वारों में ज्ञान रूप प्रकाश उत्पन्न होता है तब सत्त्वगुण की विशेष वृद्धि जानो।

यद्यप्यन्तःकरणं त्रिगुणात्मकं भासते तथाऽपि सत्त्वमेवास्य मनसो मुख्यमुपादानकारणम् । उपादानसहकारिभूता अवयवा उपष्टम्भकाः । रजस्तमसी तु तदुपष्टम्भके । अत एव ज्ञानिनो योगाभ्यासेन रजस्तमसोरपनीतयोः सत्त्वमेव स्वरूपं परिशिष्यते । एतदभिप्रेत्योक्तम् ।

यद्यपि अन्तःकरण त्रिगुणात्मक है ऐसा प्रतीत होता है, तथापि इस मन का मुख्य उपादान कारण तो सत्त्वगुण ही है। उपादान कारण की सहायता करने वाला अवयव 'उपष्टम्भक' कहलाता है, अतएव रजोगुण और तमोगुण सत्त्वगुण का उपष्टम्भक है। इसी कारण से ज्ञानवान् पुरुष का योगाभ्यास से रजस और तमस् दूर होने पर उसका केवल शुद्ध सत्त्व स्वरूप ही शेष रहता है। इसी अभिप्राय से किसी महात्मा ने कहा है कि—

"ज्ञस्य चित्तमचित्तं स्याज्ज्ञाचित्तं सत्त्वमुच्यते ॥" इति ।

ज्ञानी का चित्त सङ्कल्प विकल्प रहित होने से चित्त-संज्ञा के योग्य नहीं है। उसका चित्त तो केवल शुद्ध स्वरूप है।

तच्च सत्त्वं चाञ्चल्यहेतुरजोगुणशून्यत्वादेकाग्रम् । भ्रान्ति-कल्पितानात्मस्वरूपस्थूलपदार्थाकारहेतुतमोगुणशून्यत्वात् सूक्ष्म-म् । तत आत्मदर्शनयोग्यम् । अत एव श्रुतिः ।

वह सत्त्वरूप चित्त चञ्चलता के कारणभूत रजोगुण रहित होने से एकाग्र होता है, तथा भ्रान्तिकल्पित अनात्मस्वरूप स्थूल पदार्थ का आकार होने में कारणभूत तमोगुण-शून्य होने से वह आत्म-दर्शन के लिये योग्यता वाला होता है। श्रुति भी कहती है कि—

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मदर्शिभिः ॥" इति ।

सूक्ष्मदर्शी पुरुष एकाग्र और सूक्ष्मबुद्धि द्वारा आत्मा का दर्शन करता है।

न खलु वायुना दोधूयमानेन प्रदीपेन मणिमुक्तादिलक्षणानि निर्धारयितुं शक्यन्ते । नापि स्थूलेन खनित्रेण सूच्येव सूक्ष्म-पटस्यूतिः सम्भवति । तदीदृशं सत्त्वमेव योगिषु तमोगुणसहितेन रजोगुणेनोपष्टब्धं बहुविधद्वैतसङ्कल्पेन चेतयमानं चित्तं भवति । तच्चित्तं तमोगुणाधिक्ये सत्यासुरीं सम्पदमुपचिन्वत्पीनं भवति । तथाऽऽह वसिष्ठः ।

जैसे वायु द्वारा काँपते हुए दीप के प्रकाश से रत्न की परीक्षा करने वाला पुरुष रत्न के लक्षणों की परीक्षा नहीं कर सकता है, उसी

प्रकार बारीक सूई से जैसे सूक्ष्म वस्त्र सिआ जाता है, किन्तु उसी प्रकार स्थूल कुदारी से वस्त्र नहीं सिआ जा सकता है। यह सत्त्व ही योगियों में तमस् सहित रजोगुण मिश्रित होने से नानाविध द्वैत विषय के संकल्प द्वारा अनात्म वस्तु का दर्शन करने से चित्त संज्ञा को प्राप्त करता है। जब वह चित्त तमोगुण की अधिकतावाला होता है, तब वह आसुरी सम्पत्ति का संग्रह करने से स्थूलता को प्राप्त होता है। यह बात योग-वासिष्ठ में लिखा है कि—

"अनात्मन्यात्मभावेन देहभावनया तथा।
पुत्रदारैः कुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥
अहङ्कारविकारेण ममतामललीलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतौ ।
हेयादेयविभागेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥
दुराशाक्षीरपातेन भोगानिलबलेन च ।
आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम् ॥" इति ।

आस्था नाम प्रपञ्चे सत्यत्वबुद्धिस्तस्या आदानमङ्गीकारः स एव चारो गमनागमनक्रिया तथेति । विनशनीययोर्वासनामनसोः स्वरूपं निरूपितम् ॥

अनात्मपदार्थ में आत्मबुद्धि करने से, स्थूल शरीर में दृढ़ अहंभाव के कारण, स्त्री, पुत्र, और कुटुम्ब के द्वारा अर्थात् उसमें असक्ति से चित्त स्थूलता को प्राप्त करता है। अहंकार के विकास से अर्थात् उस की वृद्धि होने से ममता रूप मल के संसर्ग से, यह और मेरा ऐसे भाव के उदय होने से सत्यत्व बुद्धि से तथा यह त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है ऐसे विभाग से चित्त स्थूलता को प्राप्त करता है। आपातरमणीय ऐसे स्नेह से, धन के लोभ से, और मणिमुक्ता आदि

तथा स्त्री की प्राप्ति से चित्त स्थूलता को प्राप्त करता है। दुराशारूप दूध पीने से, भोगरूप वायु के सेवन जन्य प्राप्त बल से जगत् में सत्यत्व बुद्धि के स्वीकार से और विषयों के प्रति जाने आने से चित्त-रूपी सर्प स्थूलता को प्राप्त करता है।

इस प्रकार नाश करने योग्य वासना और मन के स्वरूप का निरूपण किया।

—ooXoo—

अथ वासनाक्षयमनोनाशौ क्रमेण निरूप्येते।
तत्र वासनाक्षयप्रकारमाह वसिष्ठः॥

अब वासना क्षय और मनोनाश का क्रम से निरूपण किया जाता है।

पहिले वासना क्षय का प्रकार भगवान् वशिष्ठ जी कहते हैं—

"बन्धो हि वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनात्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज॥
मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः।
ता अप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि॥
अन्तः शान्ततमस्नेहो भव चिन्मात्रवासनः।
तामप्यन्तः परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम्।
शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तं त्यज॥" इति।

वासनारूप बन्ध ही बन्ध हैं, और वासनाओं का क्षय ही मोक्ष है। इस लिये प्रथम वासनाओं का त्याग कर मोक्ष की कामना को भी छोड़ो। प्रथम विषय वासना तथा मानसी वासनाओं का त्याग कर मैत्री, मुदिता आदि की भावना नामक निर्मल वासनाओं को तुम ग्रहण करो। उस शुभवासना के द्वारा व्यवहार करने पर भी, अन्त में उनका भी त्याग कर अन्त में जिस का स्नेह (विषयों के प्रति) अत्यन्त शान्त हो गया है, ऐसे तुम केवल चिन्मात्र वासना वाला हो, यह मन बुद्धि सहित चिन्मात्र वासनाओं का भी त्याग कर सबकी अवधिभूत वस्तु में स्थिरवृत्ति स्थापन कर और जिसने इन सबको त्याग दिया है, उनको भी (उस वृत्ति को भी) तुम त्याग दो।

अत्र मानसवासनाशब्देन पूर्वोक्तास्तिस्रो लोकशास्त्रदेहवासना विवक्षिताः । विषयवासनाशब्देन दम्भदर्पाद्यासुरसम्पद्विवक्षिता । मृदुतीव्रत्वे तद्विवक्षाभेदकारणे । यद्वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयास्तेषां काम्यमानत्वदशाजन्यसंस्कारो मानसवासना । भुज्यमानत्वदशाजन्यः संस्कारो विषयवासना । अस्मिन्पक्षे पूर्वोक्तानां चतसृणामनयोरन्तर्भावः । अन्तर्बाह्यव्यतिरेकेण वासनान्तरासम्भवात् ।

यहाँ मानस वासना शब्द से लोकवासना, शास्त्र-वासना, और देह वासना विवक्षित है। और विषयवासना शब्द दे दम्भ, गर्व आदि आसुरी सम्पत्ति विवक्षित है। लोक आदि की वासना तीव्र होने से वे दोनों अलग-अलग गिनी जाती हैं अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध इन पांच विषयों का कामनाजन्य चित्तगत संस्कार ही मानस वासना है, और उन विषयों को भोगने से उत्पन्न संस्कार विषय वासना है ऐसा जानना चाहिए। इस पक्ष में पूर्वोक्त ४ वासनाओं में समावेश हो जाता है, क्योंकि अन्तर वासना और बाह्य वासना से अतिरिक्त वासना सम्भव नहीं है।

ननु वासनापरित्यागः कथं घटते ? नहि तासां मूर्त्तिरस्ति । येन सम्मार्जनीसमूहितधूलितृणवद्धस्तेनोद्धृत्य बहिस्त्यक्ष्यामः । मैवम् ।

शङ्का:—वासनाओं का त्याग ही किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? क्योंकि इनका तो कोई आकार नहीं है। यदि आकारवान् होता तो झाड़ू से बुहारने पर जैसे कूरा इकट्ठा कर उसे घर के बाहर फेंक देते हैं, उसी प्रकार इस वासना रूप कूरे को भी शरीर के बाहर फेंक देंगे। किन्तु ऐसी बात नहीं है, अर्थात् वह मूर्त स्वरूप नहीं है।

उपवासजागरणवत्तदुपपत्तेः । स्वभावप्राप्तयोर्भुजिक्रियानिद्रयोरमूर्त्तत्वेऽपि तत्परित्यागरूपे उपवासजागरणे सर्वैरप्यनुष्ठीयेते तद्वदत्राप्यस्तु ।

समाधान–उपवास और जागरण के समान इसे भी समझना चाहिए, अर्थात् जैसे स्वाभाविक प्राप्त भोजन क्रिया तथा निद्रा का

आकार विशेष न होने पर भी उनका त्यागरूप उपवास और जागरण लोक करते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी उसकी शुभ वासना का ग्रहण कर इस मलिन, वासना का त्याग समझना चहिए।

"अद्य स्थित्वा निराहारः" इत्यादिमन्त्रेण सङ्कल्पं कृत्वा सावधानत्वेनावस्थानं तत्र त्याग इति चेत्।

शङ्काः—"अद्य स्थित्वा०" इत्यादि मन्त्र से सङ्कल्प का सावधानी से रहने को भोजनादि का त्याग कहते हैं। वासनात्याग में तो ऐसा कभी नहीं होता है, इसलिये उनका त्याग कैसे होगा?

अत्रापि न तद्दण्डनिवारितम्। प्रैषमात्रेण सङ्कल्प्याप्रयत्नत्वेनावस्थातुं शक्यत्वात्। वैदिकमन्त्रानधिकारिणां तु भाषया सङ्कल्पोऽस्तु। यदि तत्र शाकसूपौदनादिसन्निधित्यागस्तर्ह्यत्रापि स्रक्चन्दनवनितासन्निधिपरित्यागोऽस्तु। अथ यत्र बुभुक्षानिद्रालस्यादिविस्मारकैः पुराणश्रवणदेवपूजानृत्यगीतवादित्रादिभिश्चित्तमुपलालयेत तर्ह्यत्राऽपि मैत्र्यादिभिस्तदुपलालयेत्। मैत्र्यादयश्च पतञ्जलिना सूत्रिताः।

समाधानः—यहाँ भी इस प्रकार का विचार दण्डनिवारित नहीं है, अर्थात् इस विषय में वैसा ही बन सकता है। अर्थात् प्रैषोच्चारपूर्वक सङ्कल्प कर मलिन वासनाओं का उदय न होने के लिये सावधानी से रह सकता है। जिनको वेदमन्त्रों का अधिकार न हो उनको अपनी भाषा के द्वारा सङ्कल्प करना चाहिये। यदि भोजन त्याग रूप उपवास में शाक, दाल, भात, आदि की, सन्निधि का त्याग, यह विशेष है, ऐसा माना जाय तो वासनात्याग में पुष्पमाला, चन्दन, वनिता, आदि विषयों की सन्निधि भी त्याग के योग्य है। कदाचित् यह कहा जाय कि उपवासादि में क्षुधा, निद्रा, आलस्य, आदि का विस्मरण करनेवाले पुराण का सुनना, देवपूजा, नृत्य, गीतवादित्र आदि उपायों से चित्त को आनन्दित करना है, तो इसमें भी मैत्री आदि की भावना से चित्त को प्रसन्न करना है। मैत्री आदि चित्त को निर्मल करने वाला उपाय भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र के द्वारा कहा है—

"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" । (पा० सू० १।३३) इति । चित्तं हि रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषी क्रियते । रागद्वेषौ च पतञ्जलिः सूत्रयामास ।

सुखी के साथ मैत्री, दुःखी पर करुणा, पुण्यवान् को देख हर्षित होना, और पापी से उदासीनभाव रखना, ऐसी भावनाओं से योगी का चित्त निर्मल होता है । राग-द्वेष, पुण्य, और पाप से चित्त की मलिनता होती है । राग और द्वेष का लक्षण पतञ्जलि ने सूत्र में लिखा है ।

"सुखानुशयी रागः । (पा० सू० २।७) । दुःखानुशयी द्वेषः" २।८ इति । स्नेहात् स्वेनानुभूयमानं सुखमनुशेते कश्चिद्धीवृत्तिविशेषः सुखजातं सर्वं मे भूयादिति । तच्च दृष्टादृष्टसामग्र्यभावान्न सम्पादयितुं शक्यम् । अतः स रागश्चित्तं कलुषीकरोति यदा सुखिप्राणिष्वयं मैत्रीं भावयेत्सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीया इति तदा तत्सुखं स्वकीयमेव सम्पन्नमिति भावयतस्तत्र रागो निवर्तते यथा स्वस्य राज्याऽभावेऽपि पुत्रादिराज्यमेव स्वकीयराज्यं तद्वत् । निवृत्ते च रागे वर्षास्वतीतासु शरत्सरिदिव चित्तं प्रसीदति ।

सभी सुख मुझको मिले इस प्रकार प्रीतिपूर्वक स्वयं अनुभव करने योग्य सुख की तृष्णावाली वृत्तिविशेष का नाम सुख है । वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सामग्री के अभाव के कारण उसका सम्पादन नहीं हो सकता है, जिससे, वह राग है, चित्त को मलिन करता है । "ये सब सुखी प्राणी मेरे ही हैं" इस भाँति जब सुखी प्राणियों में मित्रता की भावना करे तब इस प्रकार भावना करनेवाले को अन्य का सुख अपना होने से उस सुख से राग की निवृत्ति हो जाती है । जैसे आपको राज्य न होने पर भी पुत्रादि का राज्य अपना (राज्य) मानने से पुरुष में राग नहीं रहता है, इसी प्रकार अन्य सुखी प्राणियों में स्वकीयत्व (अपनापन) बुद्धि होने से उस सुख में पुरुष को राग नहीं रहता है अर्थात् 'उसका सुख मुझको प्राप्त हुआ' ऐसी वृत्ति नहीं रहती है । राग निवृत्त होने से चातुर्मास्य (वर्षा ऋतु) बीतने पर

जैसे शरत् ऋतु की नदियाँ निर्मल हो जाया करती हैं उसी प्रकार उस पुरुष का चित्त निर्मल हो जाता है।

तथा दुःखमनुशेते कश्चित्प्रत्ययः ईदृशं दुःखं सर्वदा मे मा भूदिति। तच्च शत्रुव्याघ्रादिषु सत्सु न निवारयितुं शक्यम्। न च सर्वे दुःखहेतवो हन्तुं शक्यन्ते। ततः स द्वेषः सदा हृदयं दहति। यदा स्वस्यैव परेषां सर्वेषां प्रतिकूलं दुःखं न भूयादित्यनेन प्रकारेण करुणां दुःखिप्राणिषु भावयेत्तदा वैर्यादिद्वेषनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति। अत एव स्मर्यते।

'इस प्रकार का दुःख मुझे कभी न हो' ऐसे दुःख विषयक अनुशय को (अनिच्छा को) द्वेष कहते हैं। यह दुःख शत्रु व्याघ्र आदि के सद्भाव में नहीं रोका जा सकता है। क्योंकि सारे दुःखों के कारण का नाश नहीं हो सकता है, इसलिये यह द्वेष सदा हृदय में दाह उत्पन्न करता है। 'अपने समान अन्य सबको प्रतिकूल दुःख प्राप्त न हो। इस प्रकार जब दुःखी प्राणियों पर करुणा की भावना करता है, तब वैरी आदि व्यक्ति से भी द्वेष निवृत्त होने से चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है। इसलिये स्मृति कहती है कि—

"प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः॥" इति।

जैसे अपना प्राण आपको प्रिय है उसी प्रकार प्राणिमात्र को अपना प्राण प्रिय होता है अत एव साधु अपने पर जैसे दया करते वैसे ही सब प्राणियों पर दया करते हैं। करुणा की भावना का प्रकार महापुरुष ने दिखाया है।

"सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥" इति॥

तथा हि प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति, पापं त्वनुतिष्ठन्ति। तदाह।

इस संसार में प्राणिगण स्वभाव से ही पाप करते हैं और पुण्य नहीं करते हैं। ऐसा कहा है—

"पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥" इति ।

'मनुष्य पुण्य के फल (सुख) की इच्छा करता है, परन्तु पुण्य करने की इच्छा नहीं करता है। और पाप के फल (दुःख) की इच्छा नहीं करता है, परन्तु यत्नपूर्वक पाप करता है।

ते च पुण्यपापे पश्चात्तापं जनयतः । स च तापः श्रुत्याऽनूद्यते ।

वे पुण्य पाप पश्चात्ताप को उत्पन्न करते हैं। पश्चात्ताप का स्वरूप श्रुति कहती है कि—

"किमहं साधु नाकरवम् , किमहं पापमकरवम् ।" इति ।

अरे ! मैंने शुभ कर्म क्यों न किया ? अरे ! मैंने पाप कर्म क्यों किया ?

"यद्यसौ पुण्यपुरुषे मुदितां भावयेत्तदा तद्वासनायाः स्वयमेवाप्रमत्तः पुण्येषु प्रवर्त्तते । तथा पापिषूपेक्षां भावयन्स्वयमपि पापान्निवर्तते । अतः पश्चात्तापस्याभावेन चित्तं प्रसीदति ।

यदि वह मुमुक्षुपुरुष पुण्यात्मा पुरुष में मुदिता की भावना करे तो उस वासना के कारण स्वयं भी प्रमाद रहित हो पुण्य में प्रवृत्ति करता है तथा पापी में उपेक्षा की भावना करने पर पाप से निवृत्त होता है इससे पुण्य न करने से तथा पाप न करने से जो पश्चात्ताप होता है वह उसको नहीं होता है और पश्चात्ताप न होने से चित्त निर्मल होता है।

सुखिषु मैत्रीं भावयतो न केवलं रागनिवृत्तिः किं त्वसूयेर्ष्यादयोऽपि निवर्तन्ते । परगुणानामसहनमीर्ष्या, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । यदा मैत्रीवशाद् परकीयं सुखं स्वकीयमेव सम्पद्यते तदा परगुणेषु कथमसूयादि सम्भवेत् । एवं दोषान्तरनिवृत्तिरपि यथायोगमुन्नेया ।

सुखी पुरुषों के साथ मैत्री की भावना करने वाले व्यक्ति की केवल राग को ही निवृत्ति होती है, ऐसा नहीं, वरन उसके साथ असूया, इर्ष्या आदि दोष भी नष्ट हो जाते हैं। अन्य के गुणों को न सह सकना

ईर्ष्या है, और गुणों में दोषों का आरोपण करना असूया है। जब मैत्री की भावना से अन्य का सुख अपना होता है, तब पुरुष में अन्य के गुण में असूयादि कैसे सम्भव हो सकता है ? अर्थात् नहीं सम्भव हो सकता है। इस प्रकार अन्य दोषों के निवृत्ति की भी यथायोग्य कल्पना करनी चाहिए।

दुःखिषु करुणां भावयतः शत्रुवधादिकरो द्वेषो यथा निवर्तते तथा दुःखित्वप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तो दर्पोऽपि निवर्तते। स च दर्प आसुरसम्पद्यहङ्कारप्रस्तावे पूर्वमुदाहृतः।

दुःखी प्राणियों पर करुणा की भावना करने वाले पुरुष का जैसे शत्रुवधादि रूप द्वेष की निवृत्ति होती है उसी प्रकार दुःख का विरोधि सुख का गर्व भी निवृत्त होता है। इस गर्व का स्वरूप अहङ्कार के प्रसङ्ग में आसुरी सम्पत्ति के निरूपण में किया है।

"ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥" इति।

ननु पुण्यात्मसु मुदितां भावयतः पुण्यप्रवृत्तिफलत्वेनोक्ता सा च योगिनो न युक्ता। मलिनायां शास्त्रवासनायां पुण्य-मन्तर्भाव्य पूर्वमुदाहृतत्वात्। मैवम्।

शङ्का—'पुण्यवान् पुरुषों में मुदिता की भावना करने से पुण्य में प्रवृत्ति रूप फल होता है'। ऐसा कहा है, किन्तु वह सम्भव नहीं है, क्योंकि पूर्व में इसकी गणना मलिन शास्त्रवासना में की गई है।

पुनर्जन्मकरस्य काम्येष्टापूर्तादेस्तत्र मलिनत्वेनोदाहरणात् इह तु योगाभ्यासजन्यमशुक्लकृष्णत्वं पतञ्जलिः सूत्रयामास।

समाधान—इसके पूर्व, 'इष्ट,' 'पूर्ति' आदि काम्य कर्म जो पुनर्जन्म देने वाले हैं, इनकी मलिन वासना के रूप में गणना की गयी है। यहाँ योगाभ्यासजन्य पुण्य, जो अशुक्ल और अकृष्ण होने से पुनर्जन्म का हेतु नहीं है, वह विवक्षित है।

योगियों के अशुक्ल और अकृष्ण कर्मों का निरूपण पातञ्जल-योगसूत्र में किया है।

"कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥" इति ।

(यो० सू० ४।७)

काम्यं कर्म विहितत्वात् शुक्लम् , निषिद्धं कृष्णम् , मिश्रं शुक्लकृष्णम् । तदेतत्त्रयमितरेषामयोगिनां सम्पद्यते । तच्च त्रिविधं जन्म प्रयच्छति । तदाहुर्विश्वरूपाचार्याः ।

योगियों के कर्म अशुक्ल कृष्ण और इतर मनुष्यों के शुक्ल, (विहित काम्य कर्म), कृष्ण (निषिद्ध) और शुक्ल-कृष्ण मिश्र ये तीन प्रकार के होते हैं। ये तीनों कर्म पुनर्जन्म के हेतु हैं। ऐसा विश्वरूपाचार्य ने कहा है—

"शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम् ।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥" इति ।

शुभकर्मों के द्वारा जीव देवभाव को पाता है, निषिद्ध कर्मों से नारकी गति को प्राप्त करता है और दोनों से मनुष्य जन्म पाता है।

ननु योगस्याऽनिषिद्धत्वादकृष्णत्वेऽपि विहितत्वाच्छुक्लत्वमिति चेत् ।

शङ्का—योग, अनिषिद्ध होने से वह भले ही कृष्ण कर्म न हो, परन्तु विहित होने से उसकी शुक्ल कर्मों में गणना होनी चाहिये।

मैवम् । अकाम्यत्वाभिप्रायेण शुक्लत्वाभिधानात् । अतः शुक्लकृष्णे पुण्ये प्रवृत्तिर्योगिनोपेक्षिता ।

समाधान—ऐसी शङ्का न करें। योग काम्य कर्म न होने से उसको अशुक्ल कर्म माना है। इस कारण से शुक्ल कृष्ण पुण्य में जो प्रवृत्ति हैं, उसकी योगी उपेक्षा करता है।

नन्वनेन न्यायेन योगिनोऽपि यथोचितपुण्यात्मसु मुदितां भावयित्वा पुण्येष्वेव प्रवर्त्तेरन् ।

शङ्का—इस प्रकार से तो पुण्यात्मा में योग्यरीति से मुदिता की भावना करने वाले योगियों की भी प्रवृत्ति होगी ?

प्रवर्तन्तां नाम ! । ये मैत्र्यादिभिश्चित्तं प्रसादयन्ति तेषामेव योगित्वात् । मैत्र्यादिचतुष्टयमुपलक्षणम् । "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः"

इत्यादि दैवी सम्पत् । "अमानित्वमदम्भित्वम्" इत्यादिना ज्ञानसाधनानि जीवन्मुक्तस्थितप्रज्ञादिवचनोक्तधर्माश्चोपलक्ष्यन्ते । सर्वेषामेतेषां शुभाशुभवासनारूपत्वेन मलिनवासनानिवर्त्तकत्वात् ।

समाधान—प्रवृति भलेही हो, जो पुरुष मैत्री के द्वारा चित्त को प्रसन्नता को रखता है, वही योगी है। ऊपर दिखलाये हुए मैत्री आदि चार साधन अभय आदि दैवी सम्पत्तियों का, अमानित्व आदि ज्ञान-साधनों का, तथा जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञ के धर्मों का उपलक्षक है, ये सब शुभवासना रूप होने से मलिनवासना का क्षय करने वाले हैं।

ननु सन्त्यनन्ताः शुभवासनाः, न चैकेन ताः सर्वा अभ्यसितुं शक्यन्ते, निरर्थकश्च तदभ्यास इति चेन्न ।

शङ्का—शुभवासना अनन्त है, इस लिये उन सबका अभ्यास एक पुरुष से हो नहीं सकता है, अतः सभी शुभवासनाओं के लिये अभ्यास करना निरर्थक है।

तन्निवर्त्यानामनन्तानां मलिनवासनानामेकस्य नरस्यासम्भवात् । न ह्यायुर्वेदोक्तानि सर्वाण्यौषधान्येकेन सेवितुं शक्यन्ते । नापि तन्निवर्त्याः सर्वे रोगा एकस्य देहे सम्भवन्ति । एवं तर्हि स्वचित्तं प्रथमतः परीक्ष्य तत्र यदा यावत्यो मलिनवासनास्तदा तावतीर्विरोधिनीः शुभवासना अभ्यसेत् । यथा पुत्रमित्रकलत्रादिभिः पीड्यमानस्ततो विरक्तस्तन्निवर्तकं पारिव्राज्यं गृह्णाति, तथा विद्यामदधनमदकुलाचारमदादिमलिनवासनाभिः पीड्यमानस्तद्विरोधिनं विवेकमभ्यसेत् । स च विवेको जनकेन दर्शितः ।

समाधान—शुभवासनाओं के त्यागने योग्य अनेक मलिन वासनाओं का एक पुरुष से सम्भव नहीं है। जैसे आयुर्वेदोक्त सभी औषधों का सेवन एक पुरुष के द्वारा नहीं हो सकता है। उसी प्रकार उन-उन औषधों से हटाने योग्य सब रोग भी एक पुरुष में नहीं होते हैं। अत एव जैसे अपने शरीर में जो-जो रोग होते हैं, उनके विरोधों का सेवन करना आवश्यक है, उसी तरह पहिले अपने चित्त की परीक्षा करनी है,

उसमें जितनी जिस समय मलिनवासना हो, उस समय उतनी विरोधी वासनाओं का अभ्यास करे। जैसे पुत्र मित्र स्त्री आदि से पीड़ित पुरुष उससे वैराग्य को प्राप्त कर पुत्र आदि के त्याग का हेतुरूप सन्न्यास आश्रम को ग्रहण करता है उसी तरह विद्यामद, धनमद, कुलमद, अचारमद, आदि से पीड़ित हो पुरुष उनके विरोधी विवेक का सेवन करे।

यह विवेक जनक जी ने प्रदर्शित किया है —

"अद्य ये महतां मूर्ध्नि ते दिनैर्निपतन्त्यधः ।
हन्त चित्त ! महत्तायाः कैषा विश्वस्तता तव ॥
क ! धनानि महीपानां ब्रह्मणः क ! जगन्ति वा ।
प्राक्तनानि प्रयातानि केयं विश्वस्तता तव ॥
कोटयो ब्रह्मणो याता गताः सर्गपरम्पराः ।
प्रयाताः पांसुवद्भूपाः का धृतिर्मम जीविते ॥
येषां निमेषणोन्मेषौ जगतां प्रलयोदयौ ।
तादृशाः पुरुषा नष्टा मादृशां गणनैव का ॥" इति ।

जो इस समय बड़ों के शिरताज बन रहे हैं, वे भी गिने गिनाये दिनों में नीचे गिर जाते हैं। ऐसी स्थिति में हे चित्त ! आज तुम उस के बड़प्पन का क्यों भरोसा करते हो ? पूर्व में जो राजा हो गये हैं, उनका धन कहाँ गया ? ब्रह्मा का रचा अनन्त जगत् कहाँ गया ? वे सब जब चले गये तो, हे चित्त! तुम इस शरीर आदि का क्यों विश्वास करते हो ? करोड़ों ब्रह्म और उनकी अनन्त सृष्टि चली गयी और अनेक राजा लोग भी धूलि के समान उड़ गये तो मेरे जीवन में अर्थात् उसकी स्थिरता में कैसे धैर्य रहे ? जिसका पलक मारना जगत् का प्रलय और आँख खोलना जगत् का उदय रूप है, ऐसे पुरुष का भी जब नाश होता है तो मेरे जैसे लोगों की क्या गणना है ?

नन्वयमपि विवेकस्तत्त्वज्ञानोदयात्प्राचीनः, नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनव्यतिरेकेण ब्रह्मज्ञानासम्भवात् । इह तूत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्य जीवन्मुक्तये वासनाक्षयादिसाधनं वक्तुमुपक्रान्तम् । अतः किमिदमकाण्डे ताण्डवमिति चेत् । नायं दोषः ।

शङ्का—यह विवेक = तत्त्वज्ञान होने से पूर्व में होता है, क्योंकि नित्यानित्य वस्तु विवेक आदि साधन के बिना ब्रह्मज्ञान भी हो सकता है, और यहाँ तो जैसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो गया है उनको जीवन्मुक्ति प्राप्त होने के लिए तुमने वासनाक्षय आदि साधनों का निरूपण आरम्भ किया है। अत एव इस विवेक का कथन तो बिना अवसर के नाच होने के समान है।

साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य पश्चाद्ब्रह्मज्ञानमित्येष सर्वपुरुषसाधारणक्षुण्णः प्रौढो राजमार्गः। जनकस्य तु पुण्यपुञ्जपरिपाकेनाऽऽकाशफलपातवदकस्मात् सिद्धगीताश्रवणमात्रेण तत्त्वज्ञानमुत्पन्नम्। ततश्चित्तविश्रान्तये विवेकोऽयं क्रियते इति काण्ड एवेदमुचितं ताण्डवम्।

समाधान,—साधनचतुष्टय के सिद्ध होने पर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है यह तो सभी पुरुषों से सेवित साधारण राजमार्ग है। जनक को तो पूर्व पुण्यपुञ्ज के पाक के कारण जैसे आकाश से फल गिरता है, वैसे ही अकस्मात् सिद्ध गीता के सुनने मात्र से तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ। चित्त विश्रान्ति ही उनको बाकी थी, इसलिए जनक ने पूर्वोक्त विवेक का विचार किया। अत एव मेरा कथन प्रासङ्गिक ही है, अप्रासङ्गिक नृत्य के समान नहीं है।

नन्वेमप्यस्य विवेकस्य ज्ञानसमनन्तरभावित्वेन मलिनवासनानुवृत्त्यभावाच्छुद्धवासनाभ्यासो नापेक्षित इति चेन्न।

ऐसा विवेक, ज्ञान होने के बाद होता है, इस लिये तत्त्वज्ञान होने के बाद मलिन वासना की अनुवृत्ति (संसर्ग) न रहने से शुभवासना के लिये अभ्यास करने का कोई प्रयोजन नहीं हैं।

जनकस्य तदनुवृत्त्यभावेऽपि याज्ञवल्क्यभगीरथादेस्तदनुवृत्तिदर्शनात्। अस्ति हि याज्ञवल्क्यतत्प्रतिवादिनामुषस्तकहोलादीनां च भूयान्विद्यामदः। तैः सर्वैरपि विजिगीषुकथायां प्रवृत्तत्वात्।

यद्यपि जनक को तत्त्वज्ञान होने के बाद मलिन वासना की अनुवृत्ति न थी, परन्तु याज्ञवल्क्य, भगीरथ आदि में मलिन वासना की

अनुवृत्ति मालूम पड़ती है। याज्ञवल्क्य और उनके प्रतिवादी उषस्त कहोलादि विजिगीषु कथा (जय पाने की इच्छा वाले पुरुषों के बीच परस्पर सम्वाद) में प्रवृत्त हुए थे, इसलिए उनमें विद्यामदरूप मलिन वासना तो प्रसिद्ध ही है।

ननु तेषां विद्यान्तरमेवास्ति न तु ब्रह्मविद्येति चेन्न। कथागतयोः प्रश्नोत्तरयोर्ब्रह्मविषयत्वात्।

उनको ब्रह्मविद्या के सिवाय अन्य विद्या प्राप्त थी, यह भी कह सकतें हैं। क्योंकि उनमें परस्पर प्रश्नोत्तर ब्रह्मविषयक है।

ननु ब्रह्मविषयत्वेऽपि तेषामापातज्ञानमेव न तु सम्यग्वेदनमिति चेन्न। तथा सत्यस्माकमपि तदीयवाक्यैरुत्पन्नाया विद्याया असम्यक्त्वप्रसङ्गात्।

उनको केवल अकस्मात् ज्ञान हुआ, यथार्थ ज्ञान नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो अपने लिये भी अपने ही वाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता।

ननु सम्यक्त्वेऽपि परोक्षज्ञानमेवेति चेन्न। यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मेति मुख्यापरोक्षविषयतयैव विशेषतः प्रश्नोपलम्भात्।

उनको यथार्थ ज्ञान तो ठीक है, किन्तु परोक्षज्ञान हुआ ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है इस वाक्य से मुख्य अपरोक्ष ब्रह्म के विषय में ही प्रश्न हुआ ऐसा प्रतीत होता है।

नन्वात्मज्ञानिनो विद्यामदं आचार्यैर्नाभ्युपगम्यते। तथा चोपदेशसाहस्र्यामुक्तम्—

"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः॥" इति।

नैष्कर्म्यसिद्धावपि।

शङ्का—आत्मज्ञानी को विद्यामद का सद्भाव आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि, वैसे ब्रह्मज्ञान को जो अभिमान के रूप में नहीं मानता है वह आत्मज्ञ है अन्य नहीं, इस प्रकार उपदेशसाहस्री ग्रन्थ में लिखा है, और नैष्कर्म्यसिद्धि में भी कहा है—

"न चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽस्त्यासुरत्वतः।
विदुषोऽप्यासुरश्चेत् स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम् ॥" इति।
नायं दोषः।

ज्ञानी पुरुष को ज्ञान का अभिमान नहीं होता है क्योंकि वह एक आसुरी सम्पत्ति है। विद्वान् में भी आसुरी भाव हो तो उनका ब्रह्म-साक्षात्कार निष्फल है, ऐसी स्थिति में इस कारण से ज्ञानी को विद्यामद होना संघटित नहीं होता है।

जीवन्मुक्तिपर्यन्तस्य तत्त्वज्ञानस्य तत्र विवक्षितत्वात्। न खलु वयमपि जीवन्मुक्तानां विद्यामदमभ्युपगच्छामः। ननु विजिगीषोरात्मबोध एव नास्ति।

समाधान—ऊपर के दोनों वचन जीवन्मुक्ति पर्यन्त तत्त्वज्ञान के अभिप्राय से कहे गये हैं। हम भी जीवन्मुक्त पुरुष का विद्यामद, नहीं मानते हैं।

शङ्का—जिसको जय पाने की इच्छा है, उसको आत्मज्ञान नहीं होता है। क्योंकि—

"रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः ॥"
इत्याचार्यैरभ्युपगमादिति चेन्न।

चित्तरूपी व्यायाम भूमि से राग, यह अज्ञान का चिह्न है। जिस वृक्ष के कोटरे में अग्नि जल रही है, उसके नीचे हरिततृणपूर्णता कहाँ से होगी? अर्थात् नहीं होती है। ऐसा आचार्य्य मानते हैं।

"रागादयः सन्तु कामं न तदभावोऽपराध्यति।
उत्खातदंष्ट्रोरगवदविद्या किं करिष्यति ॥"
इत्यत्र तैरेव रागाद्यभ्युपगमात्। न चात्र परस्परव्याहतिः। स्थितप्रज्ञे ज्ञानिमात्रे च वचनद्वयस्य व्यवस्थानीयत्वात्।

तत्त्वज्ञानी में रागादि यथेच्छ रहने पर, उनका सद्भाव ज्ञान को हानि पहुँचानेवाला नहीं है। जिस साँप के दाँत जंड़ से उजड़ गये हैं। ऐसा सर्प कुछ नहीं कर सकता है। इसी प्रकार अविद्या उस ज्ञानी पुरुष को क्या कर सकती है? अर्थात् कुछ भी नहीं। इस प्रकार

रागादि का स्वीकार भी आचार्य्यों ने किया है ? इससे आचार्य्य के वाक्य में परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि प्रथम वचन की व्यवस्था स्थितप्रज्ञ में हो सकती है और दोनों वचनों की व्यवस्था केवल ज्ञानी में हो सकती है।

ननु ज्ञानिनो रागाद्यभ्युपगमे धर्माधर्मद्वारेण जन्मान्तर-प्रसङ्ग इति चेन्मैवम् । अदग्धबीजवदविद्यापूर्विकाणामेव मुख्य-रागादित्वेन पुनर्जन्महेतुत्वात् । ज्ञानिनस्तु दग्धबीजवदाभासा एव रागादयः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् ।

ज्ञानी में रागादि का सद्भाव मानने से उसके धर्म और अधर्म के द्वारा जन्मान्तर का प्रसङ्ग आयेगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। विना भूने बीज के समान अविद्यासहित मुख्य रागादि दोष ही पुनर्जन्म का कारणरूप है, ज्ञानी पुरुष का रागादि तो भूने हुए बीज के समान केवल आभास रूप है। इस अभिप्राय से कहा है—

"उत्पद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवह्निना ।
तदा तदैव दह्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम् ॥" इति :

विवेकी पुरुष के अन्तःकरण में राग आदि दोष जब-जब उत्पन्न होता है तब तब विवेकसहित ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हो जाता है। वे पुनः कैसे अङ्कुरित होंगे ? अर्थात् नहीं होंगे।

तर्हि स्थितप्रज्ञस्यापि ते सन्त्विति चेन्न ।

शङ्का:—तब स्थितप्रज्ञ में भी राग आदि हो तो क्या आपत्ति है ? नहीं।

तत्काले मुख्यवदेवाऽऽभासानां बाधकत्वात् । रज्जुसर्पोऽपि मुख्यसर्पवदेव तदानीं भीषयन्नुपलभ्यते तद्वत् । नन्वाभासत्वानु-सन्धानानुवृत्तौ न कोऽपि बाध इति चेच्चिरं जीवतु भवान् । इयमेव ह्यस्मदभिमता जीवन्मुक्तिः । याज्ञवल्क्यस्तु विजिगीषु-दशायां न हीदृशः । चित्तविश्रान्तये विद्वत्संन्यासस्य तेन करिष्यमाणत्वात् । न केवलमस्य विजिगीषा किन्तु धनतृष्णाऽपि महती जाता । यतो बहूनां ब्रह्मविदां पुरतः स्थापितं सालङ्कार-गोसहस्रमपहृत्य स्वयमेवेदमाह—

समाधान—स्थित प्रज्ञ अवस्था में मुख्य के समान हो भासित होता है, आभासरूप राग आदि दोष क्लेशरूप हो जाता है। जैसे रज्जु में प्रतीत होता (नकली) सर्प भी मुख्य की तरह भय देता है, इसी प्रकार रागादि आभासरूप होनेपर भी क्लेश देनेवाले मालूम पड़ते है। रागादि आभासरूप हैं, इस प्रकार बार-बार अनुसन्धान करें तो वह स्थितप्रज्ञ को कदापि बाधा नहीं करता है ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो उसको सिद्धान्ती उत्तर देता है कि भाई ! चिरञ्जीवी हो। इसी को हम भी जीवन्मुक्त मानते हैं, याज्ञवल्क्यजी विजिगीषु दशा में स्थितप्रज्ञ नहीं थे, इसलिये उन्होंने चित्तविश्रान्ति के लिये विद्वत्संन्यास को बाद में ग्रहण किया है। याज्ञवल्क्य को केवल जीत ही की इच्छा न थी। किन्तु धन की भी बहुत तृष्णा थी, क्योंकि बहुत से ब्रह्मविद् ब्राह्मणों के सामने अलङ्कार सहित १००० खड़ी गौओं को स्वयं लेकर इस प्रकार बोले कि—

"नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्मः" इति।

इतरान् ब्रह्मविदोऽवज्ञातुमियं काचिद्वचोभङ्गीति चेत्। अयमपि तद्यपरो दोषः। इतरे च ब्रह्मविदः स्वकीयं धनमनेनापहृतमिति मत्वा चुक्रुधुः। अयं च क्रोधपरवशः शाकल्यं मारयामास। न चास्य ब्रह्मघ्नस्य मोक्षाभावः शङ्कनीयः। यतः कौषीतकिनः समामनन्ति—

हम ब्रह्मवित् पुरुष को नमस्कार करते हैं, हम तो केवल गौओं के चाहने वाले हैं। इतर ब्रह्मवित् की अवज्ञा करने के लिये यह केवल उनके वाक्य की चतुराई है ऐसा कदाचित् समझो तो, यह भी एक दूसरा दोष है। अन्य ब्रह्मवित् ब्राह्मणों ने एवं श्रीयाज्ञवल्क्य ने भी अपना धन ले लिया है ऐसा समझ कर क्रोध किया, इससे याज्ञवल्क्य भी क्रोध में आकर शाकल्य ऋषि को शाप देकर मार दिया। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने ब्रह्महत्या की इससे उनको मोक्ष न होगा, ऐसी शङ्का न करें।

क्योंकि कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि—

"नास्य केनापि कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया" इति।

शेषोऽपि स्वकृतायामार्यपञ्चाशीत्यामिदमाह ।

इस ज्ञानवान् पुरुष को प्राप्त हुआ लोक (आत्मलोक) किसी भी कर्म के द्वारा नष्ट नहीं होता है, मातृवध कर, पितृवध कर, चोरी कर, भी उसके नाश की प्राप्ति नहीं करता है ।

शेष भगवान् ने भी अपनी रचित आर्यपञ्चाशीति में कहा है कि:—

"हयमेधशतसहस्राण्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षणानि ।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः स्पृश्यते विमलः ॥" इति ।

आत्मस्वरूप का जिसको साक्षात्कार हुआ है, ऐसा निर्मल पुरुष कदाचित् लाख अश्वमेध करे, या लाख ब्रह्महत्या करे, तब भी यह अश्वमेध के पुण्य का या ब्रह्महत्या के पाप का सङ्गी नहीं होता है ।

तस्मात् किं बहुना, ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्यादीनामस्त्येव मलिनवासनानुवृत्तिः, भगीरथश्च तत्त्वं विदित्वाऽपि राज्यं पालयन्मलिनवासनाभिश्चित्तविश्रान्त्यभावे सति सर्वं परित्यज्य पश्चाद्विश्रान्तवानिति वसिष्ठेनोपाख्यायते । अतः स्वकीयं वर्त्तमानं मलिनवासनाविशेषं परकीयदोषवत् सम्यगुत्प्रेक्ष्य तत्प्रतीकार-मभ्यसेत् । अनेनैवाभिप्रायेण स्मर्यते ।

इसलिये अधिक क्या कहना है । याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मवित् पुरुषों में भी मलिन वासना का संचार है ही । राजा भगीरथ ने भी तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर राज्य करते समय उत्पन्न हुई वासनाओं के कारण चित्त की विश्रान्ति न पाकर सब का त्याग कर विश्राम ग्रहण किया, ऐसा वसिष्ठ मुनि ने कहा है । इसलिये जैसे कोई पुरुष अन्य के दोष की यथार्थ उपेक्षा करता है । उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी अपने अन्तःकरण में स्फुरित वासनाओं को भली-भाँति जान कर उनके नाश का अभ्यास करे ।

इसी अभिप्राय से स्मृति भी कहती है—

"यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः ।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात् ॥" इति ।

जैसे कोई बहुत निपुण पुरुष अन्य के दोष को देखने में भली-भाँति निरत होता है वैसे ही यदि वह अपने दोषों को देखने में निपुण हो तो कौन नहीं बन्धन से मुक्त हो ?

नन्वादौ तावद्विषादस्य कः प्रतीकार इति चेत्। किं स्वनिष्ठस्य मदस्य परविषयस्य, किं वा स्वविषयस्य परनिष्ठस्य। आद्ये भङ्गोऽवश्यं क्वचिद् भविष्यतीति निरन्तरं भावयेत्। तद्यथा श्वेतकेतुर्विद्यया मत्तः प्रवाहणस्य राज्ञः सभां गत्वा तेन पञ्चाग्निविद्यायां पृष्टायां स्वयमजानानो निरुत्तरो राज्ञा बहुधा भर्त्सितः पितुः समीपमागत्य स्वनिर्वेदमुदाजहार। पिता तु निर्मदस्तमेव राजानमनुसृत्य तां विद्यां लेभे। दृप्तबालाकिश्चाजातशत्रुणा राज्ञा भर्त्सितो दर्पं संत्यज्य राजानमुपससाद। उपस्तकहोलादयश्च मदेन कथां कृत्वा पराजिताः। यदा स्वविषयः परनिष्ठो मदः प्रवर्तेत तदा मत्तः स परो मां निन्दतु, अवमन्यतां वा। सर्वथाऽपि न मे हानिरिति भावयेत्। अत एवाऽऽहुः।

शङ्का—तब प्रथम विषाद (विद्यामद) का क्या उपाय है ? उत्तर—क्या अपने में स्थित और अन्य में व्यवहृत विद्या मद के बारे में तुम्हारा प्रश्न है ? या अन्य में स्थित और अपने में व्यवहृत विद्या मद विषय में पूछते हो ? अपने में स्थित और अन्य को हराने वाले विद्या मद में पूछते हो, तब उसकी निवृत्ति का उपाय यह है कि "अवश्य किसी से भी हमारा पराजय होगा", ऐसी भावना करनी है। जैसे कि विद्या से मत्त हुआ श्वेतकेतु मुनि प्रवाहण राजा की सभा में गया, उस समय राजा ने उसको पञ्चाग्निविद्या सम्बन्धी प्रश्न किया, इस विद्या से स्वयं अनभिज्ञ होने से कोई भी उत्तर नहीं दे सका, तब पिता के पास जाकर अपने अपमान सम्बन्धी बातें कही। उसका पिता तो मद रहित था, इसलिये उसने उसकी भर्त्सना की और उसी राजा के पास जाकर वह विद्या सीखी। उसी प्रकार दृप्तबालाकी का अजातशत्रु नामक राजा से तिरस्कार हुआ, इससे उसने गर्व का त्याग कर उसी राजा की शरण ली। उषस्तकहोलादि ब्राह्मण भी विद्या मद से याज्ञवल्क्य के साथ विवाद कर अन्त में उससे हार गये।

जब अन्य का विद्यामद अपने को पराजित करने को प्रवृत्त हो, तब "भले ही अन्य लोग मेरी निन्दा करें या अपमान करें, सर्वथा मेरे स्वरूप की इससे लेशमात्र भी हानि नहीं है ऐसी वृत्ति में भावना करनी चाहिए। इसी अभिप्राय से बड़े लोगों ने कहा है—

"आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वात्मानं स्वयमेव हि ।
शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम ॥
निन्दावमानावत्यन्तं भूषणं यस्य योगिनः ।
धीविक्षेपः कथं तस्य वाचाटैः क्रियतामिह ॥" इति ।

नैष्कर्म्यसिद्धौ—

इस संघात में आत्मा और शरीर है, उसमें दुर्जन जो मेरी आत्मा की निन्दा करता हो तब वह स्वयं अपनी ही निन्दा करता है। क्योंकि जो आत्मा मेरा है वही उसका भी आत्मा है। जो वह शरीर की निन्दा करता है, तब वह मेरी सहायता करने वाला है। क्योंकि शरीर तो मुझे भी निन्द्य है। जिस योगी पुरुष को निन्दा और अपमान अत्यन्त भूषण रूप है उस पुरुष की बुद्धि को वाचाल पुरुष विक्षेप किस रीति से कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता है।

नैष्कर्म्यसिद्धि (ग्रन्थ) में लिखा है—

"सपरिकरे वर्चस्के दोषतश्चावधारिते ।
यदि दोषं वदेत्तस्मै किं तत्रोच्चरितुर्भवेत् ॥
तद्वत्स्थूले तथा सूक्ष्मे देहे त्यक्ते विवेकतः ।
यदि दोषं वदेत्ताभ्यां किं? तत्र विदुषो भवेत् ॥
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नाऽऽत्मनः ॥" इति ।
निन्दाया भूषणत्वं च ज्ञानाङ्कुशे दर्शितम् ।

मलमूत्रादि या जिसको मनुष्य ने दोष रूप में निश्चय किया है, उस विषय में जो कोई दोष को कहे तो, उसमें उस विष्ठा आदि के त्याग करने वालों की क्या हानि हुई? उसी प्रकार विवेक दृष्टि से स्थूल और सूक्ष्म शरीर के छोड़ने पर—"ये दोनों शरीर मैं नही हूँ,

ऐसा पक्का निश्चय करने पर जो कोई इन दोनों शरीरों का दोष कहे, तो विद्वान् पुरुष की उसमें क्या हानि है ? शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा, आदि, और अन्य जन्म मृत्यु अहंकार में प्रतीत होते हैं, ये सब आत्मा के धर्म नहीं हैं ।

ज्ञानाङ्कुशनामक ग्रन्थ में निन्दा को भूषण रूप से बताया है ।

"मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
नन्वप्रयत्नजनितोऽयमनुग्रहो मे ।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषाः परितुष्टिहेतो-
र्दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति ॥
सततसुलभदैन्ये निःसुखे जीवलोके
यदि मम परिवादात्प्रीतिमाप्नोति कश्चित् ।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा
जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः ॥" इति ।

अवमानस्य भूषणत्वं स्मर्यते ।

कोई मनुष्य मेरी निन्दा से ही सन्तुष्ट हो, तो मुझे बिना किसी परिश्रम के मानों मुझ पर बड़ा अनुग्रह हुआ ऐसा मैं समझूं । क्योंकि श्रेय (कल्याण) की अभिलाषा कराने वाले मनुष्य अन्य को सन्तुष्ट करने के लिये बड़े परिश्रम से सम्पादन किये धन को भी खर्च कर डालते हैं, जिसमें सदा दीनता सुलभ है, इस प्रकार इस सुख रहित जीव लोक में जो कोई पुरुष मेरी निन्दा करने से प्रीति को प्राप्त हो, तो मेरे समीप या दूर यथेष्ट निन्दा करो, क्योंकि बहुत दुःखपूर्ण जगत् में प्रीति का योग दुर्लभ है ।

अपमान का भूषण होना स्मृति में भी कहा है—

"तथाऽऽचरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥" इति ।

सत्पुरुषों के धर्म को दूषित न करता हुआ योगी पुरुष जगत् में इस प्रकार व्यवहार करे कि जिसमें लोग उसका अपमान करें, और उसकी संगति न करें ।

याज्ञवल्क्योषस्तादीनां यौ स्वनिष्ठपरनिष्ठौ विद्यामदौ

तयोर्यथा विवेकेन प्रतीकारस्तथा धनाभिलाषक्रोधयोरप्यत्र-गन्तव्यम् ।

याज्ञवल्क्य, उषस्त और कहोलादि के विषय जो अपने में स्थित, और अन्य में स्थित विद्यामद थे दो प्रकार के इन दोनों विद्यामदों का जैसे पूर्वोक्त विवेक से प्रतीकार हो सकता है, वैसे धन की तृष्णा और क्रोध का निवारण भी विवेक द्वारा हो सकता है ।

धन-सम्बन्धि विवेक इस तरह कर सकते हैं—

"अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ॥"
इति धनविषयो विवेकः ॥

धन को हासिल करने में दुःख होता है, उसकी रक्षा करने में दुःख होता है, इसी भाँति सब तरह दुःख देने वाले धन को धिक्कार है ।

क्रोधोऽपि द्विविधः । स्वनिष्ठः परविषयः, परनिष्ठः स्वविषयश्चेति । स्वनिष्ठं प्रत्येवमुक्तम् ।

क्रोध भी दो प्रकार का है, एक अपना क्रोध अन्य के ऊपर, तथा अन्य का क्रोध अपने ऊपर, उनमें से अपने में स्थित क्रोध के बारे में इस प्रकार विवेक करना चाहिए ।

अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥

फलान्वितो धर्मयशोऽर्थनाशनः स चेदपार्थः स्वशरीर-तापनः । न चेह नामुत्र हिताय यः सतां मनांसि कोपः समु-पाश्रयेत्कथम्" इति स्वविषयं प्रत्येवमीरितम् ।

जो तुम्हारा क्रोध अपकार करने वाले पर होता है, तो कोप जो धर्म है, धर्म अर्थ, काम, और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का बलपूर्वक घातक होने से अत्यन्त अपकारी है, उस पर आपका क्रोध क्यों नहीं होगा ? क्रोध जो अन्य को किसी भी प्रकार की हानि के समान रूप में फलयुक्त हो तो उस क्रोध करने वाले का धर्म, यश, अर्थ का नाश करता है, और जो कोई भी फल देने वाला न हो सके तो अपने को आश्रय देने वाले पुरुष के ही शरीर को सन्तप्त करता है । अत एव

जो क्रोध इस लोक और परलोक दोनों लोकों के लिये हितकर नहीं है; उसको सत्पुरुषों का मन कैसे आश्रय देगा ? अर्थात् नहीं देगा ।

अपने ऊपर हुए अन्य के क्रोध के विषय में इस भाँति विचार किया है—

"न मेऽपराधः किमकारणे नृणां
मदभ्यसूयेत्यपि नैव चिन्तयेत् ।
न यत्कृता प्राग्भवबन्धनिःसृति-
स्ततोऽपराधः परमोऽनुचिन्त्यताम् ॥"
"नमोऽस्तु कोपदेवाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम् ।
कोप्यस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने ॥" इति ।

मेरा कोई भी अपराध न होने पर भी लोगों ने मेरी निन्दा क्यों की होगी ? ऐसा विचार कभी न करे, परन्तु पूर्वजन्म में मैंने संसार की निवृत्ति के लिये कोई उपाय न किया, यही मेरा बड़ा अपराध है। यदि यह उपाय किया होता, तो आज शरीर ही न होता, तो लोग किसकी निन्दा करते ? ऐसा विचार करना चाहिये ।

जिसने आपको आश्रय दे रक्खा है, उसको ही बहुत जलानेवाला मैं या जो अन्य के कोप का विषय हूँ, उसको वैराग्य देनेवाला और मेरे दोष रूप का बोधन करनेवाले क्रोधरूप देव को नमस्कार है ।

धनाभिलाषक्रोधवद्योषित्पुत्राभिलाषावपि विवेकेन निवर्तनीयौ । तत्र योषिद्विवेको वसिष्ठेन दर्शितः ।

धन की तृष्णा और क्रोध के समान स्त्री एवं पुत्र की इच्छा भी त्यागने योग्य ही है। इन दोनों के विषय में विवेक का प्रकार वसिष्ठजी ने दिखलाया है। वहाँ स्त्री के सम्बन्ध में इस प्रकार का विचार किया है—

"मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने ।
समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन्स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिनः ॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्ध सः ॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरान् ॥
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम् ॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम् ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥
इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनीति वासरैः ।
ब्रह्मन्कतिपयैरेव याति स्त्रीविशरारुताम् ॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥" इति ।

पुत्रविवेको ब्रह्मानन्दे दर्शितः—

स्नायु, और हड्डियों की परस्पर सङ्गठन से सुन्दर मांस की पूतलीरूप स्त्री के यन्त्र के समान चञ्चल शरीररूप पञ्जर में क्या है ? कुछ भी नहीं है । स्त्री की आँखों में त्वचा, माँस, रुधिर, आँसू, ये सब अलग-अलग कर इनमें यदि कोई सुन्दर पदार्थ हो तो, उसे देखो, और जो न हो तो, उसमें वृथा मोह वश क्यों होता है ? जिस स्तन पर लटकती हुई मोती की माला की शोभा, मेरु पर शोभती गङ्गा की धारा के समान शोभती है, ऐसा मानते हो, उसी स्त्री के स्तन को दूर के प्रदेश रूप श्मशान भूमि में एक समय मरने पर बहुत से चावल के पिण्ड के समान कुत्ते सब

प्रीतिपूर्वक खाते हैं, स्त्रियाँ पापरूपी अग्नि की ज्वाला के समान है, क्योंकि जैसे अग्नि की ज्वाला के ऊपर के भाग में काजल होता है, उसी प्रकार यह स्त्री रूप पापाग्नि ज्वाला केश रूपी काजल को मस्तक पर धारण करती है, जैसे अग्नि की ज्वाला देखने में सुन्दर; प्रकाशमान् है परन्तु उसका स्पर्श दुःख देनेवाला है, उसी प्रकार यह स्त्री भी देखने में सुन्दर होती है, परन्तु उसका स्पर्श दुःखदायी है, और जैसे प्रसिद्ध अग्नि तृणादिक को जला देती है, उसी प्रकार यह स्त्री रूपी पापाग्नि की शिखा पुरुषरूप तृण आदि को जला देती है, वासना के कारण सुन्दर और विवेक से नीरस स्त्रियाँ, नरकाग्नि जो अति दूर अर्थात् यम पुरी में जलती है, वह देखने में सुन्दर परिणाम में दारुण इन्धन रूप है। काम नाशक व्याध ने मूढ़ चित्त वाले नर रूप पक्षियों के अङ्गों को बांधने के लिये संसार रूप वन में स्त्री रूप जाल फैलाया है। द्रव्य रूप कादों में फिरने वाला, जन्म मरण रूपी पल्वल [अनेक तालाब] का मत्स्य रूप पुरुष को खींचनेवाली दुर्वासना रूप रज्जु से बाँधी हुई वडिश [मच्छली फसाने का काँटा] के साथ चुभे हुए माँस पिण्ड के समान स्त्री है। सकल दोष रूपी रत्नों को रखने वाले सन्दुक की तरह और दुःख देनेवाली श्रृंखला रूप स्त्री का मुझे सर्वदा प्रयोजन नहीं है। यहाँ माँस है, तो यहाँ रुधिर है, और यहाँ हड्डियां हैं, इस प्रकार शरीर के पदार्थ हैं, ऐसा होने से कितने दिनों तक मोह से हे ब्रह्मन् ! स्त्री-विषय सुन्दरता को पाता है। जिसको स्त्री है, उसको भोग की इच्छा है, जिसको स्त्री ही नहीं है उसको भोग का सम्भव कहाँ से है ? जिसने स्त्री का त्याग किया, उसने संसार का त्याग किया, और जगत् का त्याग करने से पुरुष सुखी होता है।

पुत्र सम्बन्धी विवेक ब्रह्मानन्द नामक पञ्चदशी के प्रकरण में बतलाया है—

> "अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
> लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥
> जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ।
> उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥
> यूनश्च परदारादिर्दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।

पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥" इति ।

नहीं प्राप्त हुआ पुत्र माता-पिता को चिरकाल तक दुःख देता है और गर्भ से प्राप्त हुआ गर्भपात द्वारा और प्रसव वेदना से कष्ट देता है। उत्पन्न हुए पुत्र अनन्तर बालग्रह और रोग आदि से माता-पिता को दुःख होता है, और कुमार अवस्था होने पर उसकी मूर्खता दुःख देती है। उपनयन संस्कार करने पर भी यदि वह विद्या हीन हुआ तो उससे भी माता-पिता को दुःख होता है। युवा होने पर परदार लम्पट होता है तो भी माता-पिता को दुख होता है। यदि वह पुत्र बहुवाला हुआ तो अनेक कुटुम्बी हुआ और उसकी दरिद्रता अवस्था हो तो भी माता पिता को खेद होता है। धनवान हुआ और यदि वह मर गया तो माता-पिता के दुःख की सीमा नहीं रहती है—

यथा विद्याधनक्रोधयोषित्पुत्र-विषयाणां मलिनवासनानां विवेकेन प्रतीकारस्तथाऽन्यासामपि यथायोगं शास्त्रैः स्वयं युक्त्या दोषं विविच्य प्रतीकारं कुर्यात्। कृते च प्रतीकारे जीवन्मुक्ति-लक्षणं परमं पदं लभ्यते।

तदाह वसिष्ठः—

विद्या, धन, क्रोध, स्त्री, और पुत्र सम्बन्धी मलिन वासनाओं की निवृत्ति जैसे विवेक से होती है, उसी प्रकार अन्य वासनाओं की—जो-जो वासनायें अन्तर में प्रतीत हुई हों उनकी भी शास्त्र और युक्ति से निवृत्ति करें। ऐसा करने से जीवन्मुक्ति रूप परम पद की प्राप्ति होती है। ऐसा भगवान् वसिष्ठ मुनि कहते हैं—

"वासनासंपरित्यागे यदि यत्नं करोष्यलम्।
तास्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात् सन्त्यज्य वासनाः।
स्थितिं बध्नासि चेत्तर्हि पदमासादयस्यलम् ॥" इति ।

हे रामचन्द्र ! यदि तुम वासना के त्याग के लिए पूर्ण यत्न करोगे तो, क्षण भर में सारी आधि-व्याधियाँ शिथिलता को प्राप्त होगी। पुरुषार्थ के बल से वासनाओं का त्याग कर [वृत्ति की] स्थिति (जो स्वरूप में) बांधोगे तो पूर्ण ऐसे परम पद को पाओगे।

नन्वत्र पौरुषः प्रयत्नो नाम पूर्वोक्तो विषयदोषविवेकः। स च तौ पुनः पुनः क्रियमाणोऽपि प्रबलेन्द्रियव्यापारेणाभिभूयते। तदुक्तं भगवता—

शङ्का—यहाँ पुरुषार्थ अर्थात् विषय दोष-सम्बन्धी विवेक समझाना है। परन्तु इस विवेक के होने पर भी अति प्रबल इन्द्रियों का वेग इस विवेक का ध्वंस कर डालता है यह बात भगवान् ने भगवद् गीता अ० २। श्लो० ५० से ५७ में कही है—

"यततो ह्यपि कौन्तेय! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥" इति।

हे कौन्तेय! यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष को भी व्याकुल करने वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से (उसके) मन को हरतीं हैं। जैसे वायु समुद्र में नाव को इधर उधर घुमाता है, वैसे मन विषयों में प्रवृत्त हुए इन्द्रियों में जिस-जिस इन्द्रिय को प्राप्त करता है, वही (इन्द्रिय) इस मनुष्य की बुद्धि को डुबा देती है।

एवं तह्युत्पन्नविवेकरक्षार्थमिन्द्रियाणि निरोद्धव्यानि तदपि तत्रैवोत्तरश्लोकाभ्यां दर्शितम्।

इन्द्रियाँ विवेक का ध्वंस करती हैं, अतः उत्पन्न हुए विवेक की रक्षा के लिये इन्द्रियों का निरोध करना चाहिये। यह बात भगवान् ने उसी स्थान में ऊपर के श्लोकों के बाद दो श्लोकों में कही है:—

"तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
तस्माद्यस्य महाबाहो! निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥" इति।
स्मृत्यन्तरेऽपि:—

उन सब इन्द्रियों को भलीभाँति रोक कर मेरे में विश्वास कर एकाग्र चित्त हो। क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ अपने अधीन हैं, उसकी

बुद्धि स्थिर कही जाती है। इसलिये हे महाबाहो ! (अर्जुन) जिसने अपने इन्द्रियों को सब विषयों से खींच लिया है, उसकी बुद्धि स्थिर हुई है।

अन्य स्मृति में भी कहा है—

"यः पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।
न च वाक्चपलश्चैवमिति शिष्टस्य लक्षणम् ॥" इति ।

एतदेवान्यत्र सङ्ग्रहविवरणाभ्यां स्पष्टीकृतम् ।

संन्यासी हाथ, पांव, चंचल न रक्खे, नेत्र चंचल न रक्खे, अर्थात् प्रयोजन के सिवाय निर्व्यापार रक्खे, वाणी भी चपल न रक्खे अर्थात् विशेष प्रयोजन के विना भाषण भी न करे, ये सब शिष्ट पुरुषों के लक्षण हैं।

इस अर्थ को, ही अन्यत्र सङ्क्षेप में इसी प्रकार विस्तार से स्पष्ट किया है—

"अजिह्वः षण्ढकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥"

जिह्वारहित, क्लीब, लंगड़ा, अन्धा, बहिरा, और मूढ़ भिक्षु अजिह्वत्वादि छः गुणों से मुक्त होता है। इसमें लेश मात्र भी संशय नहीं है।

"इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जते ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥"

भोजन समय में जो पुरुष को भोजन करता हुआ भी 'यह पदार्थ तो मुझे प्रिय है, यह मुझको प्रिय नहीं है' इस प्रकार भोज्य पदार्थों में आसक्ति को प्राप्त न हो और हित, सत्य, और (जरूरत के लायक) बोलता है उसे "अजिह्व कहते हैं।

"अद्य जातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्ढकः ॥"

जिस प्रकार आज की पैदा हुई तथा १०० वर्ष की स्त्री को देख कर पुरुष निर्विकार रह जाता उसी प्रकार १६ वर्ष स्त्री को भी देख-कर जो पुरुष निर्विकार चित्तवाला रहता है वह षण्ढ होता है।

"भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः॥"

जिसका भ्रमण करना केवल भिक्षा के लिए तथा मल-मूत्र के त्यागने के लिये ही है, और जो एक योजन से अधिक नहीं चल सकता है अर्थात् जिसका निष्प्रयोजन जहाँ तहाँ भटकना नहीं होता है। वह सर्वथा पङ्गु ही है।

"तिष्ठतो व्रजतो वाऽपि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
चतुर्युगां भुवं त्यक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते॥"

ठहरे हुए या चलते हुए जिसकी दृष्टि १६ हाथ भूमि से उपरांत दूर न जाती हो वह संन्यासी "अन्ध" कहलाता है।

"हितं मितं मनोरामं वचः शोकापहं च यत्।
श्रुत्वा यो न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः॥"

हित, अहित, मनोहर और शोक को उत्पन्न करने वाले वचन को सुनकर भी न सुनने के समान जो रहता है, अर्थात् उससे हर्ष-शोक युक्त नहीं होता है, वह "बधिर" कहताता है।

"सान्निध्ये विषयाणां च समर्थोऽविकलेन्द्रियः।
सुप्तवद् वर्तते नित्यं भिक्षुर्मुग्धः स उच्यते॥"

विषयों की समीपता हो और स्वयं भी भोगने में सामर्थ्य वाला और अविकल इन्द्रिय वाला हो तो भी जो निद्रावश होने के समान वर्ताव करता है, वह भिक्षु मुग्ध कहलाता है।

"न निन्दां स्तुतिं कुर्यान्न किंचिन्मर्मणि स्पृशेत्।
नातिवादी भवेत्तद्वत् सर्वत्रैव समो भवेत्॥
न सम्भाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि॥" इति।

किसी की निन्दा या स्तुति न करे, किसी को मर्मवेधी वचन न सुनाये, अत्यन्त भाषण करने वाला न हो, सर्वत्र सम स्वभाव वाला हो, किसी भी स्त्री के साथ बात न करे। पहले की देखी हुई स्त्री का

स्मरण न करे। स्त्री सम्बन्धी बात भी न करे। उसी प्रकार स्त्री के चित्र को भी न देखे।

यथा कश्चिद्व्रती नक्तैकभुक्तोपवासमौनादिव्रतं सङ्कल्प्य सावधानो भ्रंशमकृत्वा सम्यक् पालयति, तथैवाऽजिह्मत्वादिव्रते स्थितः सावधानो विवेकं पालयेत्। तदेवं विवेकेन्द्रियनिरोधाभ्यां दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेविताभ्यां मैत्र्यादिभावनासु प्रतिष्ठितास्वासुरसम्पद्रूपा मलिनवासनाः क्षीयन्ते। ततो निःश्वासोच्छ्वासवन्निमेषोन्मेषवच्च पुरुषप्रयत्नमनन्तरेण प्रवर्तमानाभिर्मैत्र्यादिवासनाभिर्लोके व्यवहरन्नपि तदीयसाकल्यवैकल्यानुसन्धानं चित्ते परित्यज्य निद्रातन्द्रामनोराज्यादिरूपाः समस्तचेष्टाः प्रयत्नेन शान्ताः कृत्वा चिन्मात्रवासनामभ्यसेत्। स्वतस्तावदिदं जगच्चिज्जडोभयात्मकं भासते। यद्यपि शब्दस्पर्शादिजडवस्तुभासनायैवेन्द्रियाणि सृष्टानि—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भुः"

इति श्रुतेः, तथापि चैतन्यस्योपादानतया वर्जयितुमशक्यत्वात् चैतन्यपूर्वकमेव जडं भासते।

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"

इति श्रुतेः। तथा सति पश्चाद् भासमानस्य प्रथमतो भासमानमेव चैतन्यं वास्तवं रूपमिति निश्चित्य जडमुपेक्ष्य चिन्मात्रं चित्ते वासयेत्।

एतच्च बलिशुक्रयोः प्रश्नोत्तराभ्यां विस्पष्टमवगम्यते।

जैसे कोई व्रत करनेवाला पुरुष रात्रि में एक भुक्त, उपवास, या मौन आदि व्रतों का संकल्प कर, सावधानी से उसके सारे नियम को पालन करता है, किसी दिन भी उसको छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार पूर्वोक्त अजिह्मत्व आदि व्रतों में स्थित पुरुष भी सावधानी से भलीभाँति विवेक का पालन करे। इस प्रकार चिरकाल पर्यन्त निरन्तर और आदर पूर्वक सेवित विवेक तथा इन्द्रिय-निरोध का पूर्वोक्त

मैत्री आदि भावनाओं के स्थिर होने से, आसुरी सम्पत्ति रूप मलिन वासनायें क्षय को प्राप्त होती हैं। उनका क्षय होने से श्वास, उच्छ्-वास के समान या आँख बन्द करने और खोलने के समान पुरुष प्रयत्न के बिना प्रवृत्त मैत्री आदि वासनाओं के कारण जगत् में व्यवहार करते हुए भी, कदाचित् वह व्यवहार यथार्थ सिद्ध हो या उसमें कोई कमी रह जावे तो भी उसके बारे में चित्त में चिन्ता का त्याग कर तथा निद्रा, तन्द्रा तथा मनोराज्य (मन की झूठी तरंगों,) को भी प्रयत्न से शान्त कर इस प्रकार चैतन्य वासनाओं का अभ्यास करे।

यह जगत् स्वतः चैतन्य और जड़–ये दो रूपों में भासमान होता है। यद्यपि "ब्रह्मा ने इन्द्रियों को विषयाभिमुख कर इनका हिंसन किया" इस प्रकार श्रुति कहती हैं। इसलिये, यद्यपि शब्द स्पर्श आदि जड़ पदार्थों को ही प्रकाश करने के लिये इन्द्रियों को रचा है। तथापि जड़ का (विवर्त्त) उपादान कारण चैतन्य होने से जड़ पदार्थ उससे पृथक् न हो सकने से चैतन्यपूर्वक ही जड़ पदार्थ का भान होता है। "उसके ही भान से सब भासमान होता है, उस परमात्मा के प्रकाश से ये सब भासमान होते हैं" ऐसा श्रुति भी कहती है। अत एव चैतन्य या जिसका प्रथम भान होता है वही पीछे से भासमान जड़ पदार्थों का वास्तव स्वरूप है। ऐसा निश्चय कर जड़ पदार्थ की उपेक्षा कर चैतन्य की ही वासना को आरूढ करे। यह बात बलि और शुक्राचार्य के सम्वाद से स्पष्ट जान पड़ती है—

"किमिहास्तीह किम्मात्रमिदं किम्मयमेव च।
कस्त्वं कोऽहं क एते वा लोका इति वदाऽऽशु मे॥
चिदिहास्तीह चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति संग्रहः॥" इति।

यहाँ क्या है ? यह सब किस रूप में हैं ? यह कौन है ? तुम कौन हो ? मैं कौन हूँ ? और यह लोक कौन है ? शीघ्र मुझे कहो। इस भाँति बलि राजा ने पूछा तब शुक्राचार्य ने उत्तर दिया कि यही चैतन्य है, ये सब चैतन्य ही है, तू चैतन्य है, मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, तथा यह लोक भी चैतन्य स्वरूप है, यह थोड़े में उत्तर है।

यथा सुवर्णकारः कटकं विक्रीणन्नपि वलयाकारस्य गुण-दोषानुपेक्ष्यगुरुत्ववर्णयोरेव मनः प्रणिधित्सति तथा चिन्मात्रे

मनः प्रणिधातव्यम् । यावता कालेन जडं सर्वथैवोपेक्ष्य चिन्मात्रे मनसः प्रवृत्तिर्निश्वासादिवत् भाविकी सम्पद्यते तावन्तं कालं चिन्मात्रवासनायां प्रयतेत ॥

जैसे सोनार सोने के कड़े को बेचता हुआ भी कड़ा के आकार गत गुण दोष पर दृष्टि न देकर केवल उसके रङ्ग और तौल पर ही मन लगा कर देखता है-(ऐसा कड़ा लेने वाला करता है) उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष मिथ्या नामरूपात्मक जड़ के पहिले भासमान चैतन्य पर ही मन स्थिर कर जैसे श्वास उच्छवास रूप क्रिया बिना प्रयास, अपने आप स्वभाव से ही होती हैं—

उसी प्रकार जड़की उपेक्षा कर केवल चैतन्य में ही मन की स्वाभाविक प्रवृति न हो जाय तब तक चैतन्य वासनाओं का अभ्यास करे।

नन्वादावेव चिन्मात्रवासनाऽस्तु, तयैव मलिनवासनानिवृत्तेः, किमनेनान्तर्गडुना मैत्र्याद्यभ्यासेनेति चेन्न ।

शङ्का—पहिले चिन्मात्र वासना का ही अभ्यास करे और मलिन वासना की निवृत्ति भी इस चिन्मात्रवासना से ही होगी तो पीछे मैत्री आदि शुभ वासना के अभ्यास के बीच व्यर्थ हाथ डालने का क्या प्रयोजन है ?

चिद्वासनायां अप्रतिष्ठितत्वप्रसङ्गात् । यथा कुट्टिमदार्ढ्यव्यतिरेकेण क्रियमाणमपि स्तम्भकुड्यात्मकं गृहं न प्रतितिष्ठति । यथा वा विरेचनेन प्रबलदोषमनिःसार्य सेवितमप्यौषधं नाऽऽरोग्यकरं तद्वत् ।

समाधान—मैत्री, मुदिता आदि शुभ वासनाओं का अभ्यास किये बिना चैतन्य वासना स्थिर नहीं होती है। जैसे नेव (दीवार का) के मजबूत किये विना खम्भे, भीत आदि का समुदाय रूप घर चिरकाल तक नहीं ठहर सकता है, जैसे जुलाब लेकर सब दोषों को निकाले विना रसायन का सेवन करने से रोग को कुछ लाभ नहीं होता है, उसी प्रकार मैत्री आदि शुभ वासनाओं का अभ्यास किये विना पहिले से ही चैतन्य वासना सिद्ध नहीं हो सकती है।

ननु "तामप्यथ परित्यजेत्" इति चिन्मात्रवासनाया अपि परित्याज्यत्वमवगम्यते। चिन्मात्रं परित्यज्यान्यस्य कस्यचिदुपादेयस्याऽऽभावात्।

'उस चिन्मात्र वासना का भी पीछे त्याग करो' इस भाँति चिन्मात्रवासना को भी हेय गिना है, अतः योग्य नहीं है, क्योंकि चैतन्य का त्याग कर, उसके बिना अन्य कोई पदार्थ उपादेय नहीं है।

नायं दोषः। द्विविधा चिन्मात्रवासना—मनोबुद्धिसमन्विता तद्रहिता चेति। करणं मनः, कर्तृत्वोपाधिर्बुद्धिः। तथा च सत्यप्रमत्तोऽहमेकाग्रेण मनसा चिन्मात्रं भावयिष्यामीति, एतादृशेन कर्तृकरणानुसन्धानेन समन्विता प्राथमिकी या चिन्मात्रवासना ध्यानशब्दाभिधेया तां परित्यजेत्। या त्वभ्यासपाटवेन कर्तृत्वाद्यनुसन्धानावधानरहिता समाधिशब्दाभिधेया तामुपाददीत। ध्यानसमाध्योस्तु लक्षणं पतञ्जलिः सूत्रयामास।

समाधान—यह दोष वास्तविक नहीं है, क्योंकि, दो प्रकार की चिन्मात्र वासना है, एक मन-बुद्धि-सहित, और दूसरी मन-बुद्धि-रहित। मन यह करण सभी ध्यान आदि आन्तर क्रियाओं का साधन है, और बुद्धि कर्तृत्व की उपाधिरूप है अर्थात् मैं अमुक कार्य करता हूँ, इस प्रकार की वृत्ति बुद्धि का स्वरूप है, इसलिये, सावधान हूँ, एकाग्र मन से केवल चैतन्य की भावना करूँगा, इस प्रकार कर्त्ता (बुद्धि) और करण (मन) का अनुसन्धान पूर्वक जो आरम्भ काल में चिन्मात्र वासना है, उसका ध्यान यह नाम है, इस मन-बुद्धि-पूर्वक चिन्मात्र वासना का त्याग करे, और अधिक अभ्यास से बुद्धि और मन के अनुसन्धान के विना समाधि नाम की चिद्वासना है, उसको ग्रहण करे। ध्यान और समाधि का लक्षण भगवान् पतञ्जलि ने सूत्रों-द्वारा कहा है—

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"। (पा० सू० ३।२)

तादृशे समाधौ दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैः सेविते स्थैर्यं लब्ध्वा पश्चात्कर्तृकरणानुसन्धानपरित्यागार्थो यः प्रयत्नस्तमपि परित्यजेत्।

नाभि आदि स्थानों में ध्येय के अवलम्बन ज्ञान की जो स्थिरता लगातार प्रवाह और उसमें दूसरे ज्ञान का अभाव होता है, उसे ध्यान कहते हैं । जिससे ध्यान का संस्कार मात्र रह जाय और स्वरूप शून्य के समान हो जाय उसे समाधि कहते हैं ।

चिर काल तक आदर पूर्वक निरन्तर सेवन कर समाधि में स्थिरता प्राप्त करने के बाद मन बुद्धि के अनुसन्धान को त्यागने के लिये प्रयत्न का भी त्याग करे ।

नन्वेवं सति तत्त्यागयत्नोऽपि परित्याज्य इत्यनवस्था स्यात् ।

शङ्का—इस तरह तो जैसे मन, बुद्धि के त्याग के निमित्त यत्न का त्याग करे, उसी प्रकार इस त्याग के निमित्त प्रयत्न का त्याग करे, पीछे उस त्याग के निमित्त प्रयत्न का त्याग करे, इस भाँति अनवस्था दोष प्राप्त होगा ।

मैवम् । कतकरजोन्यायेन स्वपरनिवर्तकत्वात् । यथा कलुषिते जले प्रक्षिप्तं कतकरज इतररजसा सह स्वात्मानमपि निवर्तयति तथा त्यागार्थः प्रयत्नः कर्तृकरणानुसन्धानं निवर्त्तयन्स्वात्मानमपि निवर्तयिष्यति । निवृत्ते न तस्मिन्मलिनवासनावच्छुद्धवासनानामपि क्षीणत्वान्निर्वासनं मनोऽवतिष्ठते । एतदेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ आह ।

समाधान—जैसे मलिन जल में डालने से निर्मली के फल की धूलि इतर धूलि के साथ अपना भी नाश कर डालती है, उसी प्रकार कर्त्ता (बुद्धि) और करण (मन) के अनुसन्धान का त्याग के लिये किया हुआ यत्न, कर्त्ता तथा करण के अनुसन्धान की निवृत्ति करेगी । यह यत्न निवृत्त हुए पीछे मलिन वासना के समान शुद्ध वासना में भी क्षीण होने से मन, वासना शून्य रह जाता है । इसी अभिप्राय से भगवान् वसिष्ठ ने कहा है—

"तस्माद्वासनया बद्धं मुक्तं निर्वासनं मनः ।
राम ! निर्वासनीभावमाहराऽऽशु विवेकतः ॥

वासना सहित मन बद्ध है और वासना रहित मन मुक्त है, अत एव हे राम ! विवेक द्वारा शीघ्र निर्वासनापन की प्राप्ति करो—

"सम्यगालोचनात्सत्याद्वासना प्रविलीयते ।
वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत् ॥" इति ।

यथार्थ विचार पूर्वक सम्पूर्ण जगत् का बाधरूपत्याग होने से वासनायें लय को प्राप्त होती हैं, और वासनाओं का लय होने से जैसे दीप शान्त होता है, उसी प्रकार वासनायें शान्त हो जाती हैं।

"यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥" इति ।

जो अविद्या रूप निद्रा के उड़ जाने से जागते हुए भी सुषुप्ति में स्थित पुरुष के समान केवल स्वरूप में स्थित है, जिसका ज्ञान के द्वारा देहेन्द्रिय का बाध हो जाने से इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण रूप जाग्रत् अवस्था नहीं है, तथा जिसको जाग्रत् वासना से हुई स्वप्न अवस्था भी नहीं है, वही जीवन्मुक्त पुरुष कहलाता है।

"सुषुप्तिवत् प्रशमितभाववृत्तिना
स्थितं सदा जाग्रति येन चेतसा ।
कलान्वितो विधुरिव यः सदा बुधै-
र्निषेव्यते मुक्त इतीह स स्मृत ॥" इति च ।

जैसे सुषुप्ति अवस्था में चित्त विषयाकार नहीं होता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी जो विषयाकार वृत्ति से रहित चित्त से स्थित है तथा जिसको कलावान् चन्द्रमा के समान ही विवेकी पुरुष निरन्तर सेवन करता है, वह पुरुष मुक्त कहलाता है।

"हृदयात्सम्परित्यज्य सर्वमेव महामतिः ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥"

जो महामति पुरुष हृदय के सब विषयों को त्याग कर चित्त की व्यग्रता से मुक्त रहता है, वह मुक्त साक्षात् परमेश्वर है।

"समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनास्तसर्वाशो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥
नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥" इति ।

जिसके हृदय की आशायें निवृत्त हो गयी हैं, वह पुरुष समाधि या सत्कर्म करे या न करे, परन्तु वह उत्तम आशयवाला पुरुष सदा मुक्त ही है। जिसका मन वासना रहित है, उस पुरुष के लिए कर्म के त्याग का कोई प्रयोजन नहीं है, उसी तरह उसको कर्म करने से कोई फल नहीं है, तथा समाधि या जप का कोई प्रयोजन नहीं है, पूर्ण रीति से शास्त्रों का विचार किया हो तथा परस्पर चर्चा के द्वारा शास्त्रों का तात्पर्य्य एक दूसरे को ग्रहण कराया भी हो तब भी वासना त्याग रूप, मौन के विना उत्तम पद की प्राप्ति नहीं होती है।

न च निर्वासनमनस्कस्य जीवनहेतुर्व्यवहारो लुप्येतेति शाङ्कनीयम् । किं चक्षुरादिव्यवहारस्य लोपः ?, किं वा मानसव्यवहारस्य ? । तत्राऽऽद्यमुद्दालको निराचष्टे—

वासनारहित मनवाले पुरुष का कोई भी व्यवहार यथार्थसिद्ध नही हो सकता है, ऐसी यहाँ शङ्का न करनी चाहिए। क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों का व्यवहार और मानस व्यवहार ये दो प्रकार के व्यवहार हैं। इनमें से कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता ? इनमें से प्रथम पक्ष का उद्दालक मुनि खण्डन करते हैं—

"वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः ।
प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासना नात्र कारणम् ॥" इति ।

द्वितीयं वसिष्ठो निराचष्टे—

ये चक्षु आदि इन्द्रियाँ वासना के विना भी, अपने विषय के प्रति स्वयं ही प्रवृत्त होती हैं। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के प्रति प्रवृत्त होने में कोई वासना कारण नहीं है।

वासना के क्षय होने से मानस व्यवहार भी बन्द नहीं होता है, यह वसिष्ठ मुनि कहते हैं।

"अयत्नोपनतेष्वक्षिदिग्द्रव्येषु यथा पुनः ।
नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः ॥" इति ।

तादृश्या धिया प्रारब्धभोगं स एवोपपादयति—

रास्ता चलते, विना यत्न के प्राप्त हुई नाना दिशाओं की वस्तुओं पर जैसे दृष्टि राग के विना जाती है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष के अन्तःकरण की वृत्तियाँ सब कामों में राग के विना ही प्रवृत्त होती है।

राग रहित बुद्धि के द्वारा प्रारब्धभोग भी सिद्ध होता है; ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

"परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये।
विज्ञाय सेवितश्चौरो मैत्रीमेति न चौरताम्॥
अशङ्कितोपसंप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः।
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते॥" इति।

भोगकालेऽपि सवासनेभ्यो निर्वासनस्य विशेषमाह—

जैसे चोर को चोर रूप से जान कर उसका सेवन करने से वह चोर मित्र हो जाता है, किन्तु वह अपनी चोरी नहीं करता है, वैसे विषय भोग में जो-जो दोष हैं, उनको यथार्थ जानकर उसके भोगने से तृष्णाओं को नहीं बढ़ाकर सन्तोष ही उत्पन्न करते हैं। जैसे मुसाफिर नीडर हुआ ग्राम यात्रा (एक के पीछे एक आने जाने वाले को) देखता हैं, उसी प्रकार ज्ञानी भोग लक्ष्मी को (उदासीन दृष्टि से) देखता है।

भोग समय भी सवासन से निर्वासन पुरुष में अधिकता वसिष्ठ जी ने कही है—

"नाऽऽपदि ग्लानिमायाति हेमपद्मं यथा निशि।
नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि॥
नित्यमापूर्णतामन्तरक्षुब्धामिन्दुसुन्दरीम्।
आपद्यपि न मुञ्चन्ति शशिनः शीततामिव॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विगताशयाः।
नियतं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव॥" इति।

जनकस्यापि समाधिव्युत्थितस्येदृशमेवाऽऽचरणं पठ्यते।

जैसे सोने का कमल (बनावटी होने से) रात्रि में भी नहीं कुम्हलाता है वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुष आपत्ति में भी दीनता के वश में नहीं होता है, प्रवाह प्राप्त कार्य्य के सिवाय अन्य कार्य के करने को

इच्छा नहीं होती है, और शिष्ट पुरुषों के ही मार्ग का अनुसरण कर आनन्द को प्राप्त करता है। चन्द्रमा के समान और वैसा ही शीतल विकार रहित ऐसी पूर्णता को आपत् काल में भी नहीं छोड़ता है, वासना-रहित महान् पुरुष समुद्र की भाँति मर्यादा को नहीं छोड़ता है, उसी तरह सूर्य्य के समान नियम को नहीं छोड़ता है।

समाधि से उठने के बाद जनक का भी उसी प्रकार आचरण योगवासिष्ठ में कहा गया है—

"तूष्णीमथ चिरं स्थित्वा जनको जनजीवितम् ।
व्युत्थितश्चिन्तयामास मनसा शमशालिना ॥
किमुपादेयमस्तीह यत्नात्संसाधयामि किम् ।
स्वतःस्थितस्य शुद्धस्य चितः का मेऽस्ति कल्पना ॥
नाभिवाञ्छाम्यसंप्राप्तं संप्राप्तं न त्यजाम्यहम् ।
स्वस्थ आत्मनि तिष्ठामि यन्ममास्ति तदस्तु मे ॥
इति संचिन्त्य जनको यथाप्राप्तक्रियासमौ ।
असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ दिनं दिनपतिर्यथा ॥
भविष्यं नानुसन्धत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ ।
वर्तमाननिमेषं तु हसन्नेवानुवर्तते ॥" इति ।

तदेवं यथोक्तेन वासनाक्षयेण यथोक्ता जीवन्मुक्तिर्भवतीति सुस्थितम् ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्तिविवेके जीवन्मुक्तिप्रमाण-
वासनाक्षयनिरूपणं नाम द्वितीयं प्रकरणम् ॥ २ ॥

बहुत देर तक शान्त रहकर जाग्रत् होने के बाद शान्ति युक्त चित्त हो जनक लोगों के जीवन स्वरूप आत्मस्वरूप में विचार करने लगे कि 'इस जगत् में मेरे ग्रहण योग्य क्या वस्तु है ? जिसको मैं यत्न से सिद्ध करूँ ? स्वतः स्थित शुद्ध चैतन्य मेरी क्या कल्पना है ? अप्राप्त वस्तु की मैं इच्छा नहीं करता हूँ; वैसे ही प्राप्त वस्तु को नहीं छोड़ता

हूँ। मैं तो केवल स्वस्थ स्वरूप में ही स्थिर हूँ। प्रारब्ध द्वारा प्राप्त जो वस्तु मेरी मानी गयी वह भले ही मेरी हो। इस प्रकार विचार कर जैसे सूर्य नारायण, अधिकार प्राप्त दिवस रूप क्रिया करते हैं; वैसे ही जनक राजा भी आसक्ति रहित, यथाप्राप्त-क्रिया करने के लिये उठे। जैसे यह राजा भविष्य सम्बन्धी विचार नहीं करते हैं; उसी प्रकार भूतकाल का भी विचार नहीं करते और वर्त्तमान क्षण को तो हँसते हुए व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार यथा विधि उक्त वासनाक्षय द्वारा यथार्थ-जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है, यह अत्यन्त निश्चित है।

इस प्रकार जीवन्मुक्तिविवेक का वासनाक्षय नाम का दूसरा प्रकरण समाप्त हुआ॥

अथ तृतीयं मनोनाशप्रकरणम् ।

अथ जीवन्मुक्तिसाधनं मनोनाशं निरूपयामः । यद्यप्यशेषवासनाक्षये सति अर्थान्मनो नश्यत्येव, तथाऽपि स्वातन्त्र्येण मनोनाशे सम्यगभ्यस्ते सति वासनाक्षयो रक्षितो भवति । न चाजिह्वत्वपण्डकत्वाद्यभ्यासेनैव तद्रक्षा सिद्धेति वाच्यम् । नष्टे मनस्यजिह्वत्वादीनामर्थसिद्धत्वेनाभ्यासप्रयासाभावात् । मनोनाशाभ्यासस्तत्राप्यस्तीति चेदस्तु नाम ! तस्याऽऽवश्यकत्वादन्तरेण मनोनाशमभ्यस्ता अप्यजिह्वत्वादयोऽस्थिरा भवन्ति । अत एव मनसो नाशनीयत्वं जनक आह ।

अब जीवन्मुक्ति के साधन रूप मनोनाश का निरूपण करते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण वासनाओं के क्षय होने से मन का नाश हो ही जाता है, तथापि स्वतन्त्र मनोनाश का यथाशास्त्र अभ्यास करने से वासनाक्षय की रक्षा होती है, अर्थात् वासना फिर उदय होने योग्य नहीं रहती है। मौन होना नपुंसक होना आदि पूर्वोक्त साधनों के अभ्यास से वासना क्षय की रक्षा सिद्ध ही है, ऐसी शङ्का यहाँ नहीं करनी चाहिये। क्योंकि मनोनाश होने से, मौन, षण्ढत्व आदि स्वयं सिद्ध होने से उनके अभ्यास करने के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता है।

शङ्का—अजिह्वत्वादि में भी मनोनाश का अभ्यास तो है ही, तब स्वतन्त्रता पूर्वक मनोनाश के लिये अभ्यास क्यों करेंगे।

समाधान—मनोनाश का अभ्यास उसमें भी हो, परन्तु मनोनाश के अभ्यास की आवश्यकता होने से, स्वतन्त्रता से मनोनाश का अभ्यास किये विना अजिह्वत्वादि साधन स्थिर नहीं रहते हैं। अत एव जनक ने मन को नाश करने योग्य कहा है।

"सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः ।
अस्य संसारवृक्षस्य मनोमूलमिति स्थितम् ॥

संकल्पमेव तन्मन्ये मनोमूलमिति स्थितम् ।
संकल्पमेव तन्मन्ये संकल्पोपशमेन तत् ॥
शोषयामि यथाशोषमेति संसारपादपः ।
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दृष्टश्चोरो मयाऽऽत्मनः ॥
मनो नाम निहन्म्येनं मनसाऽस्मि चिरं हतः ।

वसिष्ठोऽप्याह—

हजार अंकुर, शाखा, पल्लव, और फल वाला संसाररूपी वृक्ष की जड़ मन ही है, इसमें सन्देह नहीं है, संकल्प ही उसका स्वरूप है, इसलिये संकल्प का शमन करने के लिये मन का शोषण कर डाले, जिससे यह संसार रूपी वृक्ष भी सुख ही जाय। अब मैंने समझा है। मैंने आत्म-धन को चुराने वाले मन नामक चोर को देखा है, इसलिये अब आज मैं इसे मारता हूँ, इसने बहुत दिनों तक मुझे मारा है। वसिष्ठ जी कहते हैं।

"अस्य संसारवृक्षस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला ॥
तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥
हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥
एतावपि धरणितले सुभगास्ते साधुचेतनाः पुरुषाः ।
पुरुषकथासु च गण्या न जिता ये चेतसा स्वेन ॥
हृदयबिले कृतकुण्डल उल्बणकलनाविषो मनोभुजगः ।
यस्योपशान्तिमगमच्चन्द्रवदुदितं तमव्ययं वन्दे ॥" इति ः

अनेक प्रकार के कण्टकरूप फल देने वाले इस संसार वृक्ष को निर्मूल करने के लिए केवल अपने मन का निग्रह करे यही केवल उपाय है। मन का उदय यह पुरुष के नाश का रूप है, और मन का नाश यह उसका बड़ा अभ्युदय है। ज्ञानी का मन नाश को प्राप्त होता है, और अज्ञानी का मन इसका बाँधने वाला सांकल (जंजीर सिर) स्वरूप होता है। जब तक एक परम तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से अपने मन को नहीं जीतता तब तक आधी रात में नाच करने वाले पिशाचादि के समान हृदय में वह नाच किया करता है।

जिसके चित्त का गर्व शांत हो गया है, तथा जिसने इन्द्रिय रूप शत्रु को वश में कर लिया है, उसकी भोगवासनायें शीतकाल में हिम पड़ने से कमल के नाश के समान नष्ट हो जाती हैं। हाथ से हाथ दाब कर, दातों से दाँत को पीस कर और अंङ्गों से अंङ्ग मरोड़ कर भी प्रथम अपने मन को जीते। वे ही पुरुष इस विशाल भूमण्डल में भाग्यवान्, बुद्धिमान् है और पुरुषों में भी ऐसे की ही गणना पुरुषों में हो सकती है। हृदय रूपी बिल में फण फैलाकर बैठा हुआ (सर्प) सङ्कल्प विकल्प रूप जिसका भयङ्कर विष है, ऐसा मनरूपी सर्प जिसके द्वारा मारा गया है, उस उदय पाये हुए पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्विकार पुरुष की मैं वन्दना करता हूँ।

"चित्तं नाभिः किलास्येदं मायाचक्रस्य सर्वतः।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किंचित्प्रबाधते ॥" इति।

गौडपादाचार्यैरप्युक्तम्—

इस मायाचक्र की नाभि (मध्य) में यह चित्त है, सब ओर से उसका आक्रमण कर जो स्थित रहता है, वह किसी प्रकार की बाधा को प्राप्त नहीं करता है।

श्री गौडपादाचार्य ने भी कहा है—

"मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥" इति।

अर्जुनेनोक्तम्—

योगी पुरुषों को भयशून्यता की प्राप्ति जैसे मन के निग्रह के अधीन है, उसी प्रसार दुःख की निवृत्ति, ज्ञान और अक्षय शान्ति भी

मन के निग्रह के ही अधीन है। अर्जुन ने भी (भ० गी० अ० ६, श्लोक ३४) कहा है—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥"

इत्येतद्वचनं हठयोगविषयम् । अत एव वसिष्ठ आह—

हे कृष्ण ! इन्द्रियों को क्षुब्ध करने वाला विचार से जीतने के अयोग्य, दृढ़ अर्थात् विषय वासनाओं से दुर्भेद्य मन अत्यन्त ही चञ्चल है। वायु के समान इनको रोकना मैं दुष्कर मानता हूँ ॥ ३४ ॥

यह वचन हठयोग सम्बन्धी है, अर्थात् हठयोग से मन का रोकना अत्यन्त कठिन है, इस अभिप्राय से यह वचन अर्जुन ने कहा है। इसी अभिप्राय से वसिष्ठ जी भी कहते हैं कि—

"उपविश्योपविश्यैकचित्तकेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥
अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ।
विजेतुं शक्यते नैव तथा युक्त्या विना मनः ॥
मनोविलयहेतूनां युक्तीनां सम्यगीरणम् ।
वसिष्ठेन कृतं तावत्तन्निष्ठस्य वशे मनः ॥
हठतो युक्तितश्चापि द्विविधो निग्रहो मतः ।
निग्रहो धीक्रियाक्षाणां हठो गोलकनिग्रहात् ॥
कदाचिज्जायते कश्चिन्मनस्तेन विलीयते ।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च ॥
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम् ।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥" इति ।

चित्त के स्वभाव को जानने वाले पुरुष, विना उत्तम युक्ति केवल वारंबार आसन पर बैठने से इस मन को नहीं जीत सकते हैं, जैसे महामत्त हाथी विना अङ्कुश के वश में नहीं हो सकता है, उसी प्रकार यह मन भी उत्तम युक्ति के विना वश में नहीं आ सकता है। मन को वश में करने की ठीक-ठीक युक्तियाँ वसिष्ठ जी ने निरूपण की हैं अत एव उन युक्तियों के सेवन करने वाले पुरुष के मन स्वयमेव अधीन हो जाता हैं। मन का निग्रह (रोकना) दो प्रकार का है-एक हठ योग के द्वारा दूसरा युक्ति के द्वारा जहाँ (नेत्र आदिक ५ ज्ञान इन्द्रिय, और वाणी आदि पाँच कर्म इन्द्रिय, ये दस इन्द्रिय) इन्द्रियों के गोलक मात्र के निरोध करने से ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को जैसे हठ से निग्रह किया जाता है वैसे ही कदाचित् इस मन का भी हठ से निग्रह होगा ऐसी भ्रांति मूढ़ पुरुष को होती है। अब युक्ति से निग्रह को कहते हैं। युक्ति ४ प्रकार की है एक तो अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, दूसरी महात्माओं का समागम, तीसरी वासनाओं का परित्याग और चौथी प्राणों के स्पन्द का निरोध है। यही चार युक्तियाँ उस मन के निरोध के लिये उपाय है। इन चार युक्तियों के विद्यमान रहने पर भी मनुष्य चित्त को बलात्कार से निग्रह करता है वह पुरुष अन्धकार को हटाने के लिये दीपक का परित्याग कर अन्धकार को आञ्जन से निवृत्त करता है। जो मूढ़ पुरुष हठ से चित्त को जीतने का उद्यम करता है, वह मानो पगले हाथी को कमल के सूत से बाँधता है ? ?

निग्रहो द्विविधः—

हठनिग्रहः, क्रमनिग्रहश्चेति। तत्र चक्षुःश्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादिकर्मेन्द्रियाणि च तत्तद्गोलकोपरोधमात्रेण हठान्निगृह्यन्ते। तद्दृष्टान्तेन मनोऽपि तथा निगृहीष्यामीति मूढस्य भ्रान्तिर्भवति। न त तन्निगृह्यते। तद्गोलकस्य हृदयकमलस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्। अतः क्रमनिग्रह एव योग्यः।

निग्रह दो प्रकार का है—हठ निग्रह और कर्म निग्रह :—हठ निग्रह इस प्रकार का निग्रह है, वहाँ चक्षु आदि ज्ञान इन्द्रियों का और वाणी आदि कर्मेन्द्रियों का उस-उस इन्द्रिय के गोलक को (इन्द्रियों के रहने की जगह) व्यापार रहित करने से जैसे हठ से

निरोध किया जा सकता, वैसे ही मन के गोलक का निरोध भी मैं करूँगा ऐसी मूढ़ पुरुष को भ्रान्ति होती है, परन्तु उस तरह मन का निरोध नहीं हो सकता है। क्योंकि जैसे आँख मून्दने से नेत्रेन्द्रिय का निरोध हो सकता है वैसे मन के गोलक से हृदय कमल का निरोध नहीं किया जा सकता है। अतएव मन के निग्रहार्थ क्रम निग्रह ही योग्य है।

क्रमनिग्रहे चाध्यात्मविद्याप्राप्त्यादय उपायाः, सा च विद्या दृश्यमिथ्यात्वं दृग्वस्तुनः स्वप्रकाशत्वं च बोधयति तथा च सत्येतन्मनः स्वगोचरेषु दृश्येषु प्रयोजनाभावं प्रयोजनवति दृग्वस्तुन्यगोचरत्वं च बुद्ध्वा निरिन्धनाग्निवत् स्वयमेवोपशाम्यति। तथा च श्रूयते।

क्रम निग्रह के लिये अध्यात्मविद्या की प्राप्ति आदि उपायों को ऊपर कहा गया है। उनमें अध्यात्मविद्या दृश्य को मिथ्या और द्रष्टा को स्वयं प्रकाश बताती है; ऐसा करने पर यह मन, अपने विषय दृश्य पदार्थ, जिसका अध्यात्म विद्या से मिथ्यारूप से निश्चित किया है, उस ओर जाने की मुझे आवश्यकता नहीं है तथा जिसके प्रति जाने की मुझे आवश्यकता नही तथा जिसके प्रति जाने की आवश्यकता है, वह द्रष्टा रूप वस्तु मेरा विषय नहीं है, इस प्रकार समझ कर यह मन, जैसे काष्ठ आदि के अभाव से अग्नि स्वयं शान्त हो जाता है, वैसे ही स्वयं शान्त हो जाता है। श्रुति भी कहती है—

"यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥" इति।

जैसे इन्धन के न रहने पर अग्नि अपने कारण में शान्त हो जाती है, उसी तरह वृत्ति के क्षय से चित्त आत्मा में शान्त हो जाता है।

योनिरात्मा। यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्यग् बुध्यते यश्च विस्मरति तयोरुभयोः साधुसङ्गम एवोपायः। साधवो हि पुनर्बोधयन्ति स्मारयन्ति च। यस्तु विद्यामदादिदुर्वासना पीड्यमानो न साधूननुवर्तितुत्सहते तस्य पूर्वोक्तविवेकेन वासनापरित्याग उपायः। वासनानामतिप्राबल्येन त्यक्तुमशक्यत्वे प्राणस्पन्दनिरोधनमुपायः। प्राणस्पन्दनवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वात्तयो-

निरोधे चित्तशान्तिरुपपद्यते ।

प्रेरकत्वं च वसिष्ठ आह—

परन्तु जड बुद्धि वाला होने से आत्मतत्त्व का बोध कराने पर भी उसका ग्रहण नहीं कर सकता है, तथा जो ग्रहण कर तुरन्त उसे भूल जाया करता है, ऐसे पुरुष के मन के निग्रह के लिये सत्पुरुषों का समागम ही उपाय रूप है। क्योंकि दयालु सत्पुरुष ऐसे जडमति वाले को बारबार बोध कराते हैं, तथा आत्मा का स्मरण कराया करते हैं। जो पुरुष विद्यामद, धनमद, ऐश्वर्यमद आदि दुष्ट वासनाओं से पीड़ित होने से सत्पुरुष की शरण में जाकर उनको प्रणाम, शुश्रुषा आदि उपायों से प्रसन्न करने में असमर्थ होते हैं, ऐसे पुरुषों के लिये पूर्वोक्त विवेक से वासना का त्याग रूप उपाय है। वासनाओं की अति प्रबलता होने से उनको जो नहीं छोड़ सकता है उनके लिये प्राण वायु का निरोध रूप उपाय है। प्राण की गति और वासनायें चित्त के वेग में प्रेरणा करती हैं, अतः एव उन दोनों के निरोध करने से चित्त शान्त होता है।

गतिवाला प्राण और वासना मन के वेग में प्रेरणा करती है, ऐसा श्री वसिष्ठ जी कहते हैं—

"द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढवासना ॥
सती सर्वगता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यते ।
संवेदनादनन्तानि ततो दुःखानि चेतसः ॥" इति ।

हे रामचन्द्र जी ! आप से प्राप्त हुई वृत्तिरूप लताओं को धारण करने वाले चित्तरूप वृक्ष के दो बीज हैं। एक प्राण की गति और दूसरा दृढ वासना।

यथा भस्मच्छन्नमग्निं लोहकारा दृतिभ्यां धमन्ति तत्र च दृत्युत्पन्नवायुना सोऽग्निर्ज्वलति तथा चित्तोपादानेन काष्ठस्थानीयेनाज्ञानेनाऽऽवृता संवित्प्राणस्पन्देन बोध्यमाना चित्तवृत्तिरूपेण प्रज्वलति । तस्माच्चित्तवृत्तिनामकात् संविज्ज्वालारूपात् संवेदनाद् दुःखान्युत्पद्यन्ते सेयं प्राणस्पन्देन प्रेरिता चित्तोत्पत्तिः । अन्यां

च स एवाऽऽह—

चित्त का उपादान (बीज) कारण रूप अविद्या से ढका हुआ सर्वगत चैतन्य प्राण के वेग से प्रकट होता है। उसके प्रकट होने से चित्त से दुःख उत्पन्न होता है। अर्थात् जैसे भस्म से ढके हुए अग्नि को लुहार धौंकनी से धौंकता हैं, तब धौंकनी से उत्पन्न वायु से अग्नि में ज्वाला उत्पन्न होती है, उसी प्रकार काठ के समान चित्त का उपादान कारण रूप अज्ञान से आवृत चैतन्य प्राण वायु से स्फुट हो चित्तवृति रूप से जला करता है। उस चित्त संवित् नाम की (अज्ञानावृत चैतन्य) की ज्वाला रूप आग से अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार प्राण की गति द्वारा प्रेरित चित्त की उत्पत्ति बतलायी गयी है। वासनाजन्य चित्त की उत्पत्ति को भी श्रीवसिष्ठ मुनि नें कहा हैं—

"भावसंवित्प्रकटितामनुभूतां च राघव ! ।
चित्तस्योत्पत्तिमपरां वासनाजनितां शृणु ॥
दृढाभ्यस्तपदार्थैकभावनादतिचञ्चलम् ।
चित्तं सञ्जायते जन्मजरामरणकारणम् ॥" इति ।

न केवलं प्राणवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वं किं तु परस्परप्रेरकत्वमप्यस्ति। तदाह वसिष्ठः—

हे रामचन्द्र जी ! पदार्थ के ज्ञान से प्रकट हुए, अनुभव में आये हुए, चित्त की दूसरी वासनाजन्य उत्पत्ति का तुम श्रवण करो, दृढ़ता से सेवित विषय की वासना से जन्म, बुढ़ापा, और मरण का कारण अति चञ्चल चित्त उत्पन्न होता है।

केवल प्राण और वासना ही चित्त को प्रेरणा करने वाले नहीं हैं, प्रत्युत वे दोनों भी परस्पर एक दूसरे को प्रेरणा करते हैं। इसी प्रकार वसिष्ठ जी भी कहते हैं—

"वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना ।
क्रियते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः ॥" इति ।

अत एवान्यतरनाशेनोभयनाशमप्याह—

वासना के अधीन प्राण की गति है, और प्राण की गति के कारण वासना का स्फुरण होता है, इस प्रकार चित्त की बीज रूप वासना और प्राण व्यापार का बीजांकुर के समान क्रम है। इसी कारण दोनों में एक का नाश होने से दूसरे का नाश हो जाता है ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

"द्वे वीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दवासने ।
एकस्मिँश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यत ॥" इति ।

तयोर्नाशोपायं नाशफलं चाऽऽह—

गतिवाला प्राण और वासना ये दोनों चित्तरूपी वृक्ष के बीज हैं। इन दोनों में एक का क्षय होने से तत्काल दोनों का क्षय हो जाता है।

इन दोनों के नाश का उपाय और नाश के फल को श्री वसिष्ठ जी कहते हैं—

"प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥
असङ्गव्यवहारित्वाद् भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशवर्तित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ! ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥
यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥" इति ॥

अमनस्तानुदये शान्त्यभावमाह—

प्रणायाम के दृढ अभ्यास से श्री सद्गुरु से की हुई युक्तियों के द्वारा आसनजय और नियमित आहार से प्राण की गति रोकी जा सकती है, निःसङ्ग व्यवहार से जगत् में सत्यत्व बुद्धि को त्यागने से

और शरीर के विनाशशीलता का बार-बार स्मरण करने से दुष्ट प्राण की गति के निरोध से चित्त अचित्तपन को प्राप्त होता है। अत एव हे राम! इन दो उपायों के करने की इच्छा हो तो करो। किसी भी पदार्थ को सत्य मानकर उसको सेवन करना यही चित्त का स्वरूप है, इसी प्रकार मैं मानता हूँ कि यह वस्तु तो सुख का हेतु है, इस लिये यह तो ग्रहण करने योग्य है, और यह तो सुख का हेतु नहीं है, इस लिये अग्राह्य है, इस प्रकार जब किसी पदार्थ-विषयक ग्राह्य अग्राह्य की भावना न हो ऐसा ही व्यक्ति सभी वस्तुओं के त्याग से जीवन निर्वाह करता है तब चित्त का उदय नहीं होता है, चित्त निर्वासन होने से जब सङ्कल्प विकल्प नहीं करता है तब अमनस्कता का उदय होता है जो परम शान्ति को देने वाला है।

जब तक मन का अमनभाव नहीं होता है तब तक शान्ति नहीं होती है, ऐसा वसिष्ठ जी कहते हैं—

"चित्तयक्षदृढाक्रान्तं न मित्राणि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं गुरवो न च मानवाः॥" इति।

जिस पुरुष को चित्तरूपी यक्ष ने अपने अधीन कर रक्खा है, उस पुरुष की रक्षा मित्र, बान्धव, माता, पिता आदि गुरुजन और अन्य मनुष्य भी नहीं कर सकते हैं अर्थात् इनमें कोई भी उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

आसनाशनयोगेनेति यदुक्तं तत्राऽऽसनस्य लक्षणमुपायं फलं च त्रिभिः सूत्रैः पतञ्जलिः सूत्रयामास।

इसके पहिले आसन जय और नियमित आहार प्राण जय को कारण रूप से गिना गया हैं। उनमें आसन का लक्षण और उनका उपाय पतञ्जलि मुनि ने तीन सूत्रों के द्वारा कहा—

"स्थिरसुखमासनम्" (पात. सू. २।४६) "प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्" (पात. सू. २।४७) "ततो द्वन्द्वानभिघातः" (पात. सू. २।४८) इति॥

जिस प्रकार बैठने में शरीर के अवयवों को व्यथा न हो और शरीर स्थिर रहे उसका नाम "आसन" है। लौकिक कार्य्यों के लिये प्रयत्न की शिथिलता और शेष की धारणा से आसन जय सिद्ध होता है। आसन सिद्धि के बाद सुखःदुख का नाश होता है।

पद्मकस्वस्तिकादिना यादृशेन देहस्थापनरूपेण यस्य पुरुषस्याऽवयवव्यथानुत्पत्तिलक्षणं देहचलनराहित्यलक्षणं स्थैर्यं च सम्पद्यते तस्य तदेव मुख्यमासनम्। तस्य च प्रयत्नशैथिल्यं लौकिक उपायः। गमनगृहकृत्यतीर्थयात्रास्नानयागहोमादिविषयो यः प्रयत्नो मानस उत्साहस्तस्य शैथिल्यं कर्तव्यम्। अन्यथा स उत्साहो बलाद् देहमुत्थाप्य यत्र क्वापि प्रेरयति। अलौकिकोपायश्च फणासहस्रेण धरणीं धारयित्वा स्थैर्येणावतिष्ठते योऽयमनन्तः स एवाहमस्मीति ध्यानं चित्तस्यानन्ते समापत्तिः। तथा यथोक्तासनसम्पादकमदृष्टं निष्पद्यते। सिद्धे चाऽऽसने शीतोष्णसुखदुःखमानामानादिद्वन्द्वैर्यथा नाभिहन्यते तथाविधस्य चाऽऽसनस्य योग्यो देशः श्रूयते।

शरीर को स्थापन करने वाला पद्मक स्वस्तिक आदि जैसे आसन से जिस पुरुष को अवयव में व्यथा न होने से सुख होता है तथा देह के अचलपन रूप स्थिरता प्राप्त होती है, उस पुरुष का वह मुख्य आसन समझना चाहिए। इस आसन को स्थिर होने का लौकिक उपाय व्यावहारिक कार्यों में प्रयत्नरहित होना है। गमन, गृहकृत्य, तीर्थयात्रा, स्नान, याग और होमादि विषय सम्बन्धी जो प्रयत्न अर्थात् मानस उत्साह उसकी शिथिलता करना योग्य है। जो व्यावहारिक कार्य में उत्साह रहित न हो तो, यह उत्साह उसे बलपूर्वक उठाकर जहाँ कहीं प्रेरणा करता है। 'शेष नाग जो अपनी १००० फणाओं के द्वारा पृथ्वी को धारण कर स्थिरता से ठहरे हैं, वह शेष भगवान् मैं हूँ इस प्रकार का ध्यान आसन जय का अलौकिक उपाय है। इस उपाय के करने से आसन स्थिर करने में समर्थ जीव का अदृष्ट उत्पन्न होता है। आसन सिद्ध होने से शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान आदि द्वन्द्वधर्मों से आसन जय करने वाले पुरुष पूर्व के समान पीड़ित नहीं होता है ऐसे आसन के लिये योग्य स्थल का भी श्रुति निर्देश करती है—

"विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः" इति।

"समे शुचौ शर्करवह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाशयादिभिः ॥
मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्"

इति च ॥

सोऽयमासनयोगः । अशनयोगस्तु मिताहारत्वम् ।

सम, पवित्र, कङ्कड़, अग्नि, और बालू से रहित, कोलाहल तथा जिसमें खलखलाहट की आवाज होती हो ऐसे जलाशय से रहित, मन के अनुकूल और मच्छर से रहित, निर्जन गुहा आदि निर्वात स्थान में आराम से बैठ कर जिसने गर्दन सीधी, मस्तक और शरीर सीधा रक्खा है, ऐसे पवित्र पुरुष को योगाभ्यास का आरम्भ करना चाहिये। इस प्रकार आसनयोग को कहा गया है। अब अशन (भोजन) योग अर्थात् मिताहार को कहते हैं।

"अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्" इति श्रुतिः ।

भगवताऽप्युक्तम् ।

अतिशय आहार और उपवास को योगी सदा त्याग करे ऐसा श्रुति का वचन है। भगवान् ने भी कहा है—

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ! ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥" इति ।

जितासनस्य प्राणायामेन मनोविनाशः श्वेताश्वतरैराम्नायते ।

हे अर्जुन ! जो अधिक भोजन करता या भोजन का अत्यन्त परित्याग करता है, जो बहुत सोया करता है या जागता ही रहता है उसको योग नहीं प्राप्त होता है। उचित अहार और विहार से रहता है, कर्मों में योग्य रीति से व्यवहार करता है और योग्य काल में सोता एवं जागता है उस पुरुष का योगाभ्यास उसके दुःख को मिटा देता हैं। जिसने आसन का जय किया है, उसके मन का नाश प्राणायाम से होता है ऐसा श्वेताश्वतरशाखाध्यायी कहते हैं—

"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

प्राणान्प्रपीडयेह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत ।
दुष्टाश्वमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥" इति ।

हृदय, गर्दन, और मस्तक जिसमें ऊँचे रहें इस प्रकार शरीर को रखकर मन सहित इन्दियों को हृदय में संनिविष्ट कर विद्वान् पुरुष प्रणव-रूप नौका पर सवार हो संसार नदी के भय देने वाले सब प्रवाहों को पार कर जाता है, युक्त चेष्टा वाले उस पुरुष का प्राणायाम करने से प्राण क्षीणता को प्राप्त होता है, तब धीरे-धीरे नासिका से प्राण को बाहर करना चाहिये (श्वास बाहर करे) बदमाश घोड़े वाले सारथी के समान विद्वान् पुरुष सावधानता से मन को वश में करे ॥

योगी द्विविधः विद्यामदाद्यासुरसम्पद्रहितस्तत्सहितश्चेति । तयोराद्यस्य ब्रह्मध्यानेन मनसि निरुद्धे सति तन्नान्तरीयकतया प्राणो निरुद्ध्यते । तं प्रति त्रिरुन्नतमिति मन्त्रः पठितः । द्वितीयस्याभ्यासेन प्राणे निरुद्धे तन्नान्तरीयकतया मनो निरुद्ध्यते तं प्रति प्राणान्प्रपीडयेति मन्त्रः प्रवृत्तः । प्राणपीडनप्रकारो वक्ष्यते । तेन च पीडनेन युक्तचेष्टो भवति । मनश्चेष्टाविद्यामदादयो निरुध्यन्ते प्राणनिरोधेन चित्तदोषे निरोधे दृष्टान्तोऽन्यत्र श्रूयते ।

विद्यामदादि आसुरी सम्पत्ति रहित और आसुरी सम्पत्ति युक्त दो प्रकार के योगी होते हैं । उनमें प्रथम आसुरी सम्पति रहित योगी जब ब्रह्म के ध्यान से मनका निरोध कर लेता है, तब उसके प्राण का भी स्वयं निरोध हो जाता है । क्योंकि मन और प्राण सदा साथ ही रहता है, इस प्रकार के योगी को उद्देश कर-"त्रिरुन्नत" मन्त्र पढ़ा है, और दूसरा जो आसुरी सम्पत्तियुक्त योगी है, उससे पहिले मन का निरोध नहीं हो सकता है, अत एव जब वह प्राणायाम के अभ्यास से प्राण का निरोध करता है, तब उसका मन स्वयं निरोध को प्राप्त होता है इस योगी को उद्देश कर "प्राणान्प्रपीड्य" यह मन्त्र पढ़ा है । प्राणायाम का प्रकार आगे कहेंगे । प्राणायाम से अधिकारी का शरीर इन्द्रिय का व्यापार नियम में आ जाता है । विद्यामद आदि मन का व्यापार भी शान्त हो जाता है । प्राण के निरोध से चित्त के दोष का निरोध होने में दृष्टान्त श्रुति में इस प्रकार है—

"यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते दहनान्मलाः ।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात् ॥" इति ।
अत्रोपपत्तिर्वसिष्ठेन दर्शिता—

जैसे पर्वत से निकले हुए सुवर्ण आदि धातुओं के तपाने से उन का मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राण के निग्रह से इन्द्रिय और मन का दोष जल जाता है।

प्राण के निरोध से मन का निरोध होने में युक्ति श्रीवसिष्ठजी ने दिखलायी है—

"यः प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्दः स एव हि ।
प्राणस्पन्दक्षये यत्नः कर्त्तव्यो धीमतोच्चकैः ॥" इति ।

प्राण वायु का स्पन्दरूप जो व्यापार है वही मन का व्यापार है, इसलिये बुद्धिमान् पुरुष प्राण वायु के निरोध के लिये उत्कृष्ट यत्न करे।

मनोवाक्चक्षुरादीन्द्रियदेवताः स्वस्वव्यापारं करिष्याम इति व्रतं धृत्वा श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्ताः। स च मृत्युः प्राणं नाऽऽप्नोत्। ततो निरन्तरमुच्छ्वासनिःश्वासौ कुर्वन्नपि प्राणो न श्राम्यति। तदा विचार्य देवताः प्राणरूपं प्राविशन्। सोऽयमर्थो वाजसनेयिभिराम्नायते—

मन, वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियों के देवगण "स्वयं अपना-अपना व्यापार निरन्तर करेंगे" ऐसा व्रत धारण कर अन्त में श्रमस्वरूप मृत्यु के अधीन होते हैं, अर्थात् श्रम के वश से उनका व्यापार बन्द हो जाता है। परन्तु वह श्रम रूप मृत्यु, प्राण तक नहीं पहुच सकती है। इससे प्राणवायु निरन्तर श्वासोच्छ्वासरूप व्यापार करता हुआ भी नहीं थकता है तब चक्षु आदि के देवगण विचार कर प्राण में प्रवेश कर गये हैं, यह अर्थ बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—

"अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरँश्च न व्यथते यो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति एतस्यैव सर्वे रूपमभवं-स्तस्मादेत एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणाः" इति ॥

मन और नेत्र आदि इन्द्रियों ने विचार किया कि यह प्राण हममें श्रेष्ठ है जो सांस रूप व्यापार करने पर पीड़ा का अनुभव नहीं करता हम नाश को भी नहीं प्राप्त करते हैं, इसलिये सब प्राण रूप हुए हैं। प्राणरूप होने के कारण मन इन्द्रियादि सब प्राण ही कहलाते हैं।

अत इन्द्रियाणां प्राणरूपत्वं नाम प्राणाधीनचेष्टावत्त्वम्। तच्चान्तर्यामिब्राह्मणे सूत्रात्मप्रस्तावे श्रूयते—

प्राण के अधीन अपने व्यापार के होने से इन्द्रियां प्राण कहलाती हैं, यह बात अन्तर्यामि ब्राह्मण में "सूत्रात्मा" के प्रसङ्ग में कही गयी है—

"वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम! पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति। वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्ति॥" इति।

हे गौतम! वायु ही सूत्र है। इस वायुरूप सूत्र के द्वारा लोक परलोक और प्राणिगण बन्धे हुए हैं। इसी लिये (मरने पर) 'इसके अङ्ग शिथिल हो गये' इस प्रकार मरे हुए पुरुष को कहते हैं। हे गौतम! वायु से ही शरीर के सब अङ्ग परस्पर सङ्गठित हैं।

अतः प्राणस्पन्दनयोः सहभावित्वात्प्राणनिग्रहे मनो निगृह्यते।

प्राण और मन की गति सदा साथ रहती है, इसलिये प्राण के निग्रह करने से मन का निग्रह होता है।

ननु सह स्पन्दो न युक्तः, सुषुप्तौ चेष्टमानेऽपि प्राणे मनसोऽचेष्टमानत्वात्॥

शङ्का—मन और प्राण की साथ गति का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में प्राण के गतिशील होने पर भी मन व्यापार रहित होता है।

न। विलीनत्वेन तदानीं मनस एवाभावात्।

समाधान—इस समय मन का लय प्राप्त होने से मन का ही अभाव है, इसलिये यह शङ्का सम्भव नहीं है।

ननु क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीतेति व्याहतम्। नहि क्षीणप्राणस्य मृतस्य श्वासं क्वचित् पश्यामः। नापि श्वसतो जीवतः प्राण-क्षयोऽस्ति।

शङ्का—प्राणक्षीण होने पर नाक से सांस ले यह परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि मरे हुए मनुष्य के प्राण का क्षय हो जाता है, परन्तु उसके श्वास को हम कभी नहीं देखते हैं। उसी प्रकार जीवित मनुष्य जो श्वास लेता है उसके प्राण का क्षय नहीं होता है, इसलिये पूर्वोक्त श्रुति वचनों में परस्पर विरोध होता है।

मैवम्। अनुल्बणत्वस्य क्षयत्वेनात्र विवक्षितत्वात्। यथा खननच्छेदनादिषु व्याप्रियमाणस्य पर्वतमारोहतः शीघ्रं धावतो वा श्वासवेगो यावान् भवति न तावांस्त्ववस्थितस्याऽऽसीनस्य वा विद्यते। तथा प्राणायामपाटवोपेतस्य तस्याल्पः श्वासो भवति। एतदेवाभिप्रेत्य श्रूयते।

समाधान—वेग की अति मन्दता होना यह प्राण का क्षय है, यही इस स्थल में समझना चाहिए। जैसे खोदने में या काटने में लगे हुए मनुष्य का श्वास जितना वेगवाला होता, उसी प्रकार पर्वत पर चढ़ने वाले, या दौड़ते हुए मनुष्य का श्वास जितना वेग वाला होता है, उतना खड़े या बैठे हुए मनुष्य का श्वास वेगवाला नहीं होता है, उसी प्रकार प्राणायाम में कुशलता पाये हुए पुरुष का श्वास इससे भी न्यून वेगवाला होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति में कहा है—

"भूत्वा तत्राऽऽयतप्राणः शनैरेव समुच्छ्वसेत्॥" इति।

प्राण को नियम में लाने के लिये धीरे-धीरे साँस ले।

यथा दुष्टैरश्वैरुपेतो रथो मार्गं त्यक्त्वा यत्र क्वापि नीयते स च सारथिना दृढमेव रज्जुष्वाकृष्य मार्गेषु पुनर्धार्यते तथेन्द्रियैर्वासनादिभिरितस्ततो नीयमानं मनः प्राणान्प्रपीडयेति यदुक्तं तत्र प्राणपीडनप्रकारोऽत्र श्रूयते—

जैसे बदमाश घोड़ों से जुता हुआ रथ अपने रास्ता को छोड़कर इधर-उधर घसीटा जाता है। परन्तु सारथी लगाम के द्वारा उन घोड़ों

को बलपूर्वक खींचकर फिर रथ को रास्ते पर लाता है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ वासना द्वारा मन को इधर-उधर विषयों में घसीटती हैं। परन्तु प्राणरूपी लगाम को खींच रक्खा हो तो वह मन किसी विषय में नहीं जा सकता है। प्राणायाम का प्रकार अन्य श्रुतियों में कहा गया है—

"सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचकपूरककुम्भकाः ।
उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ॥
शून्यभावेन युञ्जीयाद्रेचकस्येतिलक्षणम् ।
वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ॥
एष वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येतिलक्षणम् ।
नोच्छ्वसेन्न च निःश्वासेन्नैव गात्राणि चालयेत् ॥
एवं तावन्नियुञ्जीत कुम्भकस्येति लक्षणम् ॥" इति ।

प्रणव व्याहृति और शिरोमन्त्र इन सबके सहित गायत्री को प्राण गति रोक कर तीन बार पढ़े इसी को प्राणायाम कहते हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक के भेद से ३ प्रकार का प्राणायाम होता है। शरीर स्थित वायु को बाहर निकालना वायु को ऊँचा चढ़ाकर शरीर गत आकाश को वायु रहित कर उस (वायु) को पुनः जरा भी शरीर में जाने देने के बिना शरीर को यथाशक्ति वायु रहित रखना इसको रेचक प्राणायाम कहा जाता है। जैसे कोई कमल के दण्ड के एक छोर को पानी में रखकर और दूसरे छोर को अपने मुख में रखकर पानी को खींचता है उसी प्रगार नासिका के छिद्र के द्वारा बाहर के वायु को भी खींचना इसको पूरक प्राणायाम कहते हैं, श्वास उच्छ्वास न ले और शरीर के अवयवों को न हिलाना वायु को रोक रखने को कुम्भक प्राणायाम कहते हैं।

अत्र शरीरान्तर्गतं वायुं बहिर्निःसारयितुमुत्क्षिप्य शरीरमाकाशं शून्यं निरात्मकं वायुरहितं कृत्वा स्वल्पमपि वायुमप्रवेश्य शून्यभावेनैव नियमयेत् । तदिदं रेचकं भवति । कुम्भको

द्विविधः। आन्तरो बाह्यश्च। तदुभयं वसिष्ठ आह।

शरीर की वायु को बाहर निकालने के लिये वायु को ऊपर को खींचे, शरीर गत आकाश को वायु से खाली कर के रक्खे और बाहर से वायु को भीतर न आने दे, इसको रेचक प्राणायाम कहते हैं। कुम्भक प्राणायाम दो प्रकार का है एक आन्तर कुम्भक, दूसरा बाह्य कुम्भक है। इन दोनों को वसिष्ठ जी ने कहा है—

"अपानेऽस्तं गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते॥
वहिरस्तं गते प्राणे यावन्नायन उद्गतः।
तावत्पूर्णा समावस्था बहिष्ठं कुम्भकं विदुः॥" इति।

अपान वायु के शान्त होने पर जब तक प्राण वायु का हृदय देश में उदय नहीं होता है, तब तक "आन्तर कुम्भक" अवस्था कहलाती हैं, इसी अवस्था का अनुभव योगिजन करते हैं। बाहर प्रदेश में प्राण वायु के शान्त होने पर जब तक अपान का उदय नहीं होता है, तब तक पूर्ण और 'सम अर्थात् निःश्वास, उच्छ्वास रूप व्यापार रहित प्राण की अवस्था है, इसको बाह्य कुम्भक कहते हैं—

तत्रोच्छ्वास आन्तरकुम्भकविरोधी, निःश्वासो बाह्यकुम्भक-विरोधी, गात्रचालनमुभयविरोधी, तस्मिन्सति निःश्वासोच्छ्वास-योरन्यतरस्यावश्यम्भावित्वात्। पतञ्जलिरप्यासनानन्तरभाविनं प्राणायामं सूत्रयामास।

उच्छ्वास आन्तर कुम्भक का विरोधी है, निःश्वास बाह्य कुम्भक का विरोधी है और शरीर का हिलाना दोनों कुम्भक का विरोधी है। क्योंकि शरीर चलायमान हो तो निःश्वास या उच्छ्वास में से एक-एक हुए विना न रहे। श्रीपतञ्जलि भगवान् ने भी आसन जय होने के पीछे अवश्य कर्तव्य प्राणायाम का निरूपण सूत्र द्वारा किया है—

"तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥"
(पा० सू० २।४९) इति।

आसन जय के अनन्तर निःश्वास और उच्छ्वास की गति का जो अवरोध होता है उसे 'प्राणायाम कहते हैं।

ननु कुम्भके गत्यभावेऽपि रेचकपूरकयोरुच्छ्वासनिःश्वासगती विद्येते इति चेन्न।

यद्यपि कुम्भक में प्राण की गति नहीं होती है। परन्तु रेचक पूरक में तो प्राण की गति है, इस लिये रेचक और पूरक को प्राणायाम नाम कैसे होगा?

अधिकमात्राभ्यासेन स्वभावसिद्धायाः समप्राणगतेर्विच्छेदात्। तमेवाभ्यासं सूत्रयति।

अधिक मात्राओं से अभ्यास करने से स्वाभाविक जो प्राण की गति है, वह न्यून वेगवाली हो जाती है। इस अभ्यास को श्रीपतञ्जलि भगवान् ने सूत्रों के द्वारा कहा है।

"स तु बाह्याऽभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥" (पा० सू० २।५०) इति।

बाह्यवृत्ति, अभ्यन्तर वृत्ति, और स्तम्भवृत्ति से तीन प्रकार के प्राणायाम हैं। यह देश, काल, और मात्रा की संख्या से दीर्घ और सूक्ष्म प्रतीत होते हैं।

रेचको बाह्यवृत्तिः। पूरक आन्तरवृत्तिः। कुम्भकः स्तम्भवृत्तिः। तत्रैकैको देशादिभिः परीक्षणीयः।

बाह्यवृत्ति प्राणायाम को रेचक, आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम को पूरक और स्तम्भवृत्ति प्राणायाम को कुम्भक कहते हैं। इनमें हर एक प्राणायाम की यथार्थ सिद्धि के लिये देश, काल और मात्रा की परीक्षा करना उचित है।

तद्यथा स्वभावसिद्धे रेचके हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसंमुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते श्वासः समाप्यते। अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा वायुर्निर्गच्छति। चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा समाप्तिः। अत्र रेचके प्रयत्नातिशये सति नाभ्यादि-

प्रदेशक्षोभेणान्तर्निश्चेतुं शक्यम्। बहिस्तु सूक्ष्मं तूलं धृत्वा तच्चालनेन निश्चेतव्यम्। सेयं देशपरीक्षा ।

वह इस प्रकार है कि मनुष्य का अभ्यास बिना स्वाभाविक रेचक होता है, उस समय प्राण वायु हृदय में से उठकर नाक के छेद से बाहर निकल कर ११ अङ्गुल पर शान्त हो जाता है। और भलि भाँति अभ्यास करने से क्रमशः नाभि से या मूलाधार से प्राण उठकर नासिका से बाहर के सामने प्रदेश में नाक से २४ अङ्गुल तक जाकर वहाँ शान्त होता है। रेचक प्राणायाम में जब अधिक प्रयत्न होता है, तब अन्तर में नाभि आदि देश के क्षोभ से उस स्थान से प्राण ऊठता है, ऐसा निश्चय होता है। और बाह्य देश में नाक से २४ अङ्गुल या ३६ अङ्गुल दूर पर नाक के सामने बारीक कपास (रुई) रक्खे और जब सांस लेने से वह हिले तो जानना चाहिए कि उस जगह पवन समाप्त होता है ऐसा निश्चय होता है और इसी को देश परीक्षा कहते हैं।

रेचककाले प्रणवस्याऽऽवृत्तयो दशविंशतित्रिंशदित्यादिकालपरीक्षा। अस्मिन्मासे प्रतिदिनं दश रेचकाः, आगामिमासे विंशतिः, उत्तरमासे त्रिंशदित्यादिकालपरीक्षाभिः संख्यापरीक्षा यथोक्तदेशकालविशिष्टाः प्राणायामा एकस्मिन्दिने दश विंशतित्रिंशदित्यादिभिः संख्यापरीक्षा। पूरकेऽप्येवं योजनीयम्। यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिविशेषो नावगम्यते तथाऽपि कालसङ्ख्याव्याप्तिरवगम्यत एव। यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मश्च भवति तथा प्राणोऽपि देशकालसङ्ख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मश्च सम्पद्यते। रेचकादिभ्यस्त्रिभ्योऽन्यं प्रकारं सूत्रयति ।

रेचक के समय प्रणव की दश आवृत्ति हो, बीस आवृत्ति हो, तीस आवृत्ति हो इत्यादि क्रम से काल की परीक्षा कर इसी प्रकार रेचक इस मास में प्रतिदिन दस हो उसके बाद दूसरे मास में प्रतिदिन बीस करे; फिर तीसरे महीने में प्रतिदिन तीस करे इत्यादि क्रम से सङ्ख्या की परीक्षा करे। पूरक में भी इसी तरह समझ लेना चाहिये। यद्यपि

कुम्भक में देशपरीक्षा नहीं बन सकती है तथापि काल परीक्षा और सत्ता परीक्षा हो सकती है; जैसे ओटी हुई रुई की गोली चरखी में कातनें से वह बहुत बारीक (जो देखनें में न आवे) और लम्बी हो जाती है। उसी तरह प्राण भी अधिक देश, अधिक संख्या के अभ्यास करने से लम्बा और बहुत ही सूक्ष्म हो जाता है। रेचक आदि त्रिविध प्राणायाम को भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र के द्वारा कहा है :—

"बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।" इति (पा.सू.२।५१)।

यथाशक्ति सर्वं वायुं विरच्यानन्तरं क्रियमाणो बहिष्कुम्भको यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरं क्रियमाणोऽन्तःकुम्भक इति रेचक-कुम्भकावनादृत्य केवलः कुम्भकोऽभ्यस्यमानः पूर्वत्रयापेक्षया चतुर्थो भवति। निद्रातन्द्रादिप्रबलदोषयुक्तानां रेचकादित्रयम्। दोषरहितानां चतुर्थ इति विवेकः। प्राणायामफलं सूत्रयति ॥

जिसमें बाह्य विषय और अभ्यन्तर विषयों का परित्याग हो वह चौथा प्राणायाम है"।

यथाशक्ति कोष्ठ के सारे वायु को नाक के छेद के रास्ते बाहर निकाल कर जो कुम्भक किया जाता है उसका नाम "बहिः कुम्भक" है। यथाशक्ति वायु को शरीर में भर कर जो कुम्भक किया जाता है, वह अन्तःकुम्भक है। इन दोनों को छोड़कर केवल जो कुम्भक का अभ्यास किया जाता है वह पूर्वोक्त तीन प्राणायाम से विलक्षण चौथा प्राणायाम है। जिस पुरुष में निन्द्रा तन्द्रा आदि दोषों की प्रबलता होती है उसको पूर्वोक्त रेचक आदि तीन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। और जिसमें वैसे दोषों का बल न हो उस पुरुष को कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम का फल महर्षि ने सूत्र में कहा है—

"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥" इति (पा. सू. २।५२)।

प्रकाशस्य सत्त्वस्याऽऽवरणं तमोनिद्रालस्यादिहेतुस्तस्य क्षयो भवति। फलान्तरं सूत्रयति।

प्राणायाम के अभ्यास से बुद्धिसत्त्व को ढाकने वाला तमोगुण जो निद्रा आलस्यादि दोषों का कारण है उसका क्षय हो जाता है।

"धारणासु च योग्यता मनसः ॥" पा.सू. २।५३ इति ।

आधारनाभिचक्रहृदयभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रादिदेशविशेषे चित्तस्य स्थापनं धारणा ।

जिससे, मन, धारणा के अभ्यास के लिये, योग्यता सम्पन्न होता है।

मूलाधार नाभि हृदय भौं का बीच ब्रह्मरन्ध्र आदि देशों में चित्त को लाकर स्थापन करने को धारणा कहते हैं ॥

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा इति सूत्रणात् श्रुतिश्च ।"

नाभि आदि स्थानों में चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा कहते हैं। श्रुति भी कहती हैं।

"मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा सङ्क्षिप्याऽऽत्मनि बुद्धिमान् ।
धारयित्वा तथाऽऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥"

प्राणायामेन रजोगुणकारिताचाञ्चल्यात्तमोगुणकारितादालस्यादेश्च निवारितं मनस्तस्यां धारणायां योग्यं भवति ।

बुद्धिमान् पुरुष सङ्कल्प विकल्प वाले मन को एकाग्र कर अपनी आत्मा में स्थापन करे और आत्मा को ही वृत्ति द्वारा धारण करने को धारणा कहते हैं।

प्राणायाम के द्वारा रजोगुण कारित चञ्चलता से और तमोगुण से हुए आलस्य आदि दोषों से निवारित मन धारणा करने में योग्यता सम्पन्न होता है।

"प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया" इत्यत्रत्येन युक्तिशब्देन योगिजनप्रसिद्धं शिरोरूपमेरुचालनम्, जिह्वाग्रेण घण्टिकाक्रमणं नाभिचक्रे ज्योतिर्ध्यानं विस्मृतिप्रदौषधसेवा चेत्येवमादिकं गृह्यते ।

इस श्लोक से युक्ति अर्थात् शिरोरूप मेरु दण्ड का चालन, जिह्वा के नोक से घण्टिका (तालु के उपर जो छोटी सी जीभ होती है) को भ्रमण अर्थात् घुमाना, नाभिचक्र में ज्योति का ध्यान देह के अभिमान को भूलाने वाली औषधियों का सेवन इत्यादि युक्तियाँ समझनी चाहिये।

तदेवमध्यात्मविद्यासाधुसङ्गमवासनाक्षयप्राणनिरोधाश्चित्त-नाशोपाया दर्शिताः।

अथ तदुपायभूतं समाधिं वक्ष्यामः :—

पञ्चभूम्युपेतस्य चित्तस्य भूमित्रयत्यागेनावशिष्टं भूमिद्वयं समाधिः।भूमयश्च योगभाष्यकृता दर्शिताः।

इस प्रकार अध्यात्मविद्या, साधुसङ्गम, वासनाक्षय और प्राणायाम ये चित्त के नाश के उपाय दिखलाये गये हैं।

अब मनोनाश के उपाय समाधि को कहेंगे।

चित्त की जो पाँच भूमिका या अवस्था है, उनमें से पहिली तीन भूमिकाओं को छोड़ कर बाकी दो भूमिकाओं को समाधि कहते हैं। चित्त की भूमिकाओं को योगाभाष्यकार श्रीव्यास जी ने दिखलाया है।

"क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः॥" इति।

चित्त की पाँच अवस्था या भूमिका होती हैं :—१ क्षिप्त, २ मूढ, ३ विक्षिप्त, ४ एकाग्र और ५ निरुद्ध है।

आसुरसम्पल्लोकशास्त्रदेहवासनासु वर्तमानं चित्तं क्षिप्तम्, निद्रातन्द्रादिग्रस्तं मूढम्, कादाचित्कध्यानयुक्तं क्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तम्। तत्र विक्षिप्तमूढयोः समाधिशङ्कैव नास्ति। विक्षिप्ते तु चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्योगपक्षे न वर्तते। विक्षे-पान्तर्गतया दहनान्तर्गतबीजवत्सद्य एव विनश्यति। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखीकरोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्या-यते। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातसमाधिः। तत्र सम्प्रज्ञातसमाधि-भूमिकामेकाग्रतां सूत्रयति—

इनमें आसुरी सम्पत्ति लोकवासना, शास्त्रवासना, और देह-वासना में प्रवृत्ति वाले पुरुष का चित्त "क्षिप्त" कहलाता हैं। निद्रा तन्द्रा आदि दोषों के अधीन बसे हुए चित्त को मूढ कहते हैं। किसी समय ध्यान युक्त चित्त क्षिप्त 'विक्षिप्त' कहलाता है। इनमें चित्त की

क्षिप्त और मूढ अवस्था में तो समाधि की शङ्का भी नहीं सम्भव होती है। विक्षिप्त अवस्था में विक्षेप अधिक और समाधि गौण होने से अग्नि में रक्खे बीज के समान तत्काल नष्ट हो जाता है। एकाग्र चित्त होने से जो समाधि सत्य वस्तु (आत्मा) को प्रकाश करती हुई क्लेशों का क्षय करती हुई कर्मरूप बन्धनों को ढीला करती है और निरोध को सम्मुख करती है, इसको सम्प्रज्ञात योग कहते हैं; वहाँ श्रीपतञ्जलि भगवान् सम्प्रज्ञात समाधि की भूमिका रूप एकाग्रता को सूत्र द्वारा कहते हैं :—

"शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम।"
(पात० सू० ३।१२) इति।

शान्तोऽतीतः। उदितो वर्त्तमानः। प्रत्ययश्चितवृत्तिः अतीतप्रत्ययो यं पदार्थं गृह्णाति तमेव चेदुदितो गृह्णीयात्तावुभौ तुल्यौ भवतः। तादृशश्चित्तस्य परिणाम एकाग्रतेत्युच्यते। एकाग्रताभिवृद्धिलक्षणं समाधिं सूत्रयति॥

चित्त की शान्त वृत्ति और उदित वृत्ति चित्त की समान वृत्ति या ज्ञान है (किन्तु एकाग्रतारूप परिणाम है) शान्त एवं उदित वृत्ति जब एक विषय को ग्रहण करे उस समय उस चित्त का एकाग्रतारूप परिणाम कहलाता है। अर्थात् प्रथम उठी हुई वृत्ति जिस पदार्थ को ग्रहण करे उसी पदार्थ को यदि वर्त्तमान वृत्ति ग्रहण करे तो वह भूतवत्ति और वर्तमानवृत्ति तुल्य विषयक गिनी जाती है। इस प्रकार के चित्त के परिणाम को एकाग्रता परिणाम कहते हैं।

एकाग्रता की अभिवृद्धिरूप समाधि को भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

"सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।"
(पा० सू० ३।११) इति।

चित्त के सर्वार्थता धर्म का तिरोभाव और एकाग्रता धर्म का आविर्भाव समाधि परिणाम कहलाता है—

रजोगुणेन चाल्यमानं चित्तं क्रमेण सर्वान् पदार्थान् गृह्णाति। तस्य रजोगुणस्य निरोधाय क्रियमाणेन योगिनः प्रयत्नविशेषेण

दिने दिने सर्वार्थता क्षीयते। एकाग्रता चोदेति तादृशश्चित्तस्य परिणामः समाधिरित्युच्यते। तस्य समाधेरष्टाङ्गेषु यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाराः पञ्च बहिरङ्गानि। तत्र यमान् सूत्रयति ॥

रजोगुण से चञ्चल हुआ चित्त क्रमशः सभी पदार्थों को ग्रहण करता है। इस रजोगुण के निरोध के लिये योगियों द्वारा किये जाने वाले प्रयत्न से प्रतिदिन सब विषयों को ग्रहण करने वाली वृत्ति क्षीण होती है और योगी की एकाग्रता का उदय होता है। इस प्रकार के चित्त परिणाम को समाधि कहते हैं। समाधि के अङ्गों में यम, नियम आसन प्राणायाम, और प्रत्याहार में ५ समाधि के बाह्य और धारणा ध्यान और समाधि अन्तरंग में परिगणित है। वहाँ यमों को सूत्र द्वारा कहते हैं—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।" पा० सू० २।३०

हिंसादिभ्यो निषिद्धधर्मेभ्यो योगिनं यमयन्ति यमाः। तत्र नियमान् सूत्रयति—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (दूसरे की वस्तु की इच्छा न करना) ब्रह्मचर्य, (उपस्थ इन्द्रिय का संयम), अपरिग्रह, (शरीर निर्वाह के के लिये आवश्यक पदार्थों के सिवा अधिक पदार्थों की अपेक्षा न रखनी, ये पाँच यम हैं।

हिंसादि निषिद्ध कर्मों से योगी को रोकता है इसलिये इसको यम कहते हैं। इन नियमों को कहने वाले ये सूत्र हैं:—

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" पात० सू० २।३२ इति।

जन्महेतोः काम्यधर्मान्निवर्त्य मोक्षहेतौ निष्कामधर्मे नियमवन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः।

यमनियमयोरनुष्ठानवैलक्षण्यं स्मर्यतेः—

पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, (प्रणवादि जप तथा अध्यात्मशास्त्र का पढ़ना) और ईश्वर भक्ति—ये नियम हैं।

जन्म देने वाले काम्य कर्मों से रोक कर योगी की निष्काम कर्म

में प्रेरणा करते हैं इस लिये शौच आदि नियम कहलाते हैं। यम तथा नियमों के अनुष्ठान में तारतम्य स्मृति से दिखलाते हैं।

"यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान् भजन्॥"

बुद्धिमान् मनुष्य निरन्तर यमों का सेवन करें, सदा नियमों के सेवन की यम के समान अपेक्षा नहीं है, क्योंकि यमों की न सेवन कर केवल नियमों का ही जो सेवन करता हैं उस (योगी) का योगमार्ग से पतन होता है।

"पतति नियमवान्यमेष्वसक्तो न तु यमवान्नियमालसोऽवसीदेत्।
इति यमनियमौ समीक्ष्य बुद्ध्या यमबहुलेष्वनुसन्दधीत बुद्धिम्॥"
इति।

यमनियमफलानि सूत्रयति—

यम की आसक्ति (प्रीति) को त्याग कर केवल नियम का ही सेवन करने वाला योगमार्ग से भ्रष्ट होता है और जो यथाविधि यमों का सेवन करता है पर नियमों का सेवन करने में प्रमाद युक्त होता है वह दुःखित नहीं होता है अर्थात् योगमार्ग से पतित नहीं होता हैं। इस प्रकार यम और नियमों को बुद्धि से विचार कर विशेषतः यमों के पालन में वृत्ति को लगावे।

यम और नियमों के फल को भगवान् पतञ्जलि ने सूत्र के द्वारा कहा है :—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" (पात. सू. २।३५) "क्रियाफलाश्रयत्वम्" सर्वरत्नोपस्थानं" "वीर्यलाभः" "शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः" पा. सू. २।४० सत्त्वशुद्धि-सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च" पा. सू. २।४१ संभवति। "सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः पा. सू. २।४२। कायेन्द्रियशुद्धिक्षयात्तपसः। स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः। "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।" पा. सू. २।४५ इति।

आसनप्राणायामौ व्याख्यातौ। प्रत्याहारं सूत्रयति।

अहिंसा की भावना दृढ़ होने से उस अहिंसक योगी के समीप बसनेवाले सर्प, नेउल, मूस, मार्जार आदि परस्पर विरोधी प्राणियों का भी वैरभाव छूट जाता है। सत्य की सिद्धि होने से वाणी द्वारा अन्य की क्रिया तथा उसके फल देने का सामर्थ्य आता है। अस्तेय को सिद्धि से योगी की इच्छा न होने पर भी सभी रत्नों की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य की सिद्धि होने से विरति शम सामर्थ्य या जनन आदि के भय का अभाव रूप लाभ होता है। अपरिग्रह वृत्ति के स्थिर होने से योगी, भूत, भविष्य और वर्तमान जन्म के वृत्तान्त को कह सकता है। बाह्य शौच के अभ्यास से अपने शरीर में ग्लानि उत्पन्न होती है और अन्य से संसर्ग की इच्छा नहीं होती हैं। अन्तः शौच से सत्त्वशुद्धि, मन की प्रसन्नता, उसकी एकाग्रता, इन्द्रिय की जय आत्मदर्शन की योग्यता होती है। सन्तोष से सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है। तप से अशुद्धि का क्षय होने से अणिमा आदि कार्यसिद्धि तथा दूर का सुनना, दूर का देखना आदि इन्द्रिय सिद्धियाँ होती हैं। इष्ट मन्त्रादि का जप रूप स्वाध्याय से इष्ट देवता का दर्शन और उसके साथ भाषण आदि हो सकता है। सब कर्मों को ईश्वर के नाम से अर्पण करना रूप भक्ति से समाधि की सिद्धि होती है।

आसन और प्राणायाम इन दोनों अङ्गों का निरूपण पहिले किया गया है, प्रत्याहार का निरूपण अगले सूत्र से किया जाता है।

"स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" पात० सू० २।५४ इति।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयास्तेभ्योनिवर्तिताः श्रोत्रादयश्चित्तस्वरूपमनुकुर्वन्तीव व्यवतिष्ठन्ते। श्रुतिश्च भवति।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पाँच विषयों से विमुख होकर श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती हैं ऐसी प्रतीति होती हैं, इसको प्रत्याहार कहते हैं। श्रुति में भी लिखा है।

"शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते॥"

शब्दादयो विषया येषां श्रोत्रादीनां ते श्रोत्रादयः पञ्च मनःषष्ठानामेतेषामनात्मरूपेभ्यः शब्दादिभ्यो निवर्तनमात्मरश्मि-

त्वेन चिन्तनं प्रत्याहारः स इत्यर्थः । प्रत्याहारफलं सूत्रयति ।

शब्दादि पाँच जिनके विषय हैं, ऐसे श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों को तथा चपल मन को अपने विषयों से रोक कर उनको आत्मा के किरण रूप से चिन्तन करने को प्रत्याहार कहते हैं।

प्रत्याहार का फल सूत्र से कहते हैं—

"ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।" पा.सू.२।५५ इति ।

धारणाध्यानसमाधींस्त्रिभिः सूत्रयति ।

प्रत्याहार से इन्द्रियाँ अत्यन्त वशीभूत हो जाती हैं। धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों को सूत्रों से कहते हैं।

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।" पात. सू. ३।१ "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।"

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।" पा. सू. ३।३ इति ।

आधारादिदेशाः पूर्वमुक्ताः । देशान्तरं श्रूयते ।

चित्त को मूलाधार आदि देश विशेष में स्थिर कर रखने का नाम धारणा है। वृत्ति का एक ही तत्त्व में प्रवाह का नाम ध्यान है। यह ध्यान जिस समय ध्येयाकार होकर स्वरूप रहित के समान हो जाता है उसको समाधि कहते हैं।

धारणा आदि का मध्य नालिकाग्र मूलाधार आदि बाह्य और आभ्यन्तर देशों का निरूपण पहिले ही किया गया है। उस विषय में अन्य देशों का कथन श्रुति कहती है।

"मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान् ।
धारयित्वा तथाऽऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥"

यत्सर्ववस्तुसंकल्पकं मनः तदात्मानमेव संकल्पयतु न त्वन्यदित्येवं विधः प्रयत्न आत्मनि संक्षेपः। प्रत्ययस्यैकतानता तत्त्वैकविषयः प्रवाहः । स च द्विविधः विच्छिद्य विच्छिद्य जायमानः सन्ततेश्चेति । तावुभौ क्रमेण ध्यानसमाधी भवतः । तदुभयं सर्वानुभवयोगिना दाशतम् ।

सभी वस्तुओं में संकल्प करने वाले मन से केबल आत्मा का ही चिन्तन करे, अन्य विषय का चिन्तन न करे; ऐसे दृढ विचार से मन को अन्य विषय से अलग रखने वाला बुद्धिमान् पुरुष जिस मन को बार-बार आत्मा में ही लगाने के लिये यत्न करता है उसको धारणा कहते है।

चित्त का तत्त्वविषयक प्रवाह दो प्रकार का है। एक तो मध्य में विजातीय वृत्ति से किसी-किसी समय विच्छेद को प्राप्य होता है। दूसरा अविच्छिन्न-प्रवाह को ध्यान कहते और अविच्छिन्न या सतत प्रवाह को समाधि कहते हैं। इस ध्यान और समाधि दोनों का निरूपण सर्वानुभव योगी ने किया है—

"चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते।
तत्साधनमतो ध्यानं यथावदुपदिश्यते॥
विलाप्य विकृतिं कृत्स्नां सम्भवव्यत्ययक्रमात्।
यरिशिष्टं च सन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तयेत्॥
ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥" इति।

तं च भगवत्पादा उदाजह्रुः—

पूर्वोक्त ज्ञान, चित्त की एकाग्रता से प्राप्त होता है इसलिये एकाग्रता का साधनभूत ध्यान का यथाविधि उपदेश किया जाता है। देहादि कार्य प्रपञ्च जिस क्रम से उत्पन्न हुआ है उससे उलटे क्रम से कार्य का कारण में लय करने से शेष रहे सत् चित् और आनन्द स्वरूप आत्मा का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है और अहङ्कार से रहित ब्रह्माकार हुई मनोवृत्ति के प्रवाह को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह समाधि कहते हैं। यह समाधि ध्यान के अभ्यास के परिपाक से सिद्ध होती है।

इस समाधि का स्वरूप भगवान् शङ्कराचार्य्य ने उपदेश-साहस्री में इस प्रकार कहा हैं—

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं-विमुक्त ओम्॥

दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको न मेऽस्ति कश्चिद्विषयः स्वभावतः।
पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्च सर्वतः सम्पूर्णभूमा त्वज आत्मनि स्थितः॥
अजोऽमरश्चैव तथाऽजरोऽमृतः स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽहमद्वयः।
न कारणं कार्यमतीव निर्मलः सदैव तृप्तश्च ततो विमुक्त ओम्" इति।

जो चैतन्य स्वरूप, आकाश के समान सर्वव्यापक है, सबसे श्रेष्ठ है, सदा प्रकाश स्वरूप है, जन्म मरण रहित है, एक है, अक्षर है, निर्लेप है, सर्वगत और भेद रहित है, उस सदा मुक्त ॐकार का लक्ष्यार्थ रूप मैं हूँ। मैं विकार रहित शुद्ध चैतन्य हूँ, वस्तुतः कोई भी मेरा विषय नहीं है, क्योंकि मुक्त से अतिरिक्त अन्य पदार्थ हो नहीं, आगे, पीछे, ऊपर नीचे, सर्वत्र मैं पूर्ण व्यापक हूँ और अजन्मा मैं अपने स्वरूप में ही स्थित हूँ, मैं जन्म रहित हूँ, अक्षर और अमृत हूँ, स्वयं प्रकाश, सर्वगत और द्वैतभाव रहित हूँ, कारण और कार्य ये दोनों मुझमें नहीं हैं; मैं अत्यन्त निर्मल हूँ, मैं नित्यतृप्त, व्यापक और मुक्त हूँ।

ननु सम्प्रज्ञातसमाधिरङ्गी स कथं ध्यानानन्तरभाविनोऽष्टमाङ्गस्य समाधेः स्थान उदाह्रियते।

शङ्का—यदि सम्प्रज्ञात समाधि को अङ्गी मानते हो तो, उसको योग के ८ अङ्गों में से सातवाँ अङ्ग ध्यान के बाद आठवें अङ्ग के स्थान में क्यों गिनते हो?

नायं दोषः। अत्यन्तभेदाभावात्। यथा वेदमधीयानो माणवकः पदे पदे स्खलन्पुनः समादधाति। अधीतवेदः सावधानो न स्खलति। अध्यापको निरवधानस्तन्द्रीं कुर्वन्नपि न स्खलति तथा विषयैक्येऽपि परिपाकतारतम्येन ध्यानसमाधिसंप्रज्ञातानामवान्तरभेदोऽवगन्तव्यः। धारणादित्रयं मनोविषयत्वात्संप्रज्ञातेऽन्तरङ्गम्। यमादिपञ्चकं तु बहिरङ्गम्। तदेतत्सूत्रयति—

समाधान—ध्यान और समाधि में अत्यन्त भेद नहीं हैं, इसलिए इस प्रकार गणना की है। जैसे वेद पढ़ने वाले विद्यार्थी पद २ में भूलता २ पुनः उसको सुधारता जाता है, जैसे वेदज्ञ पुरुष सावधानी से पढ़ते हैं, और भूल नहीं करते हैं और जैसे वेद पढ़ाने वाले कदाचित् प्रमाद करे

-या अर्धनिद्रा में हों तब भी वेदाध्ययन में भूल नहीं करते हैं। उसी तरह ध्यान सम्प्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि का विषय एक होने पर भी परिपाक में तारतम्य के कारण उनका परस्पर भेद समझना चाहिये। यम नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये समाधि के बहिरङ्ग (बाहरी) साधन हैं बाकी तीन अन्तरङ्ग (भीतरी) साधन हैं। उसको सूत्र से कहते हैं—

"त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः" पा. सू. ३।६ इति ।

ततः केनापि पुण्येनान्तरङ्गे प्रथमे लब्धे बहिरङ्गलाभाय नातिप्रयासः कर्त्तव्यः। यद्यपि पतञ्जलिना भौतिकभूततन्मात्रेन्द्रियाहङ्कारादिविषयाः संप्रज्ञातसविकल्पसमाधयो बहुधा प्रपञ्चितास्तथाऽपि तेषामन्तर्धानादिसिद्धिहेतुतया मुक्तिहेतुसमाधिविरोधित्वान्नास्माभिस्तत्राऽऽदरः क्रियते। तथा च सूत्रितम्।

पूर्वअङ्गों में से तीन अन्तरङ्ग हैं, इसलिये किसी पुण्य के योग से प्राप्त हुए गुरुप्रसाद से प्रथम अन्तरङ्ग साधन प्राप्त हो तो पीछे के बहिरङ्ग साधन के लिये अतिशय प्रयास करने का प्रयोजन नहीं रहता है। यद्यपि पाँच भूतों का कार्य स्थूल पाँच भूत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये ५ तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ और अहङ्कारादि जिसके विषय हैं, ऐसे अनेक प्रकार के सविकल्प सम्प्रज्ञात समाधियों का पतञ्जलि मुनि ने विस्तारपूर्वक निरूपण किया हैं। परन्तु वे समाधियाँ अन्तर्धान आदि सिद्धियों का कारण रूप होने से, मुक्ति के कारण रूप समाधि में विरोधी हैं। अत एव हम वैसे समाधि के निरूपण का आदर नहीं करते हैं। भगवान् पतञ्जलि भी कहते हैं—

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" पा.सू. ३।८ इति।

"स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्" इति च॥

स्थानिनो देवाः। उद्दालको देवैरामन्त्रितोऽप्यवज्ञाय देवान्निर्विकल्पसमाधिमेव चकारेत्युपाख्यायते। प्रश्नोत्तराभ्यामप्येवमेवावगम्यते—

दिव्य शब्द दिव्य गन्ध इत्यादि ज्ञानरूप पूर्वोक्त सिद्धियाँ समाधि में विघ्नरूप हैं और व्युत्थान काल में वे सिद्धिरूप हैं। देवताओं की प्रार्थना में आसक्ति तथा आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे फिर अनिष्ट का प्रसङ्ग हो जाता है। श्री उद्दालक मुनि को इन्द्र आदि देवताओं ने स्वर्ग में आने के लिये आमन्त्रण किया और उद्दालक जी ने देवताओं की अवज्ञा कर निर्विकल्प समाधि को किया ऐसी कथा योग वासिष्ठ में है। श्री रामचन्द्र और वसिष्ठ के प्रश्नोत्तर से भी यही समझा जाता है।

श्रीरामः—

"जीवन्मुक्तशरीराणां कथमात्मविदांवर !।
शक्तयो नेह दृश्यन्त आकाशगमनादिकाः ॥"

वसिष्ठः—

श्री रामचन्द्र जी प्रश्न करते हैं कि—

हे आत्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ? (वसिष्ठ) जीवित ही जिसने अपने शरीर के अभिमान का त्याग किया है अर्थात् जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी पुरुषों की आकाश से जाने इत्यादि सिद्धियाँ क्यों नहीं देखने में आती हैं। इस पर वसिष्ठ जी ने कहा—

"अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
अणिमाद्यष्टसिद्धीनां सिद्धिजालानि वाञ्छति ॥

"द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्त्याऽऽप्नोत्येव राघव !।
नाऽऽत्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक् ॥

आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तो नाविद्यामनुधावति ।
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान्विदुः ॥

कथं तेषु किलाऽऽत्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ।
द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्तयः साधु सिद्धिदाः ॥

परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ।
सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ॥

स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते ।
"न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यपि ॥" इति ।
"नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव ॥" इति ।
"अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णे चेन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥
चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।
इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम् ॥"
"यस्तु वा भावितात्माऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात् ॥" इति ।

आत्मज्ञान रहित पुरुष मुक्त न होने पर भी आकाश में विहार करना आदि की और अणिमा आदि आठ सिद्धियों के सिद्धिजाल की इच्छा करता है। मणि, औषध आदि प्रत्येक की शक्ति से, मन्त्र के सामर्थ्य से योगाभ्यास आदि क्रियाशक्ति से और उसके परिपाक के हेतु रूप काल के बल से पुरुष आकाश में विहार करना इत्यादि सिद्धियों को, हे रामचन्द्र जी ! प्राप्त करता है, परन्तु सिद्धियों को प्राप्त करना आत्मज्ञानी का विषय नहो है। केवल आत्मा का ही साक्षात्कार करने वाला आत्मज्ञानी कहा जाता है। जो स्वयं अपनी आत्मा में ही तृप्त रहता है, वह अविद्या के कार्यों के पीछे नहीं दौड़ता है। तत्त्ववेत् पुरुष, जगत् के जितने पदार्थ हैं उनको अविद्या का कार्य समझता है। अत एव आत्मज्ञ पुरुष या जिसने अविद्या का त्याग किया है, वह जगत् के पदार्थों में आसक्ति क्यों रखेगा अर्थात् नहीं रखता है।

द्रव्यशक्ति, मन्त्रशक्ति, क्रियाशक्ति और कालशक्ति, ये सब पूरी तरह सिद्धि देनेवाली है, परन्तु ये शक्तियाँ परमपद की प्राप्ति में किसी प्रकार की सहायता करने वाली नहीं हैं। सब इच्छा शान्त हो जाने से जो आत्मलाभ होता है, वह लाभ सिद्धिजाल में फँसे पुरुष को कैसे मिल सकता है? अर्थात् नहीं मिल सकता है। जैसे नगर में बसनेवाली स्त्री का वल्लभ नगरवासी पुरुष को कुग्राम में बसने वाली स्त्रियाँ प्रसन्न नहीं कर सकती हैं, उसी प्रकार जगत् का कोई भी पदार्थ तत्त्वज्ञानी महात्मा को खुश नहीं कर सकता है। कदाचित् सूर्य नारायण शीतल

किरण वाला हो जाय चन्द्रमा का मण्डल अति उष्ण हो जाय और अग्नि की ज्वाला ऊँची गति बन्द होकर नीची हो जाय तब भी जीवन्मुक्त पुरुष विस्मयान्वित नहीं होता है। परमात्मा की अनेक शक्तियाँ इस प्रकार स्फुरित होतीं हैं, ऐसा जानकर उसको आश्चर्य कारक पदार्थों में कौतुक नहीं होता है। जिन सिद्धियों की वाञ्छा रखने वाला पुरुष सिद्धियों की इच्छा करता है वह सिद्धि को देनेवाले द्रव्यों से क्रमशः सिद्धियाँ सम्पादन करता है।

आत्मविषयस्तु सम्प्रज्ञातसमाधिर्वासनाक्षयस्य निरोध-समाधेश्च हेतुस्तस्मात्तत्राऽऽदरः कृतोऽस्माभिः ॥

अथ पञ्चभूमिरूपो निरोधसमाधिर्निरूप्यते।

तं च निरोधं सूत्रयति—

आत्मविषयक संप्रज्ञात समाधि, वासनाक्षय और निरोध समाधि का हेतु है, अतएव इस समाधि का यहाँ हमने आदर किया है। अब पञ्चम भूमिकारूप निरोध समाधि का निरूपण किया जा रहा है। इस समाधि को पतञ्जलि मुनि ने सूत्र से कहा है।

"व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः" पा. सू. ३।९ इति। व्युत्थान-संस्काराः समाधिविरोधिनस्ते चोद्दालकस्य समाधावुदाहृताः ॥

'चित्त के व्युत्थान संस्कार का तिरोभाव और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होता है तथा चित्त उत्तरोत्तर क्षण में निरोध की ओर ही बढ़ता है इस प्रकार के चित्त के परिणाम को निरोध परिणाम को निरोध परिणाम कहते हैं। चित्त का व्युत्थान संस्कार समाधि में विरोधी होता है, उसको उद्दालक की समाधि में योगवासिष्ठ में दिखलाया है।

"कदाऽहं त्यक्तमनने पदे परमपावने।
चिरं विश्रान्तिमेष्यामि मेरुशृङ्ग इवाम्बुदः ॥
इति चिन्तापरवशो बलादुद्दालको द्विजः।
पुनः पुनस्तूपविश्य ध्यानाभ्यासं चकार ह ॥

विषयैर्नीयमाने तु चित्ते मर्कटचञ्चले ।
न स लेभे समाधानप्रतिष्ठां प्रीतिदायिनीम् ॥
कदाचिद्बाह्यसंस्पर्शपरित्यागादनन्तरम् ।
तस्यागच्छच्चित्तकपिरान्तरस्पर्शसञ्चयात् ॥
कदाचिदान्तरस्पर्शाद्बाह्यं विषयमाददे ।
तस्योड्डीय मनो याति कदाचित्त्रस्तपक्षिवत् ॥
कदाचिदुदिताकार्भं तेजः पश्यति विस्तृतम् ।
कदाचित्केवलं व्योम कदाचिन्निविडं तमः ॥
आगच्छता यथा कामं प्रतिभासान्पुनः पुनः ।
अच्छिन्नमनसा शूरः खड्गेनेव रणे रिपून् ॥
विकल्पौघे समालूने सोऽपश्यद्धृदयाम्बरे ।
तमश्छन्नविवेकार्कं लोलं कज्जलमेचकम् ॥
तमप्युत्सादयामास सम्यग्ज्ञानविवस्वता ।
तमस्युपरते स्वान्ते तेजःपुञ्जं ददर्श सः ॥
तल्लुलाव स्थलाब्जानां वनं बाल इव द्विपः ।
तेजस्युपरते तस्य घूर्णमानं मनो मुनेः ॥
निशाब्जवदगान्निद्रां तामप्याशु लुलाव सः ।
निद्राव्यपगमे तस्य व्योम-संवित्समुच्चयौ ॥
व्योमसंविदि नष्टायां मूढं तस्याभवन्मनः ।
मोहमप्येष मनसस्तं ममार्ज महाशयः ॥
तमस्तेजस्तमोनिद्रामोहादिपरिवर्जिताम् ।
कामप्यवस्थामासाद्य विशश्राम मनः क्षणम् ॥" इति ।

सङ्कल्प-विकल्प रहित परम पावन श्री परमात्मा के स्वरूप में ही जैसे सुमेरु पर्वत की चोटी पर मेघ स्थिर रहता है, उसी प्रकार मैं कब तक विश्रान्ति पाऊँगा ? ऐसी चिन्ता के वश में होकर उद्दालक नामक ब्राह्मण बारंबार बलात्कार से ध्यान का अभ्यास करते थे, बन्दर के समान चञ्चल चित्त को जब विषयों ने आकर्षण किया, तब

उनको सुख जनक समाधि में स्थिरता प्राप्त न हुई। किसी समय उनका चित्त रूप बन्दर बाह्य विषयों के सङ्ग को छोड़कर आन्तर विषयों में जाता था; उसी प्रकार कभी आन्तर विषयों को छोड़कर उनका मन बाह्य विषयों में जाता था, जैसे भयभीत चिड़ियाँ एक पेड़ पर से दूसरे पेड़ पर, उस पर से तीसरे पर, इसी प्रकार भटकती हैं, उसी प्रकार उनका मन एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय में उससे तीसरे विषय में भटका करता था। वह ब्राह्मण ध्यान कर अभ्यास करते समय अपने भीतर उदय को प्राप्त हुए सूर्य के समान विस्तार वाले तेज को अनुभव करते, कभी केवल आकाश को देखते, कभी गाढ अन्धकार को देखते, जैसे शूर वीर पुरुष युद्ध में तलवार से शत्रुओं को काटता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार उद्दालक मुनि अन्तर में क्रमशः जो-जो आभास प्रकट होता, उनको मन से लय करते जाते हैं। जब अनेक विकल्पों का शमन किया तब उन्होंने विवेक रूप सूर्य को ढाकने वाले काजल के समान अन्धकार को अपने भीतर देखा। उसको भी यथार्थ ज्ञान रूप सूर्य से शान्त किया, तब अन्धकार के दूर होने पर वह अपने भीतर में तेज का ढेर देखने लगे। उसको भी स्थल के कमल वन को जैसे बच्चा हाथी काट डालता है वैसे ही वृत्ति द्वारा छेद डाले, तब तेज के उपराम होने पर रात में जैसे कमल निद्रा के वश में होता है वैसे उनका मन निद्रा के वश में हुआ अर्थात् उसको भी शीघ्र उड़ा दिया। उसके बाद उनके अन्तर में आकाश का भान हुआ। वह भी नष्ट हुआ, तब उनका मन मोहयुक्त हुआ। उस मोह को भी उस महाशय ने दूर किया अर्थात् इस मुनि के मन ने, तेज, तम, निद्रा और मोह आदि के वश में न होकर किसी अनिर्वचनीय अवस्था को पाकर क्षणभर विश्रान्त पाया।

त एते व्युत्थानसंस्कारा निरोधहेतुना योगिप्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं चाभिभूयन्ते तद्विरोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति तथा सति निरोध एकैकस्मिन्क्षणे चित्तमनुगच्छति। सोऽयमीदृशश्चित्तस्य निरोधपरिणामो भवति।

ये सब व्युत्थान संस्कार दिन-दिन और क्षण-क्षण निरोध के कारणरूप योगी के प्रयत्न से तिरोभाव को प्राप्त होते हैं और निरोध-संस्कार प्रकट होते हैं। इस प्रकार क्षण-क्षण में चित्त निरोध

के अनुकूल होता जाता है। इस प्रकार के चित्त परिणाम को निरोध-परिणाम कहते हैं।

ननु—"प्रतिक्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः" इति न्यायेन चित्तस्य सर्वदा परिणामप्रवाहो वक्तव्यः। बाढम्।

शङ्का—'एक चैतन्य को छोड़ कर बाकी सब पदार्थ क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होते हैं। इस भाँति चित्त का सदा परिणामरूप प्रवाह चला करता ऐसा कहना है, चाहिये उसका निरोध सम्भव नहीं है—

तत्र व्युत्थितचित्तस्य वृत्तिप्रवाहः स्फुटः। निरुद्धचित्तस्य तु कथमित्याशङ्क्योत्तरं सूत्रयति—

समाधान—जाग्रत् अवस्था में तो चित्त का वृत्तिरूप परिणाम स्फुट है। निरुद्ध चित्त का परिणाम किस प्रकार होता है? इस शङ्का को दूर करने के लिये पतञ्जलि मुनि सूत्र द्वारा कहते हैं—

"तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥" पा.सू. ३।१० इति।

यथा समिदाज्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्वलति। समिदादिक्षयप्रथमक्षणे किञ्चिच्छाम्यति। उत्तरोत्तरक्षणे शान्तिर्वर्धते, तथा निरुद्धचित्तस्योत्तरोत्तराधिकः प्रशमः प्रवहति। तत्र पूर्वपूर्वप्रथमजनितः संस्कार एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणम्। तामेतां प्रशान्तवाहितां भगवान् विस्पष्टमुदाजहार ॥

जैसे अग्नि में समिध, घी आदि के डालने से वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है और समिध आदि जल जाती है तब प्रथम क्षण में ज्वाला कुछ शान्त होती हैं, दूसरे क्षण में उससे अधिक शान्त होती, उत्तरोत्तर क्षण में अधिक शान्त होती जाती हैं, इसी प्रकार निरोध प्राप्त चित्त का उत्तरोतर अधिक-अधिक शान्ति का प्रवाह बढ़ता है। पूर्व-पूर्व की शान्ति से उपजे हुए संस्कार ही उत्तरोत्तर शान्ति में कारण रूप हैं। इस प्रकार की चित्त की प्रशान्तवाहिता को भगवान् कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है।

"यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ।
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥" इति ।

निरोधसमाधेः साधनं सूत्रयति—

जब संयम को प्राप्त कर चित्त अपनी आत्मा में ही स्थिर और सम्पूर्ण कामनाओं से निवृत्त हो जाता है; तब वह पुरुष (योगी) कहा जाता है। जैसे निर्वात स्थान में रखा हुआ दीप निश्चल रहता है। वैसे ही अपने चित्त को सावधान कर आत्मयोग करता हुआ योगी निश्चल होता है। जिस अवस्था में योगाभ्यास के द्वारा रोका हुआ चित्त उपरम को प्राप्त करता है और जहाँ शुद्ध अन्तःकरण से आत्मा (ज्योतिः स्वरूप) को देख कर आत्मा सन्तोष को प्राप्त करता है। जिस दशा में इन्द्रियों के विषय में नहीं आने योग्य, केवल बुद्धि ही से जानने के योग्य अनन्त आनन्द को प्राप्त करे और जहाँ पर स्थित होकर मनुष्य अपने स्वरूप से च्युत नहीं हो जिस लाभ को पाकर उससे अधिक दूसरे लाभ को न माने और जिसमें स्थिर हो अत्यन्त बड़े दुःख से भी दोलायमान न हो। उस दुःख के संयोग और वियोग से रहित अवस्था को योग समझे। खेदरहित चित्त के द्वारा निश्चय के साथ भोग करना चाहिए।

निरोध समाधि के साधन को बतानेवाला सूत्र—

"विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥" पा.सू. ३।११ इति ।

विरामो वृत्त्युपरमस्तस्य प्रत्ययः कारणं वृत्त्युपरमार्थः पुरुषप्रयत्नस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन सम्पादनं तत्पूर्वकस्तज्जन्यो-

ऽनन्तरातीतसूत्रे संप्रज्ञातसमाधेरुक्तत्वात्तदपेक्षयाऽन्योऽसंप्रज्ञात-समाधिः, तत्र वृत्तिरहितस्य चित्तस्वरूपस्य दुर्लक्ष्यत्वात्संस्कार-रूपेण चित्तं शिष्यते। विरामप्रत्ययजन्यत्वं भगवान् विस्पष्टमाह—

इसके बाद पूर्व सूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि के कहे जाने से उससे भिन्न असम्प्रज्ञात समाधि है। इस असम्प्रज्ञात समाधि में वृत्तिरहित चित्त स्वरूप के दुर्लक्ष्य होने से संस्कार रूप से चित्त रह जाता है। चित्त के उपराम ज्ञान जन्यत्व को भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है—

"सङ्कल्पप्रभवान्कामाँस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥" इति ।

सङ्कल्प से उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं को छोड़कर और मन ही से सम्पूर्ण इन्द्रियों को चारों ओर से रोक कर धैर्य के द्वारा बुद्धि को स्वाधीन कर, धीरे-धीरे विषयों से उपराम को प्राप्त करे और भलीभाँति मन को आत्मा में निश्चल करे, किसी पदार्थ की चिन्ता न करे। स्वभाव ही से चपल अत: अस्थिर मन को जिधर-जिधर दौड़ता फिरे वहाँ-वहाँ से उसे रोककर अपनी आत्मा में स्थिर करे।

काम्यमानाः स्रक्चन्दनवनितापुत्रमित्रगृहक्षेत्रादयो मोक्ष-शास्त्रकुशलविवेकिजनप्रसिद्धैर्बहुभिर्दोषैरुपेता अप्यनाद्यविद्यावशात् दोषानाच्छाद्य तेषु विषयेषु सम्यक्त्वं कल्पयन्ति। तस्माच्च सङ्कल्पादिदं मे स्यादित्येवंरूपाः कामाः प्रभवन्ति। तथा च स्मर्यते—

इच्छा का विषय पुष्पमाला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, मित्र, घर, क्षेत्र आदि पदार्थ हैं, ये मोक्ष शास्त्र में प्रवीण विवेकी पुरुषों से स्पष्ट अनुभव किये हुए अनेक दोषों से युक्त हैं। फिर भी अज्ञानी लोग

अपनी अविद्या के कारण उन दोषों को नहीं देखते हैं, अत एव उन में श्रेष्ठता की कल्पना करते हैं। श्रेष्ठता मानने से, यह पदार्थ मुझको प्राप्त हो तो ठीक है इस प्रकार उनकी प्रत्येक विषय में अभिलाषा हुआ करती है, स्मृति में भी कहा है—

"सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
काम! जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे॥ इति।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलस्त्वं विनक्ष्यसि॥" इति।

काम का मूल सङ्कल्प है, यज्ञ भी सङ्कल्प से ही उत्पन्न हुए हैं, हे काम! तेरा मूल जानता हूँ कि तू सङ्कल्प से उत्पन्न हुआ है अत एव तुमको सङ्कल्प सम्पन्न ही न करूँगा तब तू समूल नाशको प्राप्त करेगा।

तत्र विवेकेन विषयदोषेषु साक्षात्कृतेषु शुना वान्ते पायस इव कामास्त्यज्यन्ते। स्रक्चन्दनवनितादिष्विव ब्रह्मलोकादिष्वणिमाद्यष्टैश्वर्येषु च कामास्त्याज्या इत्यभिप्रेत्य सर्वानित्युक्तम्। मासोपवासव्रतिना तस्मिन्मासेऽन्ने त्यक्तेऽपि कामः पुनः पुनरुदेति तद्वन्मा भूदित्यशेषत इत्युक्तम्। कामत्यागे मनःपूर्वकप्रवृत्त्यभावेऽपि चक्षुरादीनां रूपादिषु स्वभावसिद्धा प्रवृत्तिः साऽपि प्रयत्नयुक्तेन मनसैव नियन्तव्या। देवतादर्शनादिष्वप्यननुसरणाय समन्तत इत्युक्तम्। भूमिकाजयक्रमेणोपरमस्य विवक्षितत्वाच्छनैः शनैरित्युक्तम्। ताश्च भूमिकाश्चतस्रः कठवल्लीषु श्रूयन्ते—

इन पूर्वोक्त पुष्पमाला आदि विषयों में विवेक द्वारा दोष दिखलाने पर जैसे कुत्ते के वमन किए पायसान्न (दूध का पका) पर रुचि उत्पन्न नहीं होती है, उसी प्रकार उन विषयों में भी इच्छा नहीं होती है। जैसे इस लोक के विषय की इच्छा का त्याग करना है, उसी प्रकार ब्रह्म लोक और अणिमा आदि आत्मा के ऐश्वर्यों की भी इच्छा का त्याग आवश्यक है, अत एव ऊपर के श्लोक में 'सर्वान्' (सारे) ऐसा पद कहा है। एक मास पर्यन्त जिसने उपवास रहने का व्रत

धारण किया हैं, उसको मास में अन्न का त्याग करना पड़ता है, तथापि अन्न के लिये बार-बार अभिलाषा हुआ करती है, इसलिये 'अशेषतः' (अर्थात् 'कुछ बाकी न रहे इस भाँति') ऐसा पद कहा है। काम का त्याग करने से मन में प्रवृत्ति नहीं होती है, तथापि जो चक्षु आदि इन्द्रियों की अपने-अपने रूप आदि विषयों में स्वभावतः प्रवृत्ति होती है, उसको भी प्रयत्न युक्त मन के द्वारा रोके। देव दर्शन के लिये प्रवृत्ति का निषेध करने के लिए 'समन्ततः' (हर तरह से) यह पद दिया है। पहले प्रथम भूमिका का जय करे फिर दूसरी भूमिका का जप करे, तब तीसरी का, इसी भाँति उत्तरोत्तर क्रम से भूमिका के जय पूर्वक चित्त को उपराम दे, इस अभिप्राय से 'शनैः शनैः' (धीरे-धीरे) यह पद पढ़ा है। भूमिका चार हैं। इनका निरूपण कठवल्ली उपनिषद् में किया है।

"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥" इति।

वाणी का मन में लय करे और उस मन को ज्ञानात्मा विशेष अहङ्कार में लय करे, उसका भी महान् आत्मा सामान्य अहङ्कार में लय कर और सामान्य अहङ्कार को शान्त आत्मा निरूपाधि शुद्ध चैतन्य में लय करे।

वाग्व्यापारो द्विविधः—लौकिको वैदिकश्च, जल्पादिरूपो लौकिको जपादिरूपो वैदिकः। तत्र लौकिकस्य बहुविक्षेपकरत्वाद् व्युत्थानकालेऽपि योगी तं परित्यजेत्। अत एव स्मर्यते—

वाणी का व्यवहार दो प्रकार का होता है, एक वैदिक दूसरा लौकिक। उनमें जो बोलना है वह लोकिक वाग्व्यवहार है और प्रणव आदि मन्त्रों का जप करना वैदिक वाग्व्यवहार है। इन दोनों में जो लौकिकवाणी व्यवहार है वह चित्त को बहुत ही विक्षेप में डालने वाला होने से योगाभ्यासी पुरुष को व्युत्थान (समाधि से उठने पर) काल में भी उसे अवश्य त्यागना चाहिये। अत एव स्मृति भी कहती है—

"मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनः॥" इति।

मौन, योग के अनुकूल आसन, योग, तितिक्षा, एकान्तसेवन, किसी वस्तु की इच्छा न रहना, समदृष्टि ये सात एकदण्ड धारी सन्यासी के लक्षण हैं।

जपादिकं निरोधसमाधौ परित्यजेत्। सेयं वाग्भूमिः प्रथमा, तां भूमिं प्रयत्नमात्रेण कतिपयैर्दिनैर्वा दृढं विजित्य पश्चाद् द्वितीयायां मनोभूमौ प्रयतेत। अन्यथा बहुभूमिकः प्रासादवत् प्रथमभूमिकापातेनैवोपरितनयोगभूमयो विनश्येयुः। यद्यपि चक्षुरादयो निरोद्धव्यास्तथाऽपि तेषां वाग्भूमौ वाऽन्तर्भावो द्रष्टव्यः।

जपादि का निरोध समाधि में त्याग करे। यह प्रथम वाणीरूप भूमिका है। इस भूमिका को कई दिन, मास, वर्ष में दृढ़तापूर्वक जीत कर दूसरी मनोभूमिका के जय के लिये प्रयत्न करे। यदि क्रम से एक-एक भूमिका के जय न करके पहिले ही अन्तिम भूमिका को जीतने की इच्छा हो तो, जैसे बहुत मञ्जिल (महल) वाले मकान के सबसे ऊपर वाले महल में जाने की इच्छावाला पुरुष पहले के क्रम से (एक के बाद दूसरा इस प्रकार) ऊपर को न चढ़कर एकदम कूदकर अन्तिम महल में जाये तो वह ऊपर के महल में नहीं पहुँच पाता है और जमीन पर ही गिर पड़ता है, तथा लोगों के उपहास का भाजन बन जाता है। उसी प्रकार इस पुरुष की भी अवस्था होती है। यद्यपि नेत्र आदि का भी निरोध करना आवश्यक है। फिर भी उसका वाणी रूप भूमिका या मन रूप भूमिका में अन्तर्भाव समझो। अर्थात् वाणी का या मन का निरोध के साथ इन्द्रियों का निरोध भी समझ लेना चाहिए।

ननु वाचं मनसि नियच्छेदित्यनुपपन्नम्। नहीन्द्रियस्येन्द्रियान्तरे प्रवेशोऽस्ति॥

शङ्का—वाणी का मन में निरोध करना, यह कथन असम्भव-सा प्रतीत होता है। क्योंकि एक इन्द्रिय का दूसरे इन्द्रिय में प्रवेश नहीं हो सकता है?

मैवम्। प्रवेशस्याविवक्षितत्वात्। नानाविक्षेपकारिणो-

र्वाङ्मनसयोर्मध्ये प्रथमतो वाग्व्यापारनियमेन मनोव्यापारमात्र-परिशेष इह विवक्षितः। गोमहिषाश्वादीनामिव वाङ्नियमे स्वाभाविके सम्पन्ने ज्ञानात्मनि मनो नियच्छेत्। आत्मा त्रिविधः। ज्ञानात्मा महानात्मा शान्तात्मा चेति। जानात्यत्र स्थित आत्मेति ज्ञातृत्वोपाधिरहङ्कारोऽत्र ज्ञानशब्देन विवक्षितः। करणस्य मनसो नियम्यत्वेन पृथगुपात्तत्वात्। अहङ्कारो द्विविधः। विशेषरूपः सामान्यरूपश्चेति। अयमहमेतस्य पुत्र इत्येवं व्यक्तमभिमानो विशेषरूपः, अस्मीत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानः सामान्यरूपः। स च सर्वव्यक्तिषु व्याप्तत्वान्महानित्युच्यते। ताभ्यामहङ्काराभ्यां द्वाभ्यामुपहितौ द्वावात्मानौ। निरुपाधिकः शान्तात्मा, तदेतत्सर्वमन्तर्बहिर्भावेन वर्तते। शान्त आत्मा सर्वान्तरश्चिदेकरसस्तस्मिन्नाश्रितं जडशक्तिरूपमव्यक्तं मूलप्रकृतिः। सा च प्रथमं सामान्याहङ्काररूपं महत्तत्वं नाम धृत्वा व्यक्तीभवति। ततो बहिर्विशेषाहङ्काररूपेण, ततो बहिर्मनोरूपेण, ततो बहिर्वागादीन्द्रियरूपेण। तदेतदभिप्रेत्योत्तरमान्तरत्वं विविनक्ति श्रुतिः॥

समाधानः—इस स्थल में प्रवेश में तात्पर्य नहीं है, परन्तु नाना प्रकार के विक्षेप को उपजाने वाले मन और वाणी में से प्रथमवाणी के व्यापार को रोककर केवल मन का व्यापार अवशेष रखे ऐसा कहने का तात्पर्य है। जैसे बैल, भैंस, घोड़ा आदि प्राणियों के समान स्वाभाविक रीति से वाणी का जय हुआ करता है उसी प्रकार स्वाभाविक रीति से वाणी का जय होने के लिए मन को ज्ञानात्मा में निरोध करे। ज्ञानात्मा, महान् आत्मा और शान्त आत्मा ये तीन प्रकार की आत्मा हैं। इनमें ज्ञातारूप की उपाधि जो अहङ्कार वह ज्ञानात्मा शब्द में ज्ञान पद का अर्थ है। अहङ्कार दो प्रकार का है। एक विशेष अहङ्कार और दूसरा सामान्य अहङ्कार। 'मैं यज्ञदत्त देवदत्त का पुत्र हूँ', यह विशेष अहङ्कार का स्वरूप है और 'मैं हूँ' यह सामान्य अहङ्कार है। इस प्रकार का अहङ्कार सभी प्राणियों में व्याप्त होने से उसको सामान्य अहङ्कार ऐसी संज्ञा (नाम) दी गई है।

इन दो प्रकार के अहङ्कार रूप उपाधि सहित आत्मा का क्रम से एक को ज्ञानात्मा और दूसरे को महान् आत्मा इस नाम से श्रुतियों ने व्यवहार किया है। निरुपाधि आत्मा को शान्त आत्मा कहते हैं। इन तीन आत्माओं में से सबसे बाहर ज्ञान आत्मा है और भीतर महान् आत्मा है और उसके भीतर शान्तात्मा है। यह सर्वान्तर चिद्रूप एकरस में आश्रित जड़ वर्ग को उत्पन्न करनेवाली जो शक्ति है उसको अव्यक्त या मूल प्रकृति कहते हैं। वह मूल प्रकृति पहले सामान्य अहङ्कार रूप 'महत्तत्त्व' ऐसा नाम धारण कर प्रकट होती है। उसके बाद उसके बाहर, विशेष अहङ्कार रूप से प्रकट होती है, उसके बाद उसके बाहर मनरूप से प्रकट होती है और उसके पश्चात् इन्द्रिय आदि रूप से प्रकट होती है, इसलिये सबसे बाहर इन्द्रिय आदि हैं, उनके भीतर मन है, उसके अन्दर विशेष अहङ्कार है, उसके अन्दर सामान्य अहङ्कार है, उसके अन्दर मूल प्रकृति है और उसके अन्दर पुरुष है। इसी अभिप्राय से उत्तर और आन्तर का विवेक श्रुति कहती है—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥" इति।

(पृथिव्यादितत्त्वों से बने) इन्द्रियों से गन्ध आदि विषय सूक्ष्म या श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन अतिसूक्ष्म है, मन से निश्चयात्मक ज्ञानरूप बुद्धि सूक्ष्म है, बुद्धि से महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) सूक्ष्म है। महत्तत्त्व से अव्यक्त सूक्ष्म है, अव्यक्त से पुरुष सूक्ष्म हैं और पुरुष से कोई भी सूक्ष्म नहीं है, वही सबका अन्त (सीमा) और वहीं तक जाने की अवधि है।

एवं सत्यत्र नानाविधसङ्कल्पविकल्पसाधनं कारणरूपं मनोऽहङ्कर्तरि नियच्छेत् मनोव्यापारान् परित्यज्याहङ्कारमात्रं शेषयेत्। न चैतदशक्यमिति वाच्यम्॥

ऐसी स्थिति में इस मन का अहङ्कार में निरोध करे अर्थात् मन के व्यापार को त्याग कर केवल अहङ्कार को शेष रखे, इसका होना सम्भव नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि—

"तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।" इति ।
वदन्तमर्जुनं प्रति भगवतोत्तराभिधानात्—

इस मन का निग्रह होना, वायु को रोकने के समान बहुत ही कठिन है। इस प्रकार अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण जी इस प्रकार उत्तर देते है कि—

"असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥" इति ।

भगवान् ने कहा—हे अर्जुन ? निःसन्देह मन अतिशय चपल और क्लेश से अपने वश करने के योग्य है। परन्तु हे कौन्तेय ! इसको अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है। मन को न जीतनेवाले के लिये योग अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा मेरा निश्चय है। परन्तु मन को वश में करने के लिये यत्न करते हुए पुरुष को उपाय द्वारा वह मिलने के योग्य है।

अभ्यासवैराग्ये पतञ्जलिसूत्रोदाहरणेन व्याख्यायेते । पूर्व-पूर्वभूमिदार्ढ्यरहितोऽसंयतात्मा । तत्सहितो वश्यात्मा । उपायतः प्राप्तिं गौडपादाचार्य्याः सदृष्टान्तमाहुः—

अभ्यास और वैराग्य का व्याख्यान पतञ्जलि ने सूत्रों के द्वारा किया है। पूर्व-पूर्व भूमिका का, जिसने सुदृढतापूर्वक जय कर लिया हो, उसे संयतात्मा अर्थात् देह इन्द्रियादि को वश में करनेवाला समझो और जिसने उनका जय न किया हो, उसे असंयतात्मा अर्थात् देहादि को वश में न रखनेवाला जानो।

उपाय से मन वश में होता है ऐसा दृष्टान्त सहित गौडपादाचार्य ने कहा है—

"उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकविन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः ॥
बहुभिर्न विरोद्धव्यमेकेनापि बलीयसा ।
स पराभवमाप्नोति समुद्र इव टिट्टिभात् ॥" इति ।

जैसे कुश के नोक से एक-एक बूंद जल ले-लेकर समुद्र को उपछने का काम, यदि कायर न हो तो बन सकता है। उसी प्रकार खेदरहित हो तो मन का निग्रह भी हो सकता है। एक पुरुष यद्यपि बलवान् हो तथापि उसको बहुतों के साथ विरोध न करना चाहिये। क्योंकि समुद्र ने, तित्तिर पक्षी से हार माना उसी तरह वह पराभव को प्राप्त करता है। इसकी कथा इस प्रकार है—

अत्र संप्रदायविद आख्यायिकामाचक्षते—

"कस्यचित्किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थान्युदधिरुत्से-केनापजहार। तत्र समुद्रं शोषयामीति प्रवृत्तः स च पक्षी स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुं प्रतिक्षिपति। तदा बहुभिः पक्षि-भिर्बन्धुवर्गैर्वार्यमाणोऽप्यनुपरतः प्रत्युत तानपि सहकारिणो वव्रे। तांश्च पतनोत्पतनाभ्यां बहुधा क्लिश्यतः सर्वा नवलोक्य कृपालुर्नारदो गरुडं समीपे प्रेषयामास। ततो गरुडपक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतस्तान्यण्डानि पक्षिणे ददौ॥"

यहाँ वेदान्त सम्प्रदाय के वेत्ता वृद्ध पुरुष इस प्रकार की आख्यायिका कहते हैं—किसी समुद्र के किनारे तित्तिर नामक पक्षी रहता था। किसी समय तित्तिरीन के प्रसव का समय निकट आया, तब उसने अपने पति से अण्डा कहाँ दूंगी, ऐसा पूछा। इस पर तित्तिर ने समुद्र के तीर में ही अण्डा देने को कहा। स्त्री ने कहा कि "समुद्र अण्डों को बहा ले जावेगा। तित्तिर ने उत्तर दिया कि 'समुद्र पर इससे क्या भार होगा? तू खुशी से समुद्र के तीर पर जाकर अण्डा दो। अनेक प्रकार से तित्तिरीन के समझाने पर भी उसने नहीं समझा, तब उसने प्रसव किया अर्थात् समुद्र के तीर पर ही अण्डे दिये। समुद्र ने विचार किया कि 'यह तित्तिर सरीखा छोटा-सा पक्षी इतना बल दिखलाता है, जाकर देखूं तो वह क्या करता है? ऐसा मन में विचार कर उसके अण्डों को बहा ले गया और उनको सावधानी से एक ठिकाने रख दिया। तित्तिर इसकी खबर सुनते ही क्रोधवश हो समुद्र को सुखाने के लिये चोंच में पानी का एक-एक बूंद ले जाकर फेंकने लगा; ऐसा देखकर अन्य पक्षियों ने भी उसे

बहुत समझाया किन्तु उसने एक भी न सुनी और बोला कि इस समय मुझे तुम्हारी सलाह की जरूरत नहीं है, मुझे मदद करना हो तो करो नहीं तो तुम्हारी इच्छा। यह सुन कर अन्य पक्षियों ने भी उसके समान काम करना आरम्भ किया। ऐसा देखकर श्रीनारद मुनि के हृदय में दया आई और उन पक्षियों की सहायता के लिए गरुड़ को उनके पास भेजा। और जब गरुड़ अपने पंख की हवा से समुद्र को सुखाने लगे तब उसको भय हुआ और तित्तिर को उसने अण्डे वापस दे दिये।

एवमखेदेन मनोनिरोधे परमधर्मे प्रवर्तमानं योगिनमीश्वरोऽनुगृह्णाति अखेदश्च मध्ये मध्ये तदनुकूलव्यापारमिश्रणेन सम्पाद्यते। यथौदनं भुञ्जानस्तद्ग्रासान्तरे चोष्यलेह्यादीनास्वादयति तद्वत्। इदमेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ आह—

इसी प्रकार खेद रहित हो मन के निरोध रूप सर्वोत्तम धर्म में प्रयत्न करते हुए योगी पर ईश्वर अनुग्रह करता है और इससे उसके मन का निरोध होता है। जैसे कोई मिष्टान्न खाने वाला पुरुष बीच-बीच में चूसने और चाटने की चीजों का स्वाद लेता जाता है, जिससे उसका मिष्टान्न में अरुचि पैदा नहीं होती है, उसी प्रकार योगाभ्यासी पुरुष योग के अनुकूल अन्य व्यापारों का मेल करता है, इससे गह योगाभ्यास से कायर नहीं होता है। इसी अभिप्राय को लेकर वसिष्ठ ने भी कहा है—

"चित्तस्य भोगैर्द्वौ भागौ शास्त्रेणैकं प्रपूरयेत्।
गुरुशुश्रूषया भागमव्युत्पन्नस्य संक्रमः॥
किञ्चिद्व्युत्पत्तियुक्तस्य भागं भोगैः प्रपूरयेत्।
गुरुशुश्रूषया भागौ भागं शास्त्रार्थचिन्तया॥
व्युत्पत्तिमनुयातस्य पूरयेच्चेतसोऽन्वहम्।
द्वौ भागौ शास्त्रवैराग्यैर्द्वौ ध्यानगुरुपूजया॥" इति।

भोग से चित्त के दो भाग पूर्ण करे, एक भाग को शास्त्रों के विचार से और दूसरे को सद्गुरु की सेवा से पूरा करे। योग में प्रवेश करने वाले चित्त का क्रम यह है। योग में कुछ भी कुशलता प्राप्त

चित्त के एक भाग को भोग से पूरा करे। दूसरे भाग को सद्गुरु की सेवा से पूरा करे और एक भाग को शास्त्रविचार से पूरा करे। योग में सब तरह कुशलता पाये हुए चित्त के दो भाग को प्रतिदिन शास्त्र-विचार और वैराग्य से पूरा करे तथा दो भाग ध्यान और गुरुपूजा से पूरा करे।

भोगशब्देनात्र जीवनहेतुभिक्षाटनादिव्यापारो वर्णाश्रमोचितव्यापारश्चोच्यते। घटिकामात्रं मुहूर्त्तं वा यथाशक्ति योगमभ्यस्य ततो मुहूर्त्तं शास्त्रश्रवणेन परिचयो वा गुरूननुगम्य मुहूर्त्तं स्वदेहमनुस्मृत्य मुहूर्त्तं योगशास्त्रं पर्यालोच्य पुनर्मुहूर्त्तं योगमभ्यसेत्। एवं योगप्राधान्येन व्यापारान्तराणि मेलयंस्तानि द्रागभ्यस्य शयनकाले तद्दिनगतान्योगमुहूर्त्तान् गणयेत्। ततः परेद्युर्वा वरपक्षे वा परमासे वा योगमुहूर्त्तान् वर्धयेत्। तथा चैकैकस्मिन् मुहूर्त्ते एकैकक्षणयोगेऽपि संवत्सरमात्रेण भूयान् योगकालो भवति। न चैवं योगैकशरणत्वे व्यापारान्तराणि लुप्येरन्निति शङ्कनीयम्। लुप्तेतरकृत्स्नव्यापारस्यैव योगेऽधिकारात्।

यहाँ 'भोग' अर्थात् भिक्षा माँगना इत्यादि जीवन का हेतुरूप क्रिया और वर्णाश्रम के अनुकूल कर्म समझना चाहिये। एक घड़ी या मुहूर्त्त मात्र या यथाशक्ति योगाभ्यास कर उसके बाद दो घड़ी शास्त्र का श्रवण या गुरु की सेवा करे, उसके बाद दो घड़ी शरीर क्रिया करे, उसके बाद दो घड़ी शास्त्र विचार कर फिर दो घड़ी योगाभ्यास करे। इस प्रकार कर्तव्य में प्रधान पद योग को देकर उसके साथ अन्य व्यापार मिला कर सोते समय 'आज योग का काल कितना हुआ,' इसकी गणना करे। उसके बाद दूसरे दिन, दूसरे पक्ष, या दूसरे मास में योग के समय की वृद्धि करे। इस प्रकार एक-एक मुहूर्त्त में एक क्षण के योग से भी वर्ष में बहुत योग काल हो जाता है। इस प्रकार प्रतिदिन योग में अधिक काल बीतने पर धीरे-धीरे अन्य काम नहीं बन सकते, ऐसी शङ्का न करे, क्योंकि योग के सिवाय अन्य कार्यों को त्यागने वाले का ही योग में अधिकार है।

अत एव विद्वत्संन्यासोऽपेक्ष्यते । तस्मात्तदेकनिष्ठः पुमानध्येतृवणिगादिवत्क्रमेण योगारूढो भवति । यथाऽध्येता माणवकः पादांशं पादमर्धर्चमृचं मृगृद्वयं वर्गं च क्रमेण पठन्दशद्वादशवर्षैरध्यापको भवति । यथा च वाणिज्यं कुर्वन्नेकनिष्कद्विनिष्कादिक्रमेण लक्षपतिः क्रोडपतिर्वा भवति तथा ताभ्यां वणिगध्येतृभ्यां सहैवोपक्रम्य मत्सरग्रस्त इव युञ्जानस्तावता कालेन कुतो न योगमारोहेत् । तस्मात्पुनः पुनः प्राप्यमाणान् सङ्कल्पविकल्पानुद्दालकवत्पौरुषप्रयत्नेन परित्यज्याहङ्कर्तरि ज्ञानात्मनि मनो नियच्छेत् । तामेतां द्वितीयभूमिकां विजित्य बालमूकादिवन्निर्मनस्त्वे स्वाभाविके सति ततो विशेषाहङ्काररूपं विस्पष्टं ज्ञानात्मानमस्पष्टे सामान्याहङ्कारे महत्तत्त्वे नियच्छेत् । यथा स्वल्पां तन्द्रां प्राप्तवतो विशेषाहङ्कारः स्वत एव सङ्कुचति विनैव तन्द्रां तथा विस्मरणं प्रयतमानस्याहङ्कारसङ्कोचो भवति सेयं लोकप्रसिद्धया तन्द्रया तार्किकाभिमतनिर्विकल्पकज्ञानेन च समाना महत्तत्त्वमात्रपरिशेषावस्था तृतीया भूमिः । अस्यां चाभ्यासपाटवेन वशीकृतायां तमेतं सामान्याहङ्काररूपं महान्तमात्मानं निरुपाधितया शान्ते चिदेकरसस्वभावे नियच्छेत् ।

इससे ही विद्वत्संन्यास की योग की सिद्धि के लिये अपेक्षा है । इस लिये योगपरायण पुरुष, विद्यार्थी और व्यापारी के समान धीरे-धीरे योगारूढ़ होता है । जैसे वेदाध्ययन करनेवाले विद्यार्थी पहिले पाद का आधा, फिर पाद, तब आधी ऋचा, पूरी ऋचा, दो ऋचा और वर्ग इसी भांति क्रम से अधिक-अधिक पढ़ता हुआ बारह वर्ष में स्वयं अन्य को वेद पढ़ानेवाला हो जाता है । तथा जैसे व्यापारी एक रुपया, दो रुपये, इस भांति प्रति दिन उपार्जन करते-करते क्रमशः लखपति या करोड़पति होता है उसी तरह योगी भी क्रमशः योग की अभिवृद्धि करता करता उतने ही समय में योगारूढ़ क्यों न होगा ? इसलिए बार-बार उठे हुए सङ्कल्प विकल्पों को उद्दालक मुनि के समान प्रयत्न से छोड़कर विशेष अहङ्कार जिसको ज्ञानात्मा कहते हैं उसमें मन का

निरोध करे। इस प्रकार दूसरी भूमिका का जय कर, बाल या मूक के समान अमनस्कता के स्वाभाविक सिद्ध होने पर स्फुटस्वरूपवाला विशेष अहङ्कार जिसको ज्ञानात्मा कहते हैं, उसका अस्फुट सामान्य अहङ्कार महत्तत्व में लय करे। जैसे स्वल्प तन्द्रा (आधी नीन्द) के वश हुए पुरुष का विशेष अहङ्कार स्वयं सङ्कुचित हो जाता है उसी तरह विशेष अहङ्कार के विस्मरण होने के लिये यत्न करते हुए योगी का अहङ्कार, निद्रा विना सङ्कोच को प्राप्त हो जाता है ? या लोक प्रसिद्ध तन्द्रा के समान या नैयायिक के माने हुए निर्विकल्प ज्ञान के समान अवस्था जिसमें महत्तत्त्वरूप सामान्य अहङ्कार शेष रहता है, उसको तीसरी भूमिका कहते हैं। इस भूमिका को अभ्यास से जीतने पर यह सामान्य अहङ्कार के निरुपाधि होने से शान्त शुद्ध चैतन्य स्वरूप में निरोध करे॥

"महत्तत्त्वं तिरस्कृत्य चिन्मात्रं परिशेषयेत्॥" अत्रापि पूर्वोक्तविस्मृतिप्रयत्न एव ततोऽप्यतिशयेनोपायतामापद्यते। यथा शास्त्राभ्यासप्रवृत्तस्य व्युत्पत्तेः प्राक् प्रतिग्रन्थं व्याख्यानापेक्षायामपि व्युत्पन्नस्य स्वत एवोत्तरग्रन्थार्थः प्रतिभाति तथा सम्यग्वशीकृतपूर्वभूमेर्योगिन उत्तरभूम्युपायः स्वत एव प्रतिभाति। तदाह योगभाष्यकारः—

'महत्तत्त्व को भूल जाय और चैतन्य को ही शेष रखे' ऐसा वाक्य है। ऐसा होने पर भी महत्तत्त्व को विस्मरण करने का प्रयत्न ही विशेष उपाय है। जैसे शास्त्र के अभ्यास में प्रवृत्त हुए पुरुष को व्युत्पत्ति होने के पहिले प्रत्येक ग्रन्थ के व्याख्यान की अपेक्षा रहती है, परन्तु व्युत्पत्ति होने पर उसको उत्तर ग्रन्थों का अर्थ अपने आप स्फुरित होता है, उसी तरह जिसने प्रथमभूमिका का जय कर लिया है, उसको उत्तर भूमिका के जय का उपाय अपने आप मालूम हो जाता है। यही बात व्यास जी योगभाष्य में कहते हैं—

"योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्॥" इति।

योग उत्तरभूमिकायोगेन ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते। यो योगाप्रमत्तो योगेन पूर्वभूमिकोत्तरभूमिकायोगेन स योगी रमते चिरमिति।

उत्तर भूमिका रूप योग को योग के द्वारा अर्थात् योग की पूर्व भूमिका से जाने हुए योग के द्वारा योग में प्रवृत्ति होती है । जो योगी योग में प्रमाद रहित होता है वह योगी पूर्व भूमिका के जय पूर्वक उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्ति से चिरकाल अलौकिक सुख का अनुभव करता है ।

ननु महत्तत्त्वशान्तात्मनोर्मध्ये महत्तत्वोपादानमव्यक्ताख्यं तत्त्वं श्रुत्योदाहृतम्, तत्र कुतो नियमनं नाभिधीयत इति चेन्न ॥

शङ्का—महत्तत्त्व और निरुपाधि शान्तात्मा के मध्य महत्तत्त्व का उपादान अव्यक्त (प्रकृति) नाम का तत्त्व श्रुति ने कहा हैं, इसलिये महत्तत्त्व का अव्यक्त में निरोध क्यों नहीं कहा ?

लयप्रसङ्गादिति ब्रूमः । यथा पटोऽनुपादाने जले निरुध्यमानो न लीयते, उपादानभूतायां तु मृदि लीयते तथा महत्तत्त्वमात्मनि न लीयते । अव्यक्ते तु लीयते । न च स्वरूपलयः पुरुषार्थः, आत्मदर्शनानुपयोगात् ।

समाधान—महत्तत्त्व (सामान्य अहङ्कार) का उस के उपादान प्रकृति में निरोध करने से उसका लय हो जाता है; जैसे घड़े को जल या जो उसका उपादान नहीं है, उसमें डुबाने से उसका लय नहीं होता है, परन्तु मिट्टी में उसका लय होता है । वैसे शुद्ध चैतन्य महत्तत्त्व का उपादान न होने से, उसमें उसका लय नहीं होता है, परन्तु अव्यक्त में लय होता है, क्योंकि वह उसका उपादान है । अन्तःकरण की एकाग्रता आत्मदर्शन का कारण होने से पुरुषार्थ रूप नहीं है ।

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इति पूर्ववाक्ये आत्मदर्शनमभिधाय सूक्ष्मत्वसिद्धये निरोधस्याभिधानात् लयस्य प्रतिदिनं सुषुप्तौ स्वतः सिद्धत्वेन प्रयत्नवैयर्थ्याच्च ।

सूक्ष्मदर्शी पुरुष सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि से आत्मा का दर्शन करता है ।

यदि अन्तःकरण का लय पुरुषार्थ होता तो प्रति दिन सुषुप्ति के समय पर स्वयं सिद्ध होने से उसके लिये सारे प्रयत्न को निष्फल ही मानना पड़ेगा ।

ननु धारणाध्यानसमाधिभिः साध्यस्य संप्रज्ञातस्यैकाग्र्य-वृत्तिरूपत्वेन दर्शनहेतुत्वेऽपि शान्तात्मन्यत्ररुद्धस्य संप्रज्ञात-समाधिमापन्नस्य चित्तस्य वृत्तिरहितत्वेन सुषुप्तिवन्न दर्शनहेतुत्व-मिति चेन्न ।

शङ्का—धारणा, ध्यान, और समाधि के द्वारा सिद्ध होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधि, एकाग्रवृत्तिरूप होने से वह आत्मदर्शन का हेतु है, यह बात निर्विवाद है, परन्तु शान्तात्मा में निरोध करने से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त व्यक्ति का चित्त वृत्ति-रहित होता है, अत एव सुषुप्ति के समान उसमें आत्म-दर्शन की कारणता सम्भव नहीं है ।

स्वतःसिद्धस्य दर्शनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् । अत एव श्रेयोमार्गेऽभिहितम् ।

समाधान—आत्मदर्शन स्वतः सिद्ध होने से उस का वारण सम्भव नहीं हो सकता है, इसलिए श्रेयोमार्ग-विषयक ग्रन्थ में कहा है कि—

"आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम् ।
आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टिं विदधीत ॥" इति ।

चित्त स्वभाव से ही आत्माकार या अनात्माकार के रूपमें रहता है। इसलिये उस अनात्म-दृष्टि का तिरस्कार पूर्वक आत्मदृष्टि करनी चाहिए ।

यथा घट उत्पद्यमानः स्वतो वियत्पूर्ण एवोत्पद्यते, जल-तण्डुलादिपूरणं तूत्पन्ने घटे पश्चात्पुरुषप्रयत्नेन भवति । तत्र जलादौ निःसारितेऽपि न वियन्निःसारयितुं शक्यते, मुख-पिधानेऽप्यन्तर्वियदवतिवष्ठत एव । तथा चित्तमुत्पद्यमानमात्म-चैतन्यपूर्णमेवोत्पद्यते, उत्पन्ने चित्ते पश्चान्मूषानिषिक्तद्रुतताम्र-वद्घटपटरूपरससुखदुःखादिवृत्तिरूपत्वं भोगहेतुधर्माधर्मादिवशाद् भवति तत्र रूपरसाद्यनात्माकारे निवारितेऽपि निर्निमित्तश्चिदा-कारो न निवारयितुं शक्यते । ततो निरोधसमाधिना निर्वृत्तिकेन

संस्कारमात्रशेषतया सूक्ष्मत्वेन चिदात्ममात्राभिमुखत्वादेकाग्रेण चित्तेन निर्विघ्नमात्माऽनुभूयते । अनेनैवाभिप्रायेण वार्त्तिककार-सर्वानुभवयोगिनावाहतुः ।

विवेचन—जब घड़ा उत्पन्न होता है तब आकाश के द्वारा पूर्ण ही उत्पन्न होता है उसमें आकाश भरने के लिये कोई यत्न नहीं करना पड़ता है, परन्तु उसमें पानी या चावल भरना हो तो घड़ा के उत्पन्न होने पर पुरुषप्रयत्न से चावल आदि से वह पूर्ण हो सकता है । उसमें से जल आदि के निकाल लेने पर आकाश को नहीं निकाला जा सकता है, कदाचित् घड़ा का मुंह बन्द करें तब भी आकाश तो उसमें बना ही रहेगा, उसी प्रकार चित्त भी जब उत्पन्न होता है, तब आत्मचैतन्य द्वारा पूर्ण ही उत्पन्न होता है जैसे कुढाली (साँची) में गले हुए तामा आदि धातुओं को डालो तो उसका आकार साँचे के आकार की नाई हो जाता है, उसी भाँति चित्त उत्पन्न होने पर भोग के हेतु रूप धर्म अधर्म के कारण घड़ा, वस्त्र, रूप, रस, सुख, दुःख, आदि वृत्तिरूप हो जाता है। इन चित्त के रूप, रस आदि अनात्म आकार की निवृत्ति होने पर स्वाभाविक चैतन्याकार का निवारण नहीं हो सकता है, अत एव वृत्ति-रहित निरोधसमाधि के द्वारा, संस्कारमात्र शेष होने से सूक्ष्म केवल, आत्माभिमुख होने से एकाग्र, चित्त निर्विघ्नता से आत्मा का ही अनुभव करता है, इसी अभिप्राय से वार्त्तिककार और सर्वानुभवयोगी कहते हैं ।

"सुखदुःखादिरूपित्वं धियो धर्मादिहेतुतः ।
निर्हेतुत्वात्मसम्बोधरूपत्वं वस्तुवृत्तितः ॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददीपकम् ।
असम्प्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः ॥" इति ।

धर्मादि कारणों के वशीभूत चित्त, सुख, दुःख आदि आकार वाला हो जाता है, और बोधरूप आत्माकार तो कारण के विना स्वभावसे ही होता है। वृत्तिरहित हुए चित्त का परमानन्दस्वरूप प्रकाश रहता है, उसको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह समाधि योगियों को प्रिय है ।

आत्मदर्शनस्य स्वतः सिद्धत्वेऽप्यनात्मदर्शनवारणाय निरोधाभ्यासः । अत एवोक्तम्—

आत्म दर्शन अपने आप सिद्ध होने पर अनात्म वस्तु के दर्शन को रोकने के लिए चित्त के निरोध का अभ्यास करना आवश्यक है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी कहते हैं—

"आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।"

आत्मा में मन को स्थिर कर साधु किसी विषय का चिन्तन न करे।

योगशास्त्रस्य चित्तचिकित्सकसमाधिमात्रे प्रवृत्तत्वान्निरोध-समाधावात्मदर्शनं तत्र न साक्षादुक्तम् । भङ्गयन्तरेण त्वभ्युप-गम्यते ।

योगशास्त्र की चित्त का राग आदि रोग हटाने वाली समाधि के ही प्रतिपादन में प्रवृत्ति होती है, अतएव उसमें समाधिकाल में आत्म-दर्शन को साक्षात् नहीं कहा है, तथापि उसमें प्रकारान्तर से आत्म-दर्शन स्वीकार किया है।

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (पा० सू० १।२) इति सूत्रयित्वा "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (पा०सू० १।३) इति सूत्रणात् । यद्यपि निर्विकारो द्रष्टा सदा स्वरूप एवावतिष्ठते तथाऽपि वृत्तिषूत्पद्यमानासु तत्र चिच्छायायां प्रतिबिम्बितायां तद-विवेकादस्वस्थ इव द्रष्टा भवति । तदप्यनन्तरसूत्रेणोक्तम्— "वृत्तिसारूप्यमितरत्र" (पा० सू० १।५) इति ।

अन्यत्रापि सूत्रितम् ।

चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है। इस सूत्र को कह कर समाधि में द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है ऐसा सूत्र दिया है, यद्यपि निर्विकार द्रष्टा स्वरूप में ही स्थित होता है, तथापि वृत्तियां जब तक उठा करती हैं, तब तक उन में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से, अविवेक के कारण द्रष्टा भी विकारी के समान हो जाता है। यह बात भी पतञ्जलि मुनि ने कही है योग के सिवाय अन्य अवस्था में आत्मा वृत्ति के साथ तादात्म्य को प्राप्त करता है—अन्य स्थल में भी पतञ्जलि ने कहा है।

"सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशिषो भोगः परार्थत्वात्" (पा० सू० ३।३५) इति ॥

बुद्धि और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं, बुद्धि का सुख दुखादि परिणाम जो पुरुष में प्रतिबिम्ब द्वारा प्रतीत होता है यह भोग दृश्य होने से पुरुष के लिये है। अन्य सूत्र है।

"चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्" (पा० सू० ४।२२) इति च। निरोधसमाधिना शोधिते त्वम्पदार्थे साक्षात् कृतेऽपि तस्य ब्रह्मत्वं गोचरयितुं महावाक्येन ब्रह्मविद्यानामकं वृत्त्यन्तरमुत्पद्यते। न च शुद्धत्वं पदार्थसाक्षात्कारे निरोधसमाधिरेक एवोपायः। किन्तु चिज्जडविवेकेनापि पृथक्कृते तत्साक्षात्कारसम्भवात्—अत एव वसिष्ठ आह।

चितशक्ति (पुरुष) जिसका अन्यत्र गमन नहीं होता है, उसकी छाया बुद्धि में परकर बुद्धि के आकार की प्राप्ति होने से भोग्य है ऐसी बुद्धि का ज्ञान होता है, निरोध समाधि द्वारा शोधन करने पर पदार्थ के साक्षात्कार करने पर भी उसको ब्रह्मपन का साक्षात् अनुभव होने के लिये श्री सद्गुरु के मुख से महाकाव्य के सुनने से ब्रह्मविद्या नामक एक प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। शुद्ध 'त्वं' पदार्थ के साक्षात्कार में केवल निरोधसमाधि ही उपाय रूप नहीं है, परन्तु श्रीगुरु उपदिष्ट युक्ति के द्वारा चैतन्य और जड़ का विवेक करने से जड़ से भिन्न स्वरूप द्वारा त्वं पदार्थ रूप में प्रत्येक आत्मा का साक्षात्कार होता है। इसलिये भगवान् वसिष्ठ कहते हैं।

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव !
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥" इति।
"असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः ॥" इति।

हे रामचन्द्र ! चित्त के नाश का दो प्रकार है। एक योग और दूसरा ज्ञान है। मन की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं और यथार्थ विचार को ज्ञान कहते हैं। इनमें से किसी को योग असाध्य है, अर्थात्, योगी बनना अशक्य है, और किसी को ज्ञान का निश्चय

असाध्य है, इसलिये श्री परमेश्वर—शंकरजी ने दो प्रकार कहा है।

ननु विवेकोऽपि योगे पर्यवस्यति दर्शनवेलायामात्ममात्र-गोचराया एकाग्रवृत्तेः क्षणिकसंप्रज्ञातरूपत्वात्।

शङ्का—आत्मा का दर्शन करते समय केवल आत्मा को ही ग्रहण करने वाली एकाग्रवृत्ति क्षणिक संप्रज्ञात समाधिरूप होने से विवेकरूप ज्ञान भी वस्तुतः योग ही है, अत एव योग से ज्ञान को अलग मानने में कोई कारण नहीं है।

बाढम्। तथाऽपि संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोः स्वरूपतः साधन-तश्चास्त्येव महद्वैलक्षण्यम्। वृत्त्यवृत्तिभ्यां स्फुटः स्वरूपभेदः। साधनं तु संप्रज्ञातस्य सजातीयत्वाद्धारणादित्रयमन्तरङ्गम्। असंप्रज्ञातवृत्तिकस्य विजातीयत्वाद्बहिरङ्गम्। तथा च सूत्रम् "तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य" (पा० सू० ३।८) इति। विजाती-यत्वेऽपि बहुविधानात्मवृत्तिनिवारणेनोपकारितया बहिरङ्गत्वम-विरुद्धम्। तदेवोपकारित्वं विशदयितुं सूत्रयति—

समाधान—तुम्हारा कहना वास्तविक है, तथापि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के स्वरूप में और उसके साधन में बहुत भेद है। संप्रज्ञात सभाधि में वृत्ति का सद्भाव रहता है और असंप्रज्ञात समाधि में वृत्ति का अभाव होता है। यही दोनों के स्वरूप में भेद है। धारणा ध्यान, और समाधि ये तीन अङ्ग संप्रज्ञात समाधि में अन्तरङ्ग साधन हैं, क्योंकि वे संप्रज्ञात समाधि के सजातीय हैं। सजातीय इसलिये है कि जैसे धारणादि तीन अङ्गों में वृत्ति होती है, वैसे संप्रज्ञात समाधि में भी वृत्ति होती है। पूर्वोक्त तीन अङ्ग वृत्तिरहित असंप्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं। यह बात भगवान् पत-ञ्जलि ने कही हैं—"वे धारणा आदि तीन अंग निर्बीज असंप्रज्ञात समाधि के बहिरंग साधन हैं" धारणा आदि तीन अंगवृत्ति युक्त होने से असंप्रज्ञात समाधि से विजातीय होता हुआ अनेक प्रकार की अनात्माकार वृत्ति के निवारण द्वारा उसमें उपकारक होने से उनको बहिरंग साधन मानने में कोई विरोध नहीं हैं उनकी उपकारता पतञ्जलि मुनि सूत्रों से कहते हैं—

"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" पा०सू० १।२०

और अन्य को श्रद्धा उत्साह, स्मृति, एकाग्रता, विवेकख्याति (प्रकृति पुरुष के अलग होने का ज्ञान) द्वारा संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती हैं और उस के होने के बाद में परवैराग्य द्वारा असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

केषांचित् देवादीनां पूर्वसूत्रे जन्मनैव समाधिमुक्त्वा मनुष्यान् प्रत्येतदुच्यते। ममायं योग एव परमपुरुषार्थसाधनमिति प्रत्ययः श्रद्धा। सा चोत्कर्षश्रवणेनोपजायते। तदुत्कर्षश्च स्मर्यते।

श्रद्धावीर्य इत्यादि सूत्र से पहिले के सूत्र में कई एक देव आदि को जन्म से ही समाधि सिद्ध हुई है, इस बात को कहकर मनुष्य को समाधि की सिद्धि होने का उपाय इस सूत्र में बतलाया है मेरे लिए योग ही परम पुरुषार्थ है, इस प्रकार के दृढ़ निश्चय को श्रद्धा कहते हैं, यह श्रद्धा योग की श्रेष्ठता के श्रवण करने से उत्पन्न होती है। योग की श्रेष्ठता श्रीकृष्ण ने गीता में कही है:—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥" इति।

तपस्या करने वाले एवं ज्ञाननिष्ठ और अग्निहोत्र आदि कर्म करने वाले जो पुरुष हैं, उन सब से योगी श्रेष्ठ है, इसलिये हे अर्जुन! तुम योगी बनो।

उत्तमलोकसाधनत्वात्कृच्छ्रचान्द्रायणादितपसो ज्योतिष्टोमादिकर्मणश्च योगोऽधिकः। ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गत्वाच्चित्तविश्रान्तिहेतुतया ज्ञानादप्यधिकत्वम्। एवं ज्ञानतो योगे श्रद्धा जायते। तस्यां च श्रद्धायां वासितायां वीर्यमुत्साहो भवति सर्वथा योगं सम्पादयिष्यामीति। एतादृशेनोत्साहेन तदानुष्ठेयानि योगाङ्गानि स्मर्यन्ते।

योग उत्तम लोक का साधन होने से कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तप

से और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञरूप कर्म से अधिक है, उसी तरह वह विश्रान्ति का हेतु होने से ज्ञान का अन्तरङ्ग साधन हैं। इस प्रकार से योग की श्रेष्ठता दिखलाने से उसमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। यह श्रद्धा जब दृढ़बद्ध हो जाती है, तब सर्वथा मुझे योग सिद्ध करना ही है; ऐसा उत्साह होता है, उत्साह उत्पन्न होने पर अवश्य सेवन योग्य योगाङ्ग का स्मरण होता है।

तया च स्मृत्या सम्यगनुष्ठितसमाधेरध्यात्मप्रसादे सत्यृतम्भरा प्रज्ञोदेति। तत्प्रज्ञापूर्वकस्तत्प्रज्ञाकारणकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरितरेषां देवादिभ्योऽर्वाचीनानां मनुष्याणां सिद्ध्यति। तां च प्रज्ञां सूत्रयति।

स्मरण होने पर वह अधिकारी पुरुष श्री सद्गुरु के अनुग्रह से समाधि को सिद्ध करता है। उसकी सिद्धि होने पर अध्यात्म प्रसाद अर्थात् भूत भावि सभी पदार्थ को एक काल में ग्रहण करने वाली बुद्धि का प्रकाश होता है। अध्यात्मप्रसाद होने से ऋतम्भरा (वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकाश करने वाली) बुद्धि उत्पन्न होती है। ऐसी बुद्धि जिसमें कारण है, ऐसी असम्प्रज्ञात समाधि देवादि से इतर मनुष्य को सिद्ध होती है। भगवान् पतञ्जलि ऋतम्भरा प्रज्ञा को इस प्रकार कहते हैं—

"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" इति। (पा० सू० १।४८)

ऋतं सत्यं वस्तुयाथात्म्यं बिभर्ति प्रकाशयतीति ऋतम्भरा। तत्र तस्मिन्समाध्युत्कर्षजन्येऽध्यात्मप्रसादे सतीत्यर्थः। ऋतम्भरोपपत्तिं सूत्रयति।

उस निर्विचार समाधि से स्थिर चित्त की जो वृद्धि होती हैं उसे ऋतम्भरा कहते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा की योग्यता को पतञ्जलि भगवान् ने कहा है :—

"श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।" (पा० सू० १।४९) इति।

जो बुद्धि श्रवण (सुनने) और अनुमान से होती है। उनसे भिन्न विशेष विषयवाली समाधिविषयिणी होती है।

सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तुष्वयोगिप्रत्यक्षं न प्रवर्तते । आगमानुमानाभ्यां तानि वस्तून्ययोगिभिर्ज्ञायन्ते । ते च शास्त्रानुमानजन्ये प्रज्ञे वस्तुसामान्यमेव गोचरयतः । इदं तु योगिप्रत्यक्षं विशेषवस्तुगोचरत्वादृतम्भरम् । तस्य योगिप्रत्यक्षस्यासम्प्रज्ञातसमाधौ बहिरङ्गत्वसिद्धयर्थमुपकारित्वं सूत्रयति ।

सूक्ष्म, निकट के पदार्थ, और दूरस्थ पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान योगी के सिवाय अन्य को नहीं होता है । शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण से साधारण (योगी नहीं) पुरुष को सामान्य ज्ञान हो सकता है । योगिपुरुषों का प्रत्यक्ष ज्ञान तो वस्तु के विशेष आकार को ग्रहण करता है, इसलिये उसकी बुद्धि का ऋतम्भरा होना सम्भव है । यह योगी का प्रत्यक्ष ज्ञान असम्प्रज्ञात समाधि में बहिरङ्ग साधन है, इस बात को सिद्ध करने के लिये उसकी असम्प्रज्ञात समाधि में उपकारकता पतञ्जलि मुनि ने सूत्र से कहा है :—

"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥" (पा०सू० १।५०) इति ।

समाधिप्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार से अन्य संस्कार नष्ट हो जाते हैं ।

असंप्रज्ञातसमाधेर्बहिरङ्गसाधनमुक्त्वा तन्निरोधप्रयत्नस्यान्तरङ्गसाधनतां सूत्रयति ।

असंप्रज्ञातसमाधि को बहिरङ्ग साधन कह कर अब उस संस्कार के निरोध करने के लिये प्रयत्न की अन्तरङ्ग साधनता को कहते हैं ।

"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥" (पा०सू० १।५१) इति ।

जब संस्कारों को समाधि द्वारा निरोध हो जाता है तब निर्बीज (निर्विकल्प) समाधि होती है ।

सोऽयं समाधिः सुषुप्तिसमानः साक्षिचैतन्येनानुभवितुं शक्यः । न चासौ सर्वधीवृत्तिराहित्यात्सुषुप्तिरेवेति शङ्कनीयम् । मनःस्वरूपसदसत्त्वाभ्यां विशेषात् । तदुक्तं गौडपादाचार्यैः ।

इस सुषुप्ति के समान असंप्रज्ञात समाधि का अनुभव साक्षिचैतन्य कर सकता है। सभी वृत्तियों का निरोध जैसे सुषुप्ति में होता है— उसी प्रकार असंप्रज्ञात समाधि में भी होता है। इसलिये यह सुषुप्ति अवस्था है ऐसी शङ्का यहाँ नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सुषुप्ति में मन के स्वरूप का लय हो जाता है, और इस समाधि में तो मन रहता है, इतना सुषुप्ति और समाधि में अन्तर है।

यह बात गौडपादाचार्य ने भी कहा है—

"निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्त्यन्यो न तत्समः॥
लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः॥" इति।

माण्डूक्यशाखायामपि श्रूयते।

बुद्धिमान् पुरुष का निग्रह किये हुए निर्विकल्प मन की अवस्था सुषुप्ति के समान नहीं होती है, किन्तु उससे विलक्षण होती है। क्योंकि सुषुप्ति में मन लय को प्राप्त होता है और निग्रह किया हुआ मन लय को नहीं प्राप्त होता है। वह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाशरूप निर्भय ब्रह्म है।

माण्डूक्यशाखा में भी इसी भाँति सुन पड़ता है—

"द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते॥
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः॥
अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥" इति।

प्राज्ञ (सुषुप्ति का अभिमानी) और तुरीय अवस्था में स्थित पुरुष को द्वैत की अप्रतीति समान है, तथापि प्राज्ञ बीजरूप निद्रा युक्त है, और तुरीय में निद्रा नहीं है, इतना ही प्राज्ञ और तुरीय में अन्तर है विश्व और तैजस, स्वप्न और निद्रायुक्त हैं और प्राज्ञ स्वप्न रहित केवल निद्रायुक्त है। तुरीय अवस्था में निश्चयवाला पुरुष तो

निद्रा और स्वप्न इन दोनों को देखता नहीं है। अन्यथा ग्रहण करने वाले को स्वप्न है, और तत्त्व को जो नहीं जानता है उसको निद्रा है। जब आत्मवस्तु का अग्रहण और अन्यथा ग्रहण क्षय को प्राप्त होते हैं, तब पुरुष तुरीय पद का अनुभव करता है।

आद्यौ विश्वतैजसौ। अद्वैतस्य वस्तुनोऽन्यथाग्रहणं नाम द्वैतरूपेण प्रतिभासः। स च विश्वतैजसयोर्वर्तमानः स्वप्न इत्युच्यते। तत्त्वस्याज्ञानं निद्रा। सा च विश्वतैजसप्राज्ञेषु वर्तते। तयोः स्वप्ननिद्रयोः स्वरूपभूतयोर्विपर्यासो मिथ्याज्ञानम्। तस्मिन्विद्यया क्षीणे सति तुरीयं पदमद्वैतं वस्त्वश्नुते।

अद्वैत आत्मवस्तु का अन्यथा ग्रहण से अर्थात् द्वैत के रूपसे प्रतीति समझना है, इस द्वैत की प्रतीति विश्व को जाग्रत अवस्था में है, तथा तैजस को स्वप्न अवस्था में है। इसलिये दोनों अवस्था को यहाँ स्वप्न संज्ञा से कहा है। आत्मतत्त्व का अज्ञान निद्रा है। इस जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का अभिमानी विश्व तैजस, और प्राज्ञ इन तीनों में है। जब यह स्वप्न और निद्रा का विपर्यास मिथ्याज्ञान विद्या के द्वारा क्षय को प्राप्त होता है, तब अर्थात् आत्मवस्तु का अग्रहण और अन्यथा ग्रहण का नाश होता है, तव तुरीय अर्थात् अद्वैत पद का पुरुष अनुभव करता है।

नन्वस्त्वेवमसंप्रज्ञातसमाधिसुषुप्त्योर्महान् भेदः। तत्र तत्त्वदिदृक्षोर्दर्शनसाधनत्वेन समाध्यपेक्षायामपि दृष्टतत्त्वस्य जीवन्मुक्तये नास्ति तदपेक्षा। रागद्वेषादिक्लेशबन्धस्य सुषुप्त्याऽपि निवृत्तेः।

शङ्का—जिसको तत्त्वदर्शन की इच्छा है, उस को समाधि या जो आत्मसाक्षात्कार का साधन है, उस की अपेक्षा भले हो, परन्तु जिसको विविदिषा सन्यास में ही आत्मज्ञान हो चुका है उसको जीवन्मुक्ति के लिये समाधि का कोई प्रयोजन नहीं दीख पड़ता है। क्योंकि राग-द्वेष आदि क्लेश रूप बन्धकी निवृत्ति तो सुषुप्ति जो अनायास से जीव को प्राप्त होती है, उसके द्वारा भी होती है।

मैवम्। किं प्रतिदिनं स्वतःप्राप्ता कादाचित्की सुषुप्तिर्बन्धनिवर्त्तिका, किं वाऽभ्यासेन निरन्तरवर्त्तिनी? आद्येऽपि किं

सुषुप्तिकालीनस्य क्लेशबन्धस्य निवृत्तिः किं वा कालान्तरवर्त्तिनः ? नाऽऽद्यः । अप्रसक्तेः । नहि मूढानामपि सुषुप्तौ क्लेशबन्धः । अन्यथाऽऽयासः प्रसज्येत । न द्वितीयः । असम्भवात् । न अन्यकालीनया सुषुप्त्या कालान्तरवर्त्तिनः नः क्लेशस्य क्षयः सम्भवति, अन्यथा मूढानामपि जागरणस्वप्नयोः क्लेशस्य क्षयः प्रसज्येत । नापि सुषुप्तौ नैरन्तर्यमभ्यसितुं शक्यम् । तस्याः कर्मक्षयनिमित्तत्वात् । तस्मात्तत्त्वविदोऽपि क्लेशक्षयायास्त्येवासंप्रज्ञातसमाध्यपेक्षा । तस्य च समाधेर्गवादिष्विव वाङ्निरोधः प्रथमा भूमिः । बालमूढादिष्विव निर्मनस्त्वं द्वितीया । तन्द्रायामिवाहङ्काररराहित्यं तृतीया । सुषुप्ताविव महत्तत्त्वराहित्यं चतुर्थी । तदेतद्भूमिचतुष्टयमभिप्रेत्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम् । अत्र चोपरमे धृतिगृहीता बुद्धिः साधनं महदहङ्कारमनोवागादीनां स्वत एव तीव्रवेगेन बहिः प्रवहतां कूलङ्कषाया नद्या इव निरोधे धैर्यं महदपेक्षितम् । बुद्धिविवेकः भूमिर्जिता न वेति परीक्षा । जिताया उत्तरभूम्युपक्रमः । अजितायां तु सैव पुनरभ्यसनीयेति तदा तदा विविच्यात् । आत्मसंस्थमित्यादिना सार्द्धश्लोकेन चतुर्थभूम्यभ्यासोऽपि स्मृतः । गौडपादाचार्या आहुः ।

समाधान—प्रतिदिन स्वयं अल्पकालपर्यन्त जो सुषुप्ति होती है, वह क्लेशरूप बन्ध का निवर्त्तक है, ऐसा तुम कहते हो ? या अभ्यास से सदा रहनेवाली सुषुप्ति को बन्ध निवर्त्तक कहते हो ? स्वल्प काल सुषुप्ति को क्लेश बन्ध निवर्तक कहते हो तो वह सुषुप्ति समय के क्लेश को हटाता है ? या अन्य समय के क्लेश को भी हटाता है ? यदि कहो कि सुषुप्ति समय के क्लेशको हटाता है, तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उस समय क्लेश का प्रसङ्ग ही नहीं है तो किसको हटाता है ? मूढ पुरुष को सुषुप्ति बन्ध नहीं होता है । जो बन्ध हो तो उसको हटाने के लिये प्रयत्न करना पड़े । यदि यह कहें कि वहाँ अन्य अवस्था के क्लेश को हटाता हैं, तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि अन्य काल में रही हुई सुषुप्ति से कालान्तर में हो रहे क्लेश की निवृत्ति

सम्भव नहीं है, ऐसा मानने पर तो मूढ पुरुषों का भी जाग्रत और स्वप्न के क्लेश का क्षय हो जावेगा। सदा सुषुप्ति की अनुवृत्ति रखने का अभ्यास नहीं बन सकता है। क्योंकि सुषुप्ति का कारण कर्मक्षय है। इसलिये तत्त्वज्ञ पुरुष को भी क्लेश का क्षय करने के लिये असंप्रज्ञात समाधि की अपेक्षा है। जैसे गाय, भैंस आदि पशुओं को स्वतः सिद्ध वाणी निरोध है, उस प्रकार का वाणी निरोध होना यह सम्प्रज्ञात समाधि की पहली भूमिका है। बालक और मूढ के समान मन रहित होना यह दूसरी भूमिका है। तन्द्रा में स्थित पुरुष के समान अहङ्कार रहित होना यह तीसरी भूमिका जानना चाहिए। सुषुप्ति के समान महत्तत्व (बुद्धि) रहित होना यह चौथी भूमिका है। इन चार भूमिकाओं का क्रमशः अभ्यास करने के अभिप्राय से 'धीरे-धीरे उपराम को प्राप्त होता है, ऐसा कहा है। धीरे-धीरे उपराम की प्राप्ति में सात्त्विक वृत्ति द्वारा वशीकृत बुद्धि कारण है। जैसे दो ओर बहती महा नदी के वेग के निरोध के लिये बहुत प्रयत्न की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार महत्तत्व, अहङ्कार, मन, और वाणी, आदि इन्द्रियाँ जो तीव्रवेग से बाह्य विषयों में बहा करती हैं, उनके निरोध में भी बड़ी धीरता की अपेक्षा है। 'शनैः शनैः' इस पूर्वोक्त भगवद्गीता के श्लोक में बुद्धि शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है।

प्रथम भूमिका का जय हुआ है या नहीं हुआ है इसकी परीक्षा कर, यदि जय हुआ हो तो दूसरी भूमिका का आरम्भ करो। और यदि प्रथम भूमिका का जय न हुआ हो तो, उसी भूमिका के जय के लिये बार-बार अभ्यास करो।

ऊपर दिया हुआ 'शनैः शनैः' श्लोकार्द्ध है। इस श्लोक का आधा इस प्रकार है "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्"। आत्मा में मन को स्थिर कर किसी भी विषय का चिन्तन न करे। यह उत्तरार्द्ध चौथी भूमिका का स्वरूप दिखलाता है।

गौडपादाचार्य इस प्रकार कहते हैं—

"उपायेन निगृह्णीयाद् विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥
नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरं चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अलिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥" इति ।

काम और भोग में विक्षिप्त मन का उपाय के द्वारा निग्रह करे । इसी प्रकार सुषुप्ति में यद्यपि चित्त आयास रहित है, तथापि उसका उससे निग्रह करे । क्योंकि जैसे काम अनर्थ का हेतु है । उसी प्रकार लय भी अनर्थ का ही हेतु है । सभी द्वैत-प्रपञ्च दुःखरूप हैं, इस प्रकार स्मरण कर विषयभोग से मन को रोके । सर्व जन्मरहित ब्रह्मरूप हैं, ऐसा स्मरण करता हुआ द्वैत को योगी नहीं देखता है । सुषुप्ति में लय को प्राप्त हुए चित्त को फिर शान्त करे । कषाययुक्त चित्त को जानना और समता को प्राप्त चित्त को गतिमान् न करे । समाधि से जो सुख होता है उसमें रागवान् न हो प्रत्युत विवेक बुद्धि से असङ्ग हो । निश्चल और बाहर न निकले चित्त को प्रयत्न से आत्मा के साथ एकरूपता को प्राप्त करे । जब चित्त फिर से लय को प्राप्त न हो, तथा विक्षेप को भी न प्राप्त हो और कषाय और रस के आस्वाद से रहित हो तब वह ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।

लयविक्षेपकषायसमप्राप्तयश्चतस्रश्चित्तस्यावस्थाः । तत्र निरुद्ध्यमानं चित्तं विषयेभ्यो व्यावृत्तं सत्पूर्वाभ्यासवशाद्यदि लयाय सुषुप्तयेऽभिमुखं भवेत्तदानीमुत्थापनप्रयत्नेन लयकारणनिवारणेन वा चित्तं सम्यक् प्रबोधयेत् । लयहेतवो निद्राशेषाजीर्णबह्वशनश्रमाः । अत एवाऽऽहुः ।

लय, विक्षेप, कषाय, और सम प्राप्ति ये चार चित्त की अवस्थायें हैं । वहाँ निरुध्यमान चित्त विषयों से अलग जो पूर्व के अभ्यास वश से सुषुप्ति के सन्मुख हो तो, उसको उत्थापन के प्रयत्न द्वारा या लय के कारणों के निवारण के द्वारा भली-भाँति जाग्रत करे । निद्रा, अजीर्ण, बहुभोजन, और परिश्रम ये चित्त को लय होने का कारण है । अत एव कहा है ।

"समापय्य निद्रां सजीर्णाल्पभोजी
श्रमत्याग्यबाधे विविक्ते प्रदेशे ।
सदाऽऽसीत निस्तृष्ण एवाऽप्रयत्नो-
ऽथ वा प्राणरोधो निजाभ्यासमार्गात् ॥" इति ।

सहज में जो पच जावे इतना भोजन करने वाला और श्रम को त्यागने वाला पुरुष परिमित निद्रा कर तृष्णा रहित और प्रयत्नरहित हो एकान्त देश में सदा रहे, या अभ्यास करता हो तो इस प्रकार प्राणायाम करे ।

लयादुत्थापितं चित्तं दैनंदिनप्रबोधाभ्यासवशाद्यदि कामभोगयोर्विक्षिप्यते तदा विवेकिजनप्रसिद्धभोग्यवस्तुगतसर्वदुःखानुस्मरणेन शास्त्रप्रसिद्धजन्मादिरहिताद्वितीयब्रह्मतत्त्वाऽनुस्मरणपूर्वकेन भोग्यवस्त्वदर्शनेन च पुनःपुनर्विक्षेपाच्चित्तं शमयेत् । कषायस्तीव्रचित्तदोषस्तीव्ररागद्वेषादिवासनाः तयाग्रस्तं चित्तं कदाचित्समाहितमिव लयविक्षेपरहितं दुःखैकाग्रमवतिष्ठते तादृशं तच्चित्तं विजानीयात् । समाहितचित्ताद्विवेकेनावगच्छेत् । असमाहितमेतदित्यवगम्य लयविक्षेपवत्कषायस्य प्रतीकारं कुर्यात् । समशब्देन ब्रह्माभिधीयते ।

लय से उठा हुआ चित्त प्रतिदिन जाग्रत् अवस्था के अभ्यास के कारण जो काम, और भोग मे विक्षेप को प्राप्त हो तो विवेकी पुरुष, साक्षात् अनुभव किये भोग्य पदार्थों से प्राप्त दुःखों का बार-बार स्मरण करने से और शास्त्र प्रसिद्ध, जन्मादिविकार रहित अद्वितीय ब्रह्मवस्तु का स्मरण पूर्वक भोग्य वस्तु के अदर्शन करने से, विक्षेप से चित्त को बार-बार शमन करे । कषाय, तीव्र राग द्वेषादि वासना चित्त गत महान् दोष है । इस तीव्र वासना के अधीन हुए चित्त को किसी समय समाधि में स्थित के समान हो वैसे दुःख में ही एकाग्र होकर रहे । अत एव उस प्रकार के चित्त को समाहित से अलग हुआ जाने या यह चित्त समाहित नहीं है । परन्तु तीव्रवासना के वश दुःख में एकाग्र होता है । ऐसा समझ कर लय और विक्षेप के समान कषाय के भी निरोध का उपाय करे । 'सम' शब्द ब्रह्म का वाचक है

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" इति स्मृतेः लयविक्षेपकषायेषु परिहृतेषु परिशेषाच्चित्तेन समं ब्रह्म प्राप्यते। तच्च समप्राप्तं चित्तं कषायलयभ्रान्त्या न चालयेत्। सूक्ष्मया बुद्ध्या लयकषायप्राप्ती विविच्य तस्यां समप्राप्तावतिप्रयत्नेन चिरं स्थापयेत्। स्थापिते तस्मिन्ब्रह्मस्वरूपभूते परमानन्दः सम्यगाविर्भवति। तथा चोदाहृतम्।

सब प्राणियों में स्थित ब्रह्मस्वरूप ईश्वर है, ऐसा भगवद्गीता में भी कहा है।

लय विक्षेप और कषाय को दूर कर वाद में चित्त ब्रह्मरूप होकर रहता है। वैसे चित्त को कषाय और लय की भ्रान्ति से चलायमान न करे। सूक्ष्म बुद्धि से, लय और कषाय के स्वरूप को जान कर ब्रह्म में चित्त को अतिशय प्रयत्न से चिरकाल पर्यन्त स्थापन करे। ऐसे स्थापन करने पर ब्रह्मानन्द प्रकट होता है। भगवद्गीता में कहा है—

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्" श्रुतिश्च भवति।

जो आत्यान्तिक सुख है वह बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय है। श्रुति भी ऐसा कहती है—

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो-
निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा
तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥" इति।

समाधि के द्वारा रागादि दोष रहित हुए और आत्मा में स्थापित चित्त में जो सुख का उदय होता है, वह सुख तब वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता है। उस सुख को केवल अन्तःकरण ही ग्रहण करता है।

ननु समाध्याविर्भूतब्रह्मानन्दस्य बुद्धिग्राह्यत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यामभिहितम्। आचार्यैस्तु "नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र" इति बुद्धिग्राह्यत्वं प्रतिषिद्ध्यते।

शङ्का—पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति में समाधि के द्वारा आविर्भूत ब्रह्मसुख का बुद्धि से ग्रहण होता है, ऐसा कहा है, और गौडपादाचार्य तो (नास्वादं) समाधि में सुख का स्वाद न ले इस वाक्य से समाधि-काल के ब्रह्मसुख का बुद्धि से ग्रहण नहीं होता है, ऐसा कहते हैं, इसलिये आचार्य के वचन और श्रुति के वचन में परस्पर विरोध आता है।

नायं दोषः। तत्र निरोधसुखं बुद्धिग्राह्यं न प्रतिषिद्ध्यते, किन्तु समाधिविरोधिनो व्युत्थानरूपस्य परामर्शस्यैव प्रतिषेधात्। यथा निदाघदिवसेषु मध्याह्ने जाह्नवीह्रदनिमग्नेनानुभूयमानमपि शैत्यसुखं तदा वक्तुमशक्यं पश्चादुन्मग्नेनाभिधीयते। यथा वा सुषुप्तावविद्यावृत्तिभिरतिसूक्ष्माभिरनुभूयमानमपि स्वरूपसुखं तदानीं सविकल्पकेनान्तःकरणवृत्तिज्ञानेन ग्रहीतुमशक्यम्। प्रबोध-काले तु स्मृत्या विस्पष्टं परामृश्यते। तथा समाधौ वृत्तिरहितेन संस्कारमात्रशेषतया सूक्ष्मेण वा चित्तेन सुखानुभवः श्रुतिस्मृत्यो-र्विवक्षितः। महदिदं समाधिसुखमन्वभूवमित्येतादृशो व्युत्थितस्य सविकल्पकः परामर्शोऽत्राऽऽस्वादनम्। तदेवाऽऽचार्यैः प्रति-षिद्ध्यते। तमेव स्वाभिप्रायं प्रकटयितुं निःसङ्गः प्रज्ञया भवे-दित्युक्तम्। प्रकृष्टं सविकल्पकज्ञानं प्रज्ञा तया सह सङ्गं परि-त्यजेत्। यद्वा पूर्वोक्ता धृतिगृहीता बुद्धिः प्रज्ञा। तदात्मकेन साधनेन सुखास्वादनतद्वर्णनादिरूपामासक्तिं वर्जयेत्।

समाधान—आचार्य्य के वचन का तात्पर्य्य समाधि सुख बुद्धि ग्राह्य नहीं है, ऐसा नहीं है, परन्तु समाधि से जाग्रत् होने पर समाधि सुख का स्मरण समाधि का विरोधी है, और जिसको रस का आस्वाद कहते हैं, उसका निषेध विवक्षित है। जैसे उष्ण काल के दिनों में मध्याह्न के समय में गंगा के जल में निमग्न पुरुष उस समय शीतलता के सुख का अनुभव करता है, तथापि मुख से नहीं कह सकता है, परन्तु बाहर आने पर कहता है, यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में स्थित पुरुष अतिशय सूक्ष्म अविद्यारूप वृत्ति से स्वरूप सुख का अनुभव करता है। तथापि वह सविकल्प अन्तःकरण की वृत्ति से

उसका ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि उस समय वृत्तियाँ अविद्या में लय को प्राप्त कर लेती हैं। परन्तु जागने पर उस सुख का स्मरण होता है। उसी प्रकार समाधि में वृत्तिरहित या केवल चित्त का संस्कारमात्र शेष होने से अत्यन्त सूक्ष्म चित्त से सुख का अनुभव होता है, ऐसा श्रुति, स्मृति कहती है। आचार्य्य तो, समाधि से जाग्रत् होने पर 'आह ! समाधि के अतिशय सुख का अनुभव किया है' इस प्रकार का स्मरण जिसको योग शास्त्र में रस का आस्वाद कहते हैं, उसका निषेध करते हैं। इसी अभिप्राय को व्यक्त के लिये 'नास्वादयेत्' इस पाद के बाद 'निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' (धीरता के साथ वशीकृत बुद्धि से समाधि सुख का स्मरण और वाणी से उसका अन्य के आगे कथन इस रूप आसक्ति का त्याग करे) ऐसा पाठ पढ़ा है। पूर्वोक्त धैर्य के द्वारा वश में की हुई बुद्धिरूप साधन से समाधि सुख का स्मरण और उसका अन्य के आगे प्रकट करना रूप आसक्ति या सविकल्प ज्ञान के साथ की आसक्ति का त्याग करे।

समाधौ ब्रह्मानन्दे निमग्नं चित्तं यदि कदाचित्सुखास्वादनाय वा शीतवातमशकाद्युपद्रवेण वा निश्चरेत्तदा निश्चरत्तच्चित्तं पुनर्निश्चलं यथा भवति तथा परब्रह्मणा सहैकीकुर्यात्। तत्र च निरोधप्रयत्न एव साधनम्। एकीभाव एव "यदा न लीयते" इत्यनेन स्पष्टीक्रियते। "अलिङ्गनमनाभास"मित्याभ्यां पदाभ्यां कषायसुखास्वादौ प्रतिषिध्येते।

समाधि दशा में ब्रह्मानन्द में मग्न होने पर चित्त, जो किसी समय विषय सुख के स्वाद लेने के लिये, या शीत, पवन, या मच्छर आदि के उपद्रव के कारण निकले तो उस चित्त को पुनः प्रयत्न से परमात्मा में एक रूप करे। एक रूप करने में साधन निरोधरूप प्रयत्न है। 'यदा न लीयते' इस वाक्य से एकीभाव स्पष्ट किया है। अलिङ्गनमनाभासं इस वाक्य से कषाय, और सुखास्वाद का निषेध किया है।

लयविक्षेपकषायसुखास्वादेभ्यो रहितं चित्तमविघ्नेन ब्रह्मण्यवस्थितं भवति। एतदेवाभिप्रेत्य कठवल्लीषु पठ्यते—

इस प्रकार पूर्वोक्त लय, विक्षेप, कषाय, और सुखास्वाद से मुक्त हुआ चित्त, निर्विघ्नता से, ब्रह्म में स्थिरता को प्राप्त करता है।

इसी अभिप्राय से कठवल्ली उपनिषद् की श्रुति में कहा है—

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमाङ्गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ इति ।

उपेक्षितो योग इन्द्रियवृत्तीनां प्रभवं करोति । अनुष्ठितस्तु तासां लयहेतुः ।

जब मनुष्य के इन्द्रियरूप छिद्रों से निकलनेवाली बाह्यवृत्ति और भीतर अन्तःकरणों में ठहरनेवाली बुद्धिरूप वृत्ति सब उपद्रवों से रहित शान्त स्थिर होती है, किसी प्रकार अपने नियतस्वभाव से विरुद्ध नहीं होती है, तब जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त हुए ज्ञानी के लिए मुक्ति का द्वार खुल गया है, यह मानो । जब योगाभ्यास से सभी इन्द्रियाँ दृढरूप से स्थिर जीत ली जाती हैं, तब योगसिद्धि होने का अनुमान निश्चित हो जाता है । योग की वृत्ति में नवीन शुद्ध संस्कारों की प्रकटता और पहिले दुष्ट संस्कारों का तिरोभाव हो जाता है, तब स्वरूप में स्थित प्रमाद रहित द्रष्टा यथार्थरूप से सबको जानता है । उपेक्षित योग इन्द्रियों की वृत्तियों को उत्पन्न करता है, तथा सम्यक् साधित योग इन्द्रियों की वृत्तियों का लय करता है ।

अत एव योगस्य स्वरूपलक्षणं सूत्रयति "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः" (पा. सू. १।४) इति । वृत्तीनामानन्त्यान्निरोधोऽशक्य इति शङ्कां वारयितुमियत्तां सूत्रयति "वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः" (पा. सू. १।५) इति । रागद्वेषादिक्लेशरूपा आसुरवृत्तयः क्लिष्टाः । रागादिरहिता दैववृत्तयोऽक्लिष्टाः । यद्यपि पञ्चस्वेव क्लिष्टानामक्लिष्टानां चान्तर्भावस्तथाऽपि क्लिष्टा एव निरोद्धव्या इति मन्दबुद्धिं वारयितुं ताभिः सहाक्लिष्टा अप्युदाहृताः । नामधेयलक्षणाभ्यां वृत्तिं विशेषयितुं सूत्रषट्कमाह ।

इसलिये भगवान् पतञ्जलि योग का लक्षण इस प्रकार कहते हैं। 'चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है । चित्त की वृत्तियाँ तो अनेक हैं, इसलिये उन सबका निरोध कैसे हो सकता है ? इस शङ्का

को दूर करने के लिये सूत्र—'क्लेश रूप और अक्लेश रूप पाँच वृत्तियाँ हैं' राग-द्वेष आदि क्लेश के कारणरूप आसुरी वृत्तियों को क्लेशरूप जानना और रागादि दोष रहित वृत्तियों को अक्लिष्ट जानना चाहिए। इन सब वृत्तियों का पाँच वृत्तियों में ही अन्तर्भाव होता है। इनमें क्लिष्टवृत्तियाँ ही निरोध करने योग्य हैं, ऐसी मन्द-बुद्धियों की शङ्का को दूर करने के लिये क्लिष्ट वृत्तियों के साथ अक्लिष्ट वृत्तियों का ग्रहण किया है। अर्थात् दोनों तरह की वृत्तियों का निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करने की इच्छावाला पुरुष अवश्य निरोध करे। वृत्तियों के नाम और लक्षण से वृत्तियों का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले भगवान् पतञ्जलि के छः सूत्र हैं।

"प्रमाणविपर्यविकल्पनिद्रास्मृतयः। (पा. सू. १।६) प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि (पा. सू. १।७) विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। (पा. सू. १।८) शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। (पा. सू. १।९) अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। (पा. सू. १।१०) अनुभूतविषयस्यासंप्रमोषः स्मृतिः" (पा. सू. १।११) इति। वस्त्वभावः प्रतीयते यस्मिंस्तमस्यावरके सति तत्तमोऽभावप्रत्ययः। तमोगुणं विषयं कुर्वती वृत्तिर्निद्रेत्युच्यते। अनुभूतविषयस्यासंप्रमोषस्तदनुभव-जन्यमनुसन्धानम्। पञ्चधीवृत्तिनिरोधसाधनं सूत्रयति।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति ये पाँच तरह की वृत्तियाँ हैं। प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण वृत्तियाँ हैं। अपने मुख्य अर्थ में न ठहरने वाला अर्थात् उत्तर काल में बाध प्राप्त होनेवाला जो मिथ्याज्ञान उसको विपर्यय' कहते हैं। शब्द मात्र से जिसका ज्ञान होता है, परन्तु शब्द के अनुसार अर्थ नहीं रहता है, उसको 'विकल्प' कहते हैं। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था की वृत्तियों के अभाव का कारण तमोगुण जिसका विषय है, ऐसी वृत्ति को निद्रा कहते हैं। अनुभव किये हुए विषय के संस्कार के उद्भव के द्वारा मानसिक ज्ञान का होना 'स्मृति' है। इन पाँच प्रकार की वत्तियों के निरोध के साधनों का निरूपण करने वाला सूत्र इस भाँति है—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (पा. सू. १।५) इति। यथा तीव्रवेगोपेतं नदीप्रवाहं सेतुबन्धनेन निवार्य कुल्याः प्रणयनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक् प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते तथा वैराग्येण चित्त-नद्या विषयग्राहं निवार्य्य तस्याः समाध्यभ्यासेन प्रशान्तः प्रवाहः सम्पाद्यते।

'अभ्यास और वैराग्य द्वारा उन वृत्तियों का निरोध होता है। जैसे तीव्रवेगवाली नदी के प्रवाह को पुल बाँधकर रोक दिया जाता है और उस नदी में नहर खोदकर उसका एक प्रवाह खेत की ओर किया जाता है, उसी प्रकार वैराग्य से चित्तरूप नदी के विषय की ओर जाने वाले प्रवाह को रोक कर समाधि के अभ्यास के द्वारा उसका एक शान्त प्रवाह किया जा सकता है।

मन्त्रजपदेवताध्यानादीनां क्रियारूपत्वेनाऽऽवृत्तिलक्षणोऽभ्यासः सम्पाद्यते, सर्वव्यापारोपरमरूपस्य समाधेः को नामाभ्यास इति शङ्कां वारयितुं सूत्रयति—

शङ्का—मन्त्रजप देवताध्यानादि क्रिया रूप होने से, उसका आवृत्तिरूप अभ्यास सम्भव है, परन्तु सब व्यापारों का उपरम रूप समाधि का अभ्यास कैसे सम्भव हो सकता है?

"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" (पा. सू. १।७) इति। स्थितिर्नैश्चल्यं निरोधः। यतो मानस उत्साहः स्वत एव बहिः प्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोधयामीत्येवंविध उत्साह आवर्त्यमानोऽभ्यास इत्युच्यते। अयमभ्यास इदानीं प्रवृत्तः स्वयमदृढः सन्ननादिप्रवृत्ता व्युत्थानवासनाः कथमभिभवेदित्याशङ्कामपवदितुं सूत्रयति।

समाधान—(शङ्का का उत्तररूप सूत्र) चित्त की एकाग्रता के लिये बार-बार उत्साह पूर्वक प्रयत्न करने का नाम अभ्यास है। चित्त में व्युत्थान संस्कार अनादिकाल से प्रवृत्त होने से अत्यन्त सुदृढ़ रहता है। उसका वर्तमान काल में चित्त के निरोध के लिये एक जन्म का अभ्यास क्या कर सकता है? इस शङ्का को दूर करने के लिये अगला सूत्र है—

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" (पा.सू. १।८) इति। लोका हि मूढस्य वचनमुदाहरन्ति—विद्यमानाश्चत्वार एव वेदास्तानध्येतुं गतस्य माणवकस्य पञ्चदिवसा अतीता अद्याप्यसौ नागत इति। तादृश एवायं योगी तदा स्याद्यदा दिवसैर्मासैर्वा योगसिद्धिं वाञ्छेत्तस्मात्सम्वत्सरैर्जन्मभिर्वा दीर्घकालं योग आसेवितव्यः। तथा च स्मर्यते।

वह अभ्यास चिरकाल निरन्तर आदर पूर्वक, सेवन करने पर, दृढ़ होता है। इस प्रसङ्ग में लोग किसी मूढ़ का उदाहरण देते हैं कि—किसी एक मूढ़ ने अपने पुत्र को वेद पढ़ने के लिये भेजा। जब उस लड़के को गये पाँच दिन बीते तब उस पुरुष ने विचार किया कि वेद तो केवल चार ही हैं, और पुत्र को गये पाँच दिन बीत गये तब भी वह आज तक पढ़ कर क्यों नहीं आया हैं? उसी प्रकार योगी अमुक दिवस से, या अमुक मास से, योगसिद्धि की आशा रखता हो तो वह भी ऊपर के उदारण में दिये हुए मूढ़ पुरुष के समान है। अत एव अनेक मास पर्यन्त, बहुत वर्षों तक, और बहुत जन्म पर्यन्त भी जब तक फल की प्रतीति न हो तब तक योग सेवन करना चाहिए, कायर न होना चाहिए। इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र ने भी कहा है।

"अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्" इति।

चिरमासेव्यमानोऽपि यदि विच्छिद्य विच्छिद्य सेव्येत तर्ह्युत्पद्यमानानां योगसंस्काराणां समनन्तरभाविभिर्व्युच्छेदकालीनैर्व्युत्थानसंस्कारैरभिभवे सति खण्डनकारोक्तन्याय आपतेत्—"अग्रे धावन्पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशीलश्रुतवत् किमालम्बेतेति"। सत्कार आदरः। अनादरेण सेव्यमाने वसिष्ठोक्तन्याय आपतेत्।

अनेक जन्मों के अभ्यास से सिद्धि को प्राप्त कर पुरुष परा गति को पाता है। योग का सेवन चिरकाल अर्थात् बहुत मास या वर्षों तक परन्तु एक दिन करके पुनः पांच दिन न करे, इस तरह बहुत समय तक भी योग करने से कोई फल नहीं होगा, क्योंकि बीच-बीच में

जितना समय खाली पड़ जाता है, उतने समय में उद्भव हुए व्युत्थान संस्कार से निरोध संस्कार का अभिभव होता है। उससे भूलने का स्वभाव रहने वाले विद्यार्थी के समान आगे दौड़ता है, और पीछे को भूलता जाता है, वह क्या फल पा सकता है? यह खण्डनकार का कहा हुआ न्याय (प्रमाण बना) है। अत एव निरन्तर योग का सेवन करना चाहिये। अनादर पूर्वक सेवन करने से वसिष्ठ मुनि के द्वारा कहे हुए न्याय के समान होगा।

"अकर्तृकुर्वदप्येतच्चेतश्चेत् क्षीणवासनम्।
दूरंगतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा॥" इति।

जैसे कथा सुनने वाले का चित्त कथा को छोड़ कर विषयान्तर में भटकता हो तो कथा सुनने पर भी कुछ भी नहीं सुना उसी तरह जो चित्त वासना रहित हो गया है, तो वह आवश्यक व्यवहार करता हुआ भी वह कुछ भी नहीं करता है।

अनादरो लयविक्षेपकषायसुखास्वादनानामपरिहारः। तस्मादादरेण सेवितव्यः। दीर्घकालादित्रैविध्येन सेवितस्य समाधेर्दृढभूमित्वं नाम विषयसुखवासनया दुःखवासनया वा चालयितुमशक्यत्वम्। तच्च भगवता दर्शितम्।

लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद जो समाधि में विघ्नरूप है, उन में कोई भी समाधि के समय प्राप्त हो तो उस को रोकने के लिये प्रयत्न न करना, यह योगी के लिये अनादर है। इसलिये उनका निवारणरूप आदर से योग सेवन करने योग्य है। चिरकाल तक निरन्तर आदर पूर्वक सेवन किया हुआ या दृढ़ता को प्राप्त होता है ऐसा पहिले कहा गया है। वहाँ विषय सुख की वासना से या दुःखवासना से समाधि से हटाना सम्भव नहीं है। यह बात भगवद्गीता में श्रीकृष्ण जी ने कहा है।

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥" इति।

अपरलाभस्यानाधिक्यं कचवृत्तान्तेन वसिष्ठे उदाजहार।

वृत्ति के निरोध अवस्था को पहुंचा योगी उस से अधिक किसी

लोभ को नहीं मानता है और जिस अवस्था में स्थिर होकर बड़े शस्त्राघात आदि दुःखों से भी नहीं डोलता है।

समाधि की अपेक्षा अन्य लाभ बढ़कर नहीं है, यह बात श्रीवसिष्ठ भगवान् ने कच के इतिहास में स्पष्ट की है।

"कचः कदाचिदुत्थाय समाधेः प्रीतमानसः।
एकान्ते समुवाचेदमेवं गद्गदया गिरा॥
किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा॥
स बाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च।
इत आत्मा तथेहाऽऽत्मा नास्त्यनात्ममयं जगत्॥
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं जगत्॥
स्फारब्रह्मामलाम्भोधिफेनाः सर्वे कुलाचलाः।
चिदादित्यमहातेजोमृगतृष्णा जगच्छ्रियः॥" इति।

गुरुदुःखेनाप्यविचालित्वं शिखिध्वजस्य वत्सरत्रयसमाधिवृत्तान्तेनोदाजहार।

"एक समय कच समाधि से उठकर प्रसन्नचित्त एकान्त में गद्गद-वाणी से इस प्रकार बोला कि—जैसे महाप्रलय के समय सारा जगत् जल से पूर्ण हो जाता है उसी तरह यहाँ आत्मा द्वारा पूर्ण है, इसलिये मैं क्या करूं? कहाँ जाऊँ? किसे ग्रहण करूँ? किसे छोड़ूँ? अर्थात् एक भी वस्तु में ये सब सम्भव नहीं है। देह के बाहर, भीतर ऊपर, नीचे, सब ओर, सब जगह, आत्मा ही है। विना आत्मा के कोई जगह नहीं है। जहाँ मैं न होऊँ ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं हैं वैसे जो मुझ में नहीं है, ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिये किस अन्य वस्तु की मैं इच्छा करूं? सब चैतन्यमय है। निरवधि ब्रह्मरूप समुद्र के फेन की राशि (ढेर) रूप सब पर्वत है, और चैतन्य सूर्य के महान् तेज में यह जगत् रचनारूप मृगतृष्णा है"।

महा दुःख से भी योगी चलायमान नहीं होता है यह शिखिध्वज की तीन वर्षों की समाधि के वृत्तान्त से स्पष्ट है।

"निर्विकल्पसमाधिस्थं तत्रापश्यन्महीपतिम्।
राजानं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात्॥
इति संचिन्त्य चूडाला सिंहनादं चकार सा।
भूयोभूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम्॥
न चचाल तदा राम! यदा नादेन तेन सः।
भूयोभूयः कृतेनापि तदा सा ते व्यचालयत्॥
चालितः पातितोऽप्येष तदा न बुबुधे बुधः॥" इति।

प्रह्लादवृत्तान्तेनाप्येतदेवोदाजहार।

चूडाला नामक स्त्री ने अपने पति शिखिध्वज को निर्विकल्प समाधि में स्थित देखकर विचार किया कि राजा परमपद में लीन हुआ है, उसको उस से जगाऊँ तो ठीक है, ऐसा विचार कर उसने सब वनवासियों को भय देने वाला बार-बार सिंह के समान गर्जन किया तो भी वह समाधि में से न उठा, तब उसको खूब हिलाया, और नीचे गिराया, तब भी वह नहीं जगा।

प्रह्लाद की कथा से भी यही बात सूचित होती है।

"इति संचिन्तयन्नेव प्रह्लादः परवीरहा।
निर्विकल्पपरानन्दसमाधिं समुपाययौ॥
निर्विकल्पसमाधिस्थश्चित्रार्पित इवाऽबभौ।
पञ्चवर्षसहस्राणि पीनाङ्गोऽतिष्ठदेकदृक्॥
महात्मन्संप्रबुध्यस्वेत्येवं विष्णुरुदाहरत्।
पाञ्चजन्यं प्रदध्मौ च ध्वनयन्ककुभां गणम्।
महता तेन शब्देन वैष्णवप्राणजन्मना॥
बभूव संप्रबुद्धात्मा दानवेशः शनैः शनैः॥" इति।

शत्रु का नाश करनेवाले प्रह्लाद ने ऐसा विचार कर परम आनन्द स्वरूप निर्विकल्प समाधि में स्थिति की थी। इस समाधि में स्थित हुए प्रह्लाद चित्र में स्थित मूर्त्ति की नाई शोभायमान था। एक आत्मरूप लक्ष्य, स्थान में दृष्टि डाल ५००० हजार वर्ष तक समाधि में स्थित रहने पर, उसका शरीर हृष्ट पुष्ट था। उसके बाद विष्णु

भगवान् उसके पास पधार कर बोले कि "हे महात्मन् ! तुम जागो। इस पर भी वह न उठा तब दिशाओं को नाद से पूर्ण करने वाले पाञ्चजन्य नामक शंख का नाद किया"। यह श्रीविष्णु के प्राणवायु द्वारा उत्पन्न हुए महाशब्द से दानवपति (प्रह्लाद) धीरे-धीरे जाग उठा।

एवं वीतहव्यादीनामपि समाधिरुदाहरणीयः । वैराग्यं द्विविधम् अपरं परं चेति। यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारभेदैरपरं चतुर्विधम्। तत्राऽऽद्यं त्रयमर्थात्सूत्रयन्साक्षात् चतुर्थं सूत्रयति।

इस भांति वीतहव्य आदि महात्माओं की समाधि को भी दृष्टान्तरूप से जानना चाहिए। वैराग्य दो प्रकार का है एक पर वैराग्य, दूसरा अपर वैराग्य। इनमें यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार इस प्रकार अपर वैराग्य के चार प्रकार हैं। इन ४ प्रकार के वैराग्य में पहिले तीन प्रकार के वैराग्य को तात्पर्य के द्वारा चतुर्थ को साक्षात् कहनेवाला सूत्र कहा है:—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" (पा. सू १।७) इति। स्रक्चन्दनवनितापुत्रमित्रक्षेत्रधनादयो दृष्टाः। वेदोक्ताः स्वर्गादयः आनुश्रविकाः तत्रोभयत्र सत्यामपि तृष्णायां विवेकतारतम्येन यतमानादिवैराग्यत्रयं भवति। अस्मिंश्च जगति किं सारं किमसारमिति गुरुशास्त्राभ्यां ज्ञास्यामीत्युद्योगो यतमानत्वम्(१) स्वचित्ते पूर्वं विद्यमानानां दोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानेन विवेकेनैतावन्तः पक्वा एतावन्तोऽवशिष्टा इति विवेचनं व्यतिरेकः(२) दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन तां प्रवृत्तिं परित्यज्य मनस्यौत्सुक्यमात्रेण तृष्णावस्थानमेकेन्द्रियत्वम् (३) वितृष्णत्वं वशीकारः (४) तदिदमपरं वैराग्यमष्टाङ्गयोगप्रवर्तकत्वेन संप्रज्ञातस्यान्तरङ्गम्। असंप्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम्। तस्यान्तरङ्गं परं वैराग्यं सूत्रयति।

देखे और सुने हुए विषयों से तृष्णा रहित पुरुष की उस विषय में

जो उपेक्षा बुद्धि होती है उसको वशीकार नाम का वैराग्य कहते हैं। माला, चन्दन, स्त्री, पुत्र, घर, क्षेत्र आदि दृष्ट (प्रत्यक्ष) विषय है। केवल वेद आदि शास्त्र प्रतिपादित स्वर्ग आदि 'आनुश्रविक' (अप्रत्यक्ष) है। वह इन दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की तृष्णा होनेपर भी विवेक के तारतम्य से यतमानादि वैराग्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इस जगत् में साररूप क्या है, और असार क्या है? इस प्रकार मुझे गुरु और शास्त्र से जानना चाहिये ऐसे उद्योग का नाम यतमान वैराग्य है। विवेक के अभ्यास करने के पहिले जो-जो दोष मुझ में विद्यमान थे उनमें वर्त्तमान विवेक अभ्यास करने से, इतने दोष हट गये और अब इतने बाकी रहे इस प्रकार के विवेक को व्यतिरेक वैराग्य कहते हैं। दृष्ट और श्रुत विषयों में प्रवृत्ति को दुःख रूप समझ कर उस प्रवृत्ति का त्याग करने पर मन में कई एक तृष्णा का अंश रहे उसको एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं। केवल निस्तृष्णापन को 'वशीकार' वैराग्य कहते हैं। ये चार प्रकार के अपर वैराग्य अष्टाङ्गयोग में प्रवृत्ति कराते हैं, इसलिए वे संप्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन हैं और असंप्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन है। असंप्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग साधन रूप पर वैराग्य का निरूपण करने वाला सूत्र है।

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" (पा. सू. १।१६) इति। सम्प्रज्ञातसमाधिपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधानाद्विविक्तस्य पुरुषस्य ख्यातिः साक्षात्कारादशेषगुणत्रयव्यवहारे यद्वैतृष्ण्यं तत्परं वैराग्यम्। तस्य तारतम्येन समाधेः शीघ्रत्वतारतम्ये सूत्रयति।

आत्मा के साक्षात्कार होने से तीन गुण और उनके कार्यों में जो तृष्णा राहित्य है उसको 'पर वैराग्य' कहते हैं। इस वैराग्य में न्यूनाधिक्य के कारण समाधि की शीघ्रता में जो तारतम्य होता है, उसको भगवान् पतञ्जलि कहते हैं।

"तीव्रसंयोगानामासन्नः समाधिलाभः" (पा.सू.१।४६) इति। संवेगो वैराग्यम्। तद्भेदाद्योगिनस्त्रिविधा मृदुसंवेगाः मध्यसंवेगास्तीव्रसंवेगाश्चेति। आसन्नोऽल्पेनैव कालेन समाधिर्लभ्यत इत्यर्थः। तीव्रसंवेगेष्वेव समाधितारतम्यं सूत्रयति।

वैराग्य के भेद के कारण तीन प्रकार के योगी होते हैं, एक मृदु-वैराग्य वाला दूसरा मध्यमवैराग्यवाला और तीसरा तीव्र वैराग्य-वाला इनमें से तीव्र वैराग्यवान् को समाधि शीघ्र ही समय में सिद्ध होती है। तीव्र वैराग्यवान् में भी समाधिसिद्धि के समय न्यूनाधिकता का प्रतिपादन करनेवाला सूत्र।

"मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः" (पा.सू. १।२२) इति। मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। तेष्वप्युत्तरोत्तरस्य त्वरया सिद्धिर्द्रष्टव्या। उत्तमोत्तमा जनकप्रह्लादादयोऽधिमात्र-तीव्राः मुहूर्त्तमात्रविचारेण दृढसमाधिलाभात्। अधमाधमा उद्दालकादयो मृदुसंवेगाः, चिरप्रयासेन तल्लाभात्। एवमन्येऽपि यथायोगमुन्नेयाः। तदेवमधितीव्रस्य दृढभूमावसंप्रज्ञातसमाधौ लब्धे सति पुनर्व्युत्थातुमशक्यं सन्मनो नश्यति। मनोनाशेन वासनाक्षये रक्षिते सति जीवन्मुक्तिः सुप्रतिष्ठिता भवति। न च मनोनाशेन विदेहमुक्तिरेव न तु जीवन्मुक्तिरिति शङ्कनीयम्। प्रश्नोत्तराभ्यां तन्निर्णयात्। श्रीरामः।

'मृदु तीव्र, वैराग्यवान् योगी को जल्दी से समाधि का लाभ होता है, मध्य तीव्र वैराग्य वाले को उससे भी जल्दी समाधि का लाभ होता है' उत्तमोत्तम जनक प्रह्लाद आदि को मुहूर्त्तमात्र विचार करने से समाधि का लाभ हुआ था, इसलिये वे अतिशय तीव्र वैराग्यवान् समझे गये। अधमों में अधम उद्दालक आदि को मृदुवैराग्यवान् जानो। क्योंकि उनको बड़े परिश्रम से समाधि की प्राप्ति हुई थी। इस प्रकार और को भी जान लेना चाहिए। इस प्रकार अतिशय तीव्र वैराग्यवान् पुरुष को अत्यन्त दृढ़ असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होने से पुनः व्युत्थान के प्राप्त होने में अशक्त होने से मन नाश को प्राप्त हो जाता है, मन के नाश होने से वासनाक्षय का संरक्षण होता है और उससे जीवन्मुक्ति की स्थिरता प्राप्त होती है। मन के नाश से विदेह-मुक्ति सिद्ध होती है, जीवन्मुक्ति सिद्ध नहीं होती है, ऐसी शङ्का न करे। क्योंकि योगवासिष्ठ में श्रीराम और वसिष्ठ मुनि के प्रश्नोत्तर में जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा निर्णय हुआ है। श्री राम जी ने पूछा—

"विवेकाभ्युदयाच्चित्तस्वरूपेऽन्तर्हिते मुने ! ।
मैत्र्यादयो गुणाः कुत्र जायन्ते योगिनां वद ॥"

वसिष्ठः ।

हे मुने ! विवेक के उदय होने से चित्त का स्वरूप नाश हो जाता है, इसलिये योगियों में मैत्री, मुदिता, आदि गुण चित्त के विना कहाँ उत्पन्न होंगे ? इस पर वसिष्ठ जी ने कहा—

"द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपोदेहमुक्तिगः ॥
प्राकृतं गुणसम्भारं ममेति बहु मन्यते ।
सुखदुःखाद्यवष्टब्धं विद्यमानं मनो विदुः ॥
चेतसः कथिता सत्ता मया रघुकुलोद्वह ! ।
अस्य नाशमिदानीं त्वं शृणु प्रश्नविदां वर ! ॥
सुखदुःखदशा धीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निःश्वासा इव शैलेन्द्रं तस्य चित्तं मृतं विदुः ॥
आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्द्यं महोत्सवः ।
यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं मनो विदुः ॥
चित्तमाशाभिधानं हि यदा नश्यति राघव ! ।
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं तदा सत्त्वमुदेत्यलम् ॥
भूयोजन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ।
सरूपोऽसौ मनोनाशे जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥
अरूपस्तु मनोनाशो यो मयोक्तो रघूद्वह ! ।
विदेहमुक्तावेवासौ विद्यते निष्कलात्मनः ॥
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ।
विदेहमुक्तावमले पदे परमपावने ॥
संशान्तदुःखमजडात्मकमेकरूप-
मानन्दमथरमपेतरजस्तमो यत् ।

आकाशकोशतनवोऽतनवोमहान्त-
स्तस्मिन्पदे गलितचित्तलवा वसन्ति ॥" इति ।
"जीवन्मुक्ता न मुह्यन्ति सुखदुःखरसस्थितौ ।
प्राकृतेनार्थकारेण किञ्चित् कुर्वन्ति वा न वा ॥"

तस्मात् सरूपोमनोनाशो जीवन्मुक्तिसाधनमिति स्थितम् ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्तिविवेके मनोनाश-
निरूपणं नाम तृतीयं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

'सरूपनाश' (सूक्ष्म स्वरूप रहे ऐसा नाश) और 'अरूपनाश' (निःशेष नाश) इस तरह चित्त का नाश दो प्रकार का है। जीवन्मुक्तदशा में चित्त के सरूप का नाश होता है और विदेह मुक्ति में अरूप नाश होता है। प्रकृति के गुण कार्यों को ममता बुद्धि पूर्वक जब आसक्ति से मन सेवन करता है और इससे ही सुख-दुःख आदि से युक्त होता है, तब वह मन विद्यमान है, ऐसा जानना चाहिए। हे रघुकुल में श्रेष्ठ रामचन्द्र जी! यह तो मैंने आपको चित्त की विद्यमानता का वर्णन किया है। अब हे प्रश्न जाननेवालों में श्रेष्ठ! उसके नाश को सुनो, जैसे साँस (निःश्वास) पहाड़ को हिला नहीं सकती है, वैसे सुख के समय या दुःख के समय जिसके चित्त की साम्य अवस्था भङ्ग नहीं हो सकती है, उस विवेकी पुरुष का चित्त नाश हुआ है ऐसा जानो। आपत्ति, कृपणता, उत्साह, मन्द, मन्दता और महोत्सव, जिसके रूप को बदल नहीं सकता (चलायमान नहीं कर सकता) अर्थात् हर्ष, शोक आदि के वश नहीं रह सकता, उसका चित्त नाश हुआ, ऐसा समझो, तृष्णा ही जिसका स्वरूप है, ऐसा चित्त का जब नाश होता है तब मैत्री आदि गुण युक्त सत्त्व का उदय प्राप्त होता है। इस मैत्री आदि गुण युक्त वाले पुरुष का चित्त पुनर्जन्मरहित होता है। इस प्रकार की चित्त की अवस्था जीवन्मुक्त पुरुष की होती है, उसको सरूपचित्तनाश कहते हैं। हे राघव! मैंने जो तुमको अरूप चित्त नाश कहा है, वह विदेह मुक्ति दशा में ही होता है। इस समय चित्त का कोई भी अंश बाकी नहीं रहता है।

विदेह मुक्ति में समग्र मैत्री आदि उत्तम गुण वाला चित्त भी परम पावन और निर्मल ऐसे परमात्मा के स्वरूप में ही लय को प्राप्त होता है। जिस पद में सारे दुःखों का अभाव है, जो चैतन्य रूप है, जो सदा एक रूप है, जिसमें रज और तम नहीं है और जो आनन्द-पूर्ण है उस पद में जिसके चित्त का नाश हुआ है ऐसा शरीर रहित हुआ और आकाश के समान सूक्ष्म महात्मा पुरुष सदा वास करता है, जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःख की स्थिति में मोह को प्राप्त नहीं करता है। प्रारब्ध से कुछ करता है और नहीं करता है। अत एव सरूप मनोनाश जीवन्मुक्ति का साधन है, यह बात सिद्ध हुई।

इस प्रकार जीवन्मुक्तिविवेक में मनोनाश नामक तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं स्वरूपसिद्धिप्रयोजनप्रकरणम् ।

केयं जीवन्मुक्तिः, ! किं वा तत्र प्रमाणम् , ! कथं वा तत्सिद्धिः, ! इत्येतस्य प्रश्नत्रयस्योत्तरं निरूपितम् । सिद्धया वा किं प्रयोजनमित्यस्य चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमिदानीमभिधीयते । ज्ञान-रक्षातपोविसंवादाभावदुःखनाशसुखाविर्भावाः पञ्च प्रयोजनानि । ननु प्रमाणोत्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य को नाम बाधप्रसङ्गः ! येन रक्षाऽपेक्ष्यत इति चेदुच्यते । चित्तविश्रान्त्यभावे संशयविपर्ययौ प्रसज्येयाताम् । तथा हि तत्त्वविदो राघवस्य विश्रान्तेः पूर्वं संशयं विश्वामित्र उदाजहार ।

जीवन्मुक्ति किसको कहते हैं ? उसमें क्या प्रमाण है ? और उसकी सिद्धि किस रीति से होती है ? इन तीन प्रश्नों के उत्तर का निरूपण हो चुका है । अब जीवन्मुक्ति के सिद्धि का क्या प्रयोजन है ? इस चौथे प्रश्न का उत्तर कहा जाता है ।

ज्ञान की रक्षा, तप, विसंवादाभाव, (विचार की निवृत्ति) दुःख की निवृत्ति और सुख का आविर्भाव ये पाँच जीवन्मुक्ति के प्रयोजन हैं ।

शङ्का—महावाक्यरूप प्रमाण से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान को कोई बाध करने वाला नहीं है । यदि श्रुति से कोई प्रबल प्रमाण हो तो उससे तत्त्वज्ञान का बाध हो, परन्तु श्रुति से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं है इसलिये महावाक्य श्रुति से उत्पन्न ज्ञान की रक्षा की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—तत्त्वज्ञान हो भी जाय तब भी जब तक चित्त की शान्ति नहीं होती है तब तक संशय विपर्यय होना सम्भव है ।

श्रीरामचन्द्र को तत्वज्ञान हुआ भी था, तब भी चित्त की विश्रान्ति होने के पहिले संशय उत्पन्न हुआ यह बात योगवासिष्ठ में प्रसिद्ध है ।

विश्वामित्र ने कहा—

"न राघव ! तवास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर ! ।
स्वस्यैव सूक्ष्मया बुद्धया सर्वं विज्ञातवानसि ॥
भगवद्व्यासपुत्रस्य शुकस्येव मतिस्तव ।
विश्रान्तिमात्रमेवात्र ज्ञानज्ञेयाऽप्यपेक्षते ॥" इति ।

शुकस्तु स्वयमेवाऽऽदौ तत्त्वं विदित्वा तत्र संशयानः पितरं दृष्ट्वा पित्रा तथैवानुशिष्टस्तथाऽपि संशयानो जनकमुपासाद्य-तेनाऽपि तथैवानुशिष्टस्तं प्रत्येवमुवा च श्रीशुकः—

हे रामचन्द्र ! अब तुमको कुछ जानने के लिए शेष नहीं रहा अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा तुम सब जान चुके । परन्तु भगवान् व्यास-देव के पुत्र शुकदेव के समान तुम्हारी चित्तवृत्ति की विश्रान्ति मात्र प्राप्त होने की आवश्यकता है ।

श्रीशुकदेव तो अपने आपही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुझको जो ज्ञान है, वह सत्य होगा या मिथ्या होगा ? इस प्रकार संशय होने से अपने पिता व्यास जी से पूछा तब उन्होंने भी जो स्वयं जानते थे वह कहा, तथापि संशय निवृत्त न होने से जनक राजा के पास कई प्रश्न किये, जनक ने भी वही उपदेश दिये । तब स्वयं जनक को इस भाँति कहा—

"स्वयमेव मया पूर्वमेतज्ज्ञातं विवेकतः ।
एतदेव च पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥
भवताऽप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदांवर ! ।
एष एवात्र वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥
यथाऽयं स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात् ।
क्षीयते दग्धसंसार असार इति निश्चितः ॥
तत्किमेतन्महाबाहो ! सत्यं ब्रूहि ममाचलम् ।
त्वत्तो विश्राममाप्नोमि चेतसा भ्रमता जगत् ।

जनकः—

पूर्व में अपने ही विवेक के द्वारा मैंने यह जाना था, अपने पिता से भी यही प्रश्न मैंने किया था तब पिता ने भी यही उत्तर दिया था,

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! आप भी यही बात कहते हैं। यह निन्द्य और निःसार संसार अपने ही अन्तःकरण से स्फुरित होता है और उस अन्तःकरण के क्षय होने से उसका नाश होता है ऐसा ही निश्चय शास्त्रों से भी होता है। इसलिए 'यह जगत् क्या है ?' यह मुझको कहो, जिससे हमारे सन्देह की निवृत्ति हो जाय। इस भ्रांत-चित्त से भ्रमने वाला मैं आपके वचनों से विश्रान्ति को पाऊँगा।

इस पर जनक जी ने कहा—

"नातः परतरः कश्चिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ? ।
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ॥
अव्युच्छिन्नश्चिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।
स्वसंकल्पवशाद् बद्धो निःसंकल्पस्तु मुच्यते ॥
तेन त्वया स्फुटं ज्ञातं ज्ञेयं स्वस्य महात्मनः ।
भोगेभ्यो विरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह ॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।
न दृश्ये पतसि ब्रह्मन् ! मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥
अनुशिष्टः स इत्येवं जनकेन महात्मना ।
विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि ॥
वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः ।
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमनिन्दितम् ॥
तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।
दश स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥" इति ।

हे मुने ! यहाँ सर्वत्र पूर्ण, अद्वितीय चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है, उसके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। जीव केवल अपने संकल्प से ही बद्ध है और जब संकल्प-रहित होता है, तब मुक्त होता है। इससे भिन्न दूसरा कोई निश्चय नहीं है। तुमने स्वयं यह जाना और फिर गुरु से भी सुना; तू महात्मा है, अपनी ज्ञेय वस्तु को यथार्थ जाना है। क्योंकि सकल भोगों से या सकल दृश्य पदार्थों से उसके विषय विराम प्राप्त हुए हैं, पूर्णचित्त वाले तुमने सभी प्राप्तव्य को

प्राप्त कर लिया है। तू अब दृश्य में नहीं पड़ना अर्थात् उसमें तुच्छ बुद्धि होने से उस पर तेरा लक्ष्य नहीं जाता है, इसलिए भ्रान्ति को छोड़ दो। इस प्रकार महात्मा जनक से उपदेश पाकर शुकदेव जी, निर्विकार परमात्मवस्तु में मौन भाव ग्रहण कर विश्राम पाया, जिसके शोक, भय और आयास निवृत्त हो गये हैं, जिसको किसी प्रकार की इच्छा नहीं और जिसके संशय छिन्न हो गये, ऐसा शुकदेव समाधि के लिए समाधि के प्रतिकूल दोष रहित मेरु के शिखर (चोटी) पर गये। वहां निर्विकल्प समाधि में दश हजार वर्ष स्थिति कर जैसे बिना तेल का दीप सामान्य अग्नि में होता है, वैसे वे स्वरूप में शान्त हुए।

तस्माद्विदितेऽपि तत्त्वे विश्रान्तिरहितस्य शुकराघोरिव संशय उत्पद्यते। स चाज्ञानमिव मोक्षस्य प्रतिबन्धकः। अत एव भगवतोक्तम्।

इस कारण आत्म-स्वरूप का ज्ञान होने पर भी जिसका चित्त विश्राम को नहीं प्राप्त हुआ है, उस पुरुष को श्रीशुकदेवजी के समान और श्रीरामचन्द्रजी के समान संशय उत्पन्न होता है और वह संशय अज्ञान के समान ही मोक्ष में प्रतिबन्धरूप हैं। इसी लिए श्रीभगवान् ने कहा है।

"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥"

जो अज्ञानी, श्रद्धा से हीन और सदा संशय करनेवाला है वह नाश को प्राप्त होता है। जिसका मन सदा संशय में रहता है, उसको न यह लोक, न परलोक और न सुख ही होता है।

अश्रद्धा विपर्ययः। स चोत्तरत्रोदाहरिष्यते। अज्ञानविपर्ययौ मोक्षमात्रविरोधिनौ। संशयस्तु भोगमोक्षयोरुभयोरपि विरोधी। तस्य परस्परविरुद्धकोटिद्वयावलम्बित्वात्। यदा संसारसुखाय प्रवृत्तिस्तदा मोक्षमार्गे बुद्धिस्तां निरुणद्धि। यदा च मोक्षमार्गे प्रवृत्तिस्तदा संसारबुद्धिस्तां प्रतिबध्नाति। तस्मात् संशयात्मनो न किञ्चित् सुखमस्तीति मुमुक्षुणा सर्वथा संशयाश्छेत्तव्याः।

अत एव श्रूयते—"छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" इति ।

अश्रद्धा अर्थात् विपर्यय का उदाहरण आगे आयेगा। अज्ञान और विपर्यय मोक्षमात्र का विरोधी है और संशय तो भोग और मोक्ष दोनों का विरोधी है, क्योंकि संशय का परस्पर विरुद्ध कोटि को अवलम्बन कर उदय होता है, अतः जब संशय वाला पुरुष संसार के सुख में प्रवृत्ति करता है, तब मोक्षमार्ग सम्बन्धी बुद्धि उसकी सुख में हुई प्रवृत्ति को रोकती है। जब मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता है, तब उसको संसार बुद्धि रोकती है। इसलिये संशयवाले मनुष्य को किसी प्रकार का सुख न होने से उसको सर्वथा संशय का उच्छेद करना चाहिए। छिद्यन्ते सर्वसंशयाः-इस श्रुति वाक्य से भी आत्मसाक्षात्कार होने से संशय छिन्न हो जाते हैं ऐसा सिद्ध होता है।

विपर्ययस्यापि निदाघ उदाहरणम्। ऋभुः परमकरुणया निदाघस्य गृहमेत्य बहुधा तं बोधयित्वा निर्जगाम। बुद्धेऽपि तदुपदिष्टवस्तुन्यश्रद्दधानो निदाघः कर्मणि परमपुरुषार्थहेतुरिति विपर्ययं प्राप्य कर्मानुष्ठाने यथापूर्वं प्रवृत्तः। सोऽपि शिष्यस्य परमपुरुषार्थभ्रंशो माभूदिति कृपया गुरुः पुनरागत्य बोधयामास। तदाऽपि विपर्ययं न जहौ। तृतीयेन तु बोधनेन विपर्ययं परित्यज्य विश्रान्तिमलभत्। संशयविपर्ययाभ्यामसम्भावना-विपरीतभावनारूपाभ्यां तत्त्वज्ञानस्य फलं प्रतिबध्यते। तदुक्तं पराशरेण—

विपर्यय का दृष्टान्त निदाघ का है—वह इस प्रकार है कि ऋभु नामक मुनि ने केवल कृपा दृष्टि से निदाघ के घर आकर उसको अनेक प्रकार से बोध कराया उसके बाद वहाँ से वह चले। परन्तु ऋभु के अन्तःकरण में 'मेरे दिये हुए इस प्रकार के ज्ञान में अविश्वास होने से 'कर्म ही परम पुरुषार्थ का हेतु है, ऐसी उलटी बुद्धि के वशवर्त्ती होने से इस ज्ञान के उपदेश होने से पहिले जैसा कर्म करता था वैसा ही कर्म करने लगा मेरा शिष्य परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट न हो तो ठीक है' इसलिए ऋभु ने फिर उसके घर आकर उपदेश दिया तब भी उसकी विपरीत बुद्धि नहीं मिटी। जब तीसरी बार आकर बोध कराया, तब उसने विपरीत बुद्धि का त्याग किया और अन्त में

विश्रान्ति को प्राप्त किया। संशय या जिसको असम्भावना कहते हैं और विपर्यय जिसको विपरीत भावना कहते हैं, ये दोनों तत्त्वज्ञान का फल जो चित्त विश्रान्ति, उनको उत्पन्न नहीं करते हैं। यह पराशरजी ने कहा है—

"मणिमन्त्रौषधैर्वह्निः सुदीप्तोऽपि यथेन्धनम् ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात् प्रतिबद्धस्तथैव च ॥
ज्ञानाग्निरपि सञ्जातः प्रदीप्तः सुदृढोऽपि च ।
प्रदग्धुं नैव शक्तः स्यात् प्रतिबद्धस्तु कल्मषम् ॥
भावना विपरीता या या चासम्भावना शुक! ।
कुरुते प्रतिबन्धं सा तत्त्वज्ञानस्य नापरम् ॥" इति ।

जैसे प्रज्वलित अग्नि भी मणि, मन्त्र और औषधि के जरिये नहीं जलती (बन्द हो जाती) है और वह इन्धन काष्ठ को नहीं जला सकती है उसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि भी अति प्रदीप्त होकर भी वह प्रतिबन्ध युक्त होती है, तो अज्ञान आदि दोषों को नहीं जला सकती है। हे शुक! असम्भावना और विपरीत भावना ही तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्ध करती है, अन्य कोई भी पदार्थ ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं है।

तस्मादविश्रान्तस्य संशयविपर्ययप्रसङ्गेन तत्त्वज्ञानस्य फलप्रतिबन्धलक्षणात् बाधाद्रक्षाऽपेक्ष्यते । विश्रान्तचित्तस्य तु मनोनाशेन यदा जगदेव प्रविलीयते तदा संशयविपर्यययोः कः प्रसङ्गः । जगत्प्रतिभासरहितस्य ब्रह्मविदो देहव्यवहारोऽपि विनैव प्रयत्नं परमेश्वरप्रेरितेन प्राणवायुना निष्पद्यते । अत एव छन्दोगा आमनन्ति ।

इसलिए जिसका चित्त विश्रान्ति को प्राप्त नहीं करता है, उसका संशय विपर्यय रूप प्रतिबन्ध से ज्ञान के फल की रक्षा करनी आवश्यक है। जिसका चित्त विश्राम पाता है, उसको तो मनोनाश से जगत् का ही लय हो जाता है, तो संशय विपर्यय का प्रसङ्ग ही नहीं है। जगत् की प्रतीति रहित ब्रह्मवित् पुरुष का शरीर व्यवहार भी प्रयत्न किये विना ही परमेश्वर प्रेरित वायु से होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है—

"नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः" इति । उपजनं जनानां समीपे वर्तमानमिदं शरीरं न स्मरन्ब्रह्मविद्वर्तते । पार्श्वस्था जना एव तत्त्वविदः शरीरं पश्यन्ति । स्वयं तु निर्मनस्कत्वान्मदीयं शरीरमिति न स्मरति । प्रयोग्यो रथशकटादिवहने प्रयोक्तुमर्हः शिक्षितोऽश्वबलीवर्दादिः स यथा सारथिना मार्गस्याऽऽचरणे प्रेरितः पुनः सारथिप्रयत्नमनपेक्ष्य स्वयमेव रथशकटादिकं पुरोवर्त्तिग्रामं नयति एवमेवायं प्राणवायुः परमेश्वरेणास्मिन् शरीरे नियुक्तः सत्यसति वा जीवप्रयत्ने व्यवहारं निर्वहति । भागवतेऽपि स्मर्यते ।

ब्रह्मवित् पुरुष को मनुष्यों के समीप रहने पर भी उसके शरीर का भान नहीं होता है। समीपस्थ मनुष्य ही उसके शरीर को देखते हैं। स्वयं तो अमनभाव को प्राप्त होने से 'यह मेरा शरीर है' ऐसा उसको भान नहीं होता है। जैसे गाड़ी या रथ में जुते हुए बैल या घोड़े अपने काम में शिक्षित होने से सारथी के एक बार गन्तव्य मार्ग पर चला देने पर अपने आप ही विना सारथी के प्रयत्न के आगे चले जाते हैं और जिस गाँव में जाना आना होता है वहाँ पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार यह प्राणवायु भी परमेश्वररूपी सारथी द्वारा इस शरीर में प्रेरित जीव का प्रयत्न हो या न हो तब भी व्यवहार का निर्वाह करता है।

भागवत में भी कहा है—

"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥" इति ।

जैसे मदिरा के नशे से मदान्ध पुरुष अपने पीछे या पास रक्खे वस्त्रादि को यहाँ ही है या कहीं छूट गया उसको खबर नहीं हो

सकती है, उसी प्रकार योगी पुरुष भी अपने नाशवान शरीर प्रारब्ध कर्म के योग से आसन से उठा है, उठ कर वहाँ स्थित है, या वहाँ से दूसरी जगह गया है या फिर अपने स्थान पर आया है उसको वह नहीं जानता है, क्योंकि वह देह से भिन्न है ऐसा अपने स्वरूप को जानता है ।

वसिष्ठ जी भी कहते हैं—

"पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम् ।
आचारमाचरन्त्येव सुप्रबुद्धवदक्षताः ॥" इति ।

जैसे निद्रा से जगा हुआ पुरुष अपने पूर्ववत् व्यवहार को करता है, वैसे ही पार्श्वस्थ (पास के रहने वाले) मनुष्य के जगाने पर योगी पुरुष प्रथम के अपने आचारों के क्रम का अनुसरण कर सब आचारों को करता है ।

सिद्धो न पश्यत्याचारमाचरतीत्युभयोः परस्परविरोध इति चेन्न । विश्रान्तितारतम्येन व्यवस्थोपपत्तेः । तदेव तारतम्यमभिप्रेत्य श्रूयते—

"आत्मक्रीड आत्मरतिःक्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥" इति ।

अत्र चत्वारः प्रतीयन्ते । ब्रह्मवित्प्रथमः, ब्रह्मविद्वरो द्वितीयः, वरीयांस्तृतीयः, वरिष्ठश्चतुर्थः । त एते सप्तसु योगभूमिषु चतुर्थीं योगभूमिमारभ्य क्रमेण भूमिचतुष्टयं प्राप्ता इत्युपगन्तव्यम् । भूमयश्च वसिष्ठेन दर्शिताः—

शङ्का—पूर्व के श्लोक में कहा है कि योगी अपने शरीर को नहीं देखते हैं और इस श्लोक में यह कहा गया है कि सोने के बाद उठे हुए पुरुष के समान सब व्यवहारों को करते हैं इसलिये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध अर्थ को कहते हैं ।

समाधान—दोनों की विश्रान्ति में तारतम्य होने से कोई विरोध नहीं दीखता हैं । जीवन्मुक्त पुरुष की चित्तविश्रान्ति में तारतम्य है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है । 'यह जीवन्मुक्त पुरुष आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला, आत्मा में ही रमण करने वाला, क्रियावान् और ब्रह्मविद् वरिष्ठ है' ।

इस श्रुति के तात्पर्य्य से चार प्रकार के योगी प्रतीत होते हैं। ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, और ब्रह्मविद्वरिष्ठ। योग की भूमिकाओं में से चौथी भूमिका से लेकर क्रमशः सातवीं भूमिका में स्थित पुरुषों की यथाक्रम संज्ञा है। यानी चौथी भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मवित्, पाँचवीं भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मविद्वर, छठी भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मविद्वरीयान्, और सातवीं भूमिका में स्थित योगी का नाम ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाते हैं।

७ भूमिकाओं का नाम सहित निरूपण वसिष्ठ जी ने किया है—

"ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात् प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता॥"

स्थितः किंमूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सद्विचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसा॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात्।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया भृशम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभासनात्॥
परमयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम्।
पदार्थाभावनी नाम षष्ठी भवति भूमिका॥

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भनात् ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥" इति ।

'शुभेच्छा' पहली भूमिका, 'विचारणा' दूसरी भूमिका, 'तनुमानसा' तीसरी भूमिका, 'सत्त्वापत्ति' चौथी भूमिका, 'असंसक्ति' पाँचवीं भूमिका, 'पदार्थाभावनी' छठो भूमिका, और 'तुरीया' सातवीं भूमिका है—

इनका क्रम से लक्षण कहते हैं ।

मैं मूढ़ के समान क्या बैठा हूँ, श्रीमद् गुरु और सत्य शास्त्र की सहायता से मैं अपने स्वरूप को देखूँ तो ठीक है। ऐसा वैराग्यादि साधनों के साथ जो इच्छा है, वह शुभेच्छा नाम की प्रथम भूमिका है। गुरु शुश्रूषा और स्वधर्म में निरत रहती हुई श्रवण-मनन में जो प्रवृत्ति वह दूसरी विचारणा नाम की भूमिका है। विचारणा और शुभेच्छा के परिणाम से इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण न करे और मन की सूक्ष्मता होती है, अर्थात् सविकल्प समाधि प्राप्त होती है तब 'तनुमानसा' नाम की तीसरी भूमिका प्राप्त हुई यह जाने। इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयों में अत्यन्त उपराम होने से चित्त की शुद्ध अर्थात् माया और उसके कार्य रहित सत्य स्वरूप आत्मा में त्रिपुटी के लयपूर्वक निर्विकल्प समाधि रूप जो स्थिति उसको सत्त्वापत्ति नाम की चौथी अवस्था समझनी चाहिए। इन चार भूमिकाओं के अभ्यास से बाहरी और भीतरी विषयों के सङ्ग से रहित हो समाधि के परिपाक से परमानन्द स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार युक्त चित्त की अवस्था को 'असंसक्ति' कहते हैं। इत पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मा में ही अत्यन्त-रति प्राप्त होने से बाहर और भीतर के पदार्थों की प्रतीति नहीं होती है। दूसरा पुरुष जब उसको अनेक बार जगाने का प्रयत्न करता है तब उसे पदार्थों का भान होता है, इस प्रकार की जो अन्तःकरण की अवस्था उसको छठी 'पदार्थाभावनी' नाम की भूमिका कहते हैं। छः भूमिकाओं का बहुत समय तक अभ्यास से जब प्रयत्न के द्वारा भी भेद प्रतीत न हो और केवल स्वरूप में ही चित्त स्थित रहता है, तब तुरीया नाम की सातवीं भूमिका सिद्ध हुई ऐसा जानना चाहिए।

अथ भूमिकात्रितयं ब्रह्मविद्यायाः साधनमेव न तु विद्याकोटावन्तर्भवति । भूमित्रये भेदसत्यत्वबुद्धेरनिवारितत्वात् । अत एवैतज्जागरणमिति व्यपदिश्यते । तदुक्तम्—

इन सात भूमिकाओं में पहिली तीन भूमिकायें ब्रह्मविद्या का साधन रूप हैं, परन्तु ब्रह्मविद्या की कोटि में नहीं गिनी जाती हैं क्योंकि तीन भूमिका तक भेद के विषय में सत्यत्व बुद्धि नही मिटती है । इसी से पहिली तीन भूमिकाओं को जाग्रत् अवस्था कहते हैं ।

वसिष्ठ मुनि कहते हैं—

"भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम ! जाग्रदिति स्थितम् ।
यथावद् भेदबुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते ॥" इति ।

हे राम ! ये तीन भूमिका जाग्रत् अवस्थारूप हैं, यह बात यथार्थ है । क्योंकि यह विश्व, यथायोग्य भेदबुद्धि द्वारा जाग्रत् अवस्था में दीखता है ।

ततो वेदान्तवाक्यान्निर्विकल्पको ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा सत्त्वापत्तिः । चतुर्थभूमौ सर्वजगदुपादानस्य ब्रह्मणो वास्तवमद्वितीयसत्तास्वभावं निश्चित्य ब्रह्मण्यारोपितयोर्जगच्छब्दाभिधेययोर्नामरूपयोर्मिथ्यात्वमवगच्छति । मुमुक्षोः पूर्वोक्तजागरणापेक्षयेयं भूमिः स्वप्नः । तदाह—

इन तीन भूमिकाओं का जप करने पर वेदान्त वाक्य से प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म का निर्विकल्प साक्षात्कार होता है, वह 'सत्त्वापत्ति' नाम की फलरूप चौथी भूमिका है । इस चौथी भूमिका में साधक, सब जगत् का विवर्त्त उपादान रूप ब्रह्म का वास्तविक अद्वितीय सत्तारूप स्वभाव का निश्चय कर ब्रह्म में आरोपित 'जगत्' है, इस कथन से नामरूप के मिथ्यात्व का ज्ञान करता है । मुमुक्षु को पूर्व कथित जाग्रत् अवस्था की अपेक्षा से यह भूमिका स्वप्नरूप है ।

वसिष्ठ जी कहते हैं—

"अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते चोपरतिं गते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥

विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ।
स्वस्वेतरं च सन्मात्रं यत्प्रबोधादुपासते ॥
योगिनः सर्वभूतेषु सद्रूपं नौमि तं हरिम् ।
सत्तावशेष एवाऽऽस्ते चतुर्थीं भूमिकामितः ॥"

अद्वैत की स्थिरता प्राप्त होने से और द्वैत की शान्ति से चौथी भूमिका को पहुँचे हुए योगिजन जगत् को स्वप्न के समान देखते हैं और जिसके अलग होने पर शारद् ऋतु के बादल की गर्जना के समान स्वयं ही अन्य इस प्रकार का भेद समाप्त हो जाता है और जिससे प्राप्त हुए ज्ञान से केवल सद् वस्तु की ही मुमुक्षु उपासना करता है। सभी प्राणियों में सत्‌रूप से स्थित हरि ही हैं, उसी की मैं स्तुति करता हूँ ऐसा योगिजन समझते हैं। चतुर्थी भूमि को पहुँचा हुआ योगी, केवल सत्तारूप ही शेष रहता है।

सोऽयं चतुर्थीं भूमिकां प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते। पञ्चम्यादयस्तिस्रो भूमयो जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदाः। ते च निर्विकल्पसमाध्यभ्यासबलेन विश्रान्तितारतम्येन संपद्यन्ते।

इस चतुर्थी भूमिका को प्राप्त कर योगी 'ब्रह्मवित्' कहलाता है। पाँचवीं, छठी और सातवीं भूमिका जीवन्मुक्ति के अवान्तर भेद हैं। यह भेद, निर्विकल्प समाधि के बल से हुई विश्रान्ति के न्यूनाधिक्य के कारण होता है।

पञ्चमभूमौ निर्विकल्पकात्तदा स्वयमेव व्युत्तिष्ठति। सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः। षष्ठभूमौ पार्श्वस्थैर्बोधितो व्युत्तिष्ठति। सोऽयं ब्रह्मविद्वरीयान्। तदेतद्भूमिद्वयं सुषुप्तिर्गाढसुषुप्तिरिति चाभिधीयते। तदाह—

पाँचवी भूमिका में स्थित योगी, निर्विकल्प समाधि से स्वयं जागता है यह योगी ब्रह्मविद्वर कहलाता है। छठी भूमिका में स्थित योगी, निकटवासियों के जगाने पर जागता है। इस योगी का नाम ब्रह्मविद् वरीयान् है। इन दोनों भूमिकाओं को क्रम से पाँचवी को सुषुप्ति और छठी को गाढ सुषुप्ति कहते हैं। इस प्रकार इसको कहा है—

"पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥
अन्तर्मुखतया नित्यं बहिर्वृत्तिपरोऽपि तत् ।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ।
षष्ठीं गाढसुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ॥
अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति केचन ।
समं ब्रह्म न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥
अन्तःशून्यो बहिः शून्यं शून्यकुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥" इति ।

सुषुप्ति पद नाम की पाँचवी भूमिका को पाकर जिसमें भेद रूप अंश निवृत्त हुए हैं, ऐसा पुरुष, केवल अद्वैत स्वरूप में स्थित रहता है। वह बाह्यवृत्तियों से व्यवहार करता हुआ भी सदा अन्तर्मुख होने से थक गया हो ऐसा नित्यनिद्रालु के समान जान पड़ता है। इस भूमिका के अभ्यास करने से वासना रहित हो, वह योगी क्रम से गाढ सुषुप्ति नाम की भूमिका को पाता है। जिसमें वह सत् रूप नहीं, असत् रूप नहीं, अहंकार युक्त नहीं; उसी तरह अहंकार रहित नहीं, केवल मनन रहित ऐसा वह पुरुष द्वैत और एकता (अद्वैत) से अलग होकर रहता है। कतिपय द्वैत को इच्छा करते, बहुत से अद्वैत की इच्छा करते हैं। परन्तु सर्वत्र सम ब्रह्म जो द्वैत और अद्वैत दोनों से रहित है, उसको नहीं जानते हैं। आकाश में खाली घड़ा के समान वह अन्तः और बाह्य शून्य है, जैसे समुद्र में भरे हुए घड़े के समान बाहर भीतर पूर्ण है।

गाढं निर्विकल्पसमाधिं प्राप्तस्य संस्कारमात्रशेषस्य चित्तस्य मनोराज्यं कर्तुं बाह्यपदार्थान् ग्रहीतुं वा सामर्थ्याभावादाकाशावस्थितकुम्भवदन्तर्बहिःशून्यत्वम् । स्वयंप्रकाशसच्चिदानन्दैकरसे

ब्रह्मणि निमग्नत्वेन समुद्रमध्यस्थापितजलपूर्णकुम्भवदन्तर्बहिः-पूर्णत्वम् । तुरीयाभिधां सप्तमीं भूमिं प्राप्तस्य योगिनः स्वतः परतो वा व्युत्थानमेव नास्ति । ईशमेवोद्दिश्य—"देहं बिनश्वर-मवस्थितमुत्थितं वा"—इत्यादि भागवतवाक्यं प्रवृत्तम् । असंप्रज्ञातसमाधिप्रतिपादकानि योगशास्त्राण्यत्रैव पर्यवसितानि । सोऽयमीदृशो योगी पूर्वोदाहृतश्रुतौ ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । तदेवं पार्श्वस्थबोधितः सिद्धो न पश्यतीत्यनयोर्भूमिद्वयेन व्यव-स्थितत्वान्न कोऽपि विरोधः ।

गाढ निर्विकल्प समाधि को प्राप्त हुआ, केवल संस्काररूप से शेष रहने से चित्त का मनोराज्य करने या बाहर के पदार्थों को ग्रहण करने के लिये सामर्थ्य न होने से वह आकाश में रक्खे घड़े के समान बाहर और भीतर खाली है। उसी तरह स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में मन निमग्न होने से और बाहर भी सर्वत्र तुल्य दृष्टि द्वारा, समुद्र के बीच में स्थापित पानी से भरे घड़े के समान उसके मन को बाहर और भीतर पूर्णता है। तुरीया नाम की सातवीं भूमिका को पहुँचे योगी को स्वयं या अन्य के प्रयत्न द्वारा उत्थान ही नहीं है, ऐसे योगी को संकेत कर 'देहं च' इत्यादि भागवत का वाक्य प्रवृत्त हुआ है। असंप्रज्ञात समाधि का प्रतिपादक योग शास्त्र का इस भूमिका में ही पर्यवसान है। ऐसे योगी को पूर्वोक्त श्रुति ने ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहा है। इस प्रकार 'पार्श्वस्थ' यह वचन और सिद्धों के यह वचन क्रम से छठी और सातवीं भूमिका में स्थित योगी के स्वरूप का बोधक है। इसलिये दोनों वचनों में परस्पर विरोध नहीं है।

तत्रायं संग्रहः । पञ्चम्यादिभूमित्रयरूपायां जीवन्मुक्तौ सम्पाद्यमानायां द्वैतप्रतिभासाभावेन संशयविपर्ययप्रसङ्गाभावा-दुत्पन्नं तत्त्वज्ञानमबाधेन रक्षितं भवति । सेयं ज्ञानरक्षा जीवन्मुक्तेः प्रथमं प्रयोजनम् ।

उपसंहार—५वीं, ६ठीं, ७वीं भूमिका रूप जीवन्मुक्ति को सम्पादन करने से संशय और विपर्यय का प्रसङ्ग नहीं आता है इससे तत्त्वज्ञान

की निर्बाधता की रक्षा होती है। ज्ञान रक्षा यह जीवन्मुक्ति का प्रथम प्रयोजन है।

तपो द्वितीयं प्रयोजनम्। योगभूमीनां देवत्वादिप्राप्तिहेतुतया तपस्त्वं द्रष्टव्यम्। तद्धेतुत्वं चार्जुनभगवतोः श्रीरामवसिष्ठयोश्च प्रश्नोत्तराभ्यामवगम्यते।

अर्जुन उवाच—

जीवन्मुक्ति का दूसरा प्रयोजन तप है। योगभूमिकायें देव आदि योनि की प्राप्ति का कारण हैं, इसलिये वह तप रूप है।

इनका तप रूप होना अर्जुन और भगवान् कृष्ण के उसी तरह श्रीराम और वसिष्ठ के सम्वाद से जान पड़ता है।

अर्जुन बोले—

"अमतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं काङ्क्षति कृष्ण! गच्छति॥
कश्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥
एतन्मे संशयं कृष्ण! च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता नह्युपपद्यते॥"

भगवानुवाच—

हे कृष्ण! मनोवृत्ति को स्वाधीन न करने वाला श्रद्धायुक्त, योग से चल चित्त पुरुष योग की सिद्धि को न प्राप्त कर किस गति को जाता है। क्या वह योगी कर्म मार्ग और योगमार्ग से भ्रष्ट हुआ निराधार ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में अज्ञ, वायु से घेरे हुए मेघ की तरह नष्ट हो जाता है, या हे महाबाहो! नहीं नष्ट होता है?। हे कृष्ण! इस सारे संशय को तुम दूर करने के योग्य हो। तुमसे दूसरा कोई इस संशय को दूर करने वाला नहीं दीखता है। इस पर श्रीकृष्णजी बोले—

पार्थ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात! गच्छति॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥" इति ।

हे पार्थ ! इस लोक या परलोक में योगभ्रष्ट पुरुष का नाश नहीं है। क्योंकि हे तात ! शुभ कर्म करने वाला कोई खराब गति को नहीं पाता है। योगभ्रष्ट पुरुष, पुण्य करने वालों के लोक को पाकर वहाँ अनेक वर्ष निवास कर, अति पवित्र जो लक्ष्मीवान् उनके घर में उत्पन्न होता है। या वह बड़े बुद्धिमान् ऐसे योगियों के ही घर में जन्म लेता है। ऐसा जन्म पाना लोक में बहुत ही कठिन है। हे कुरुनन्दन ! यह योगियों के कुल में उत्पन्न होकर पहिले देह से अभ्यास किये हुए बुद्धि संयोग अर्थात् आत्मज्ञान को पाता है और अधिकता से सिद्धि के लिये यत्न करता है।

श्रीराम उवाच—

"एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत ।
आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन् ! गतिः ॥"

श्रीरामजी बोले—हे भगवन् ! पहिली, दूसरी, या तीसरी भूमिका में आरूढ़ हुए पुरुष के मरने पर कैसी गति होती है।

"योगभूमिकयोत्क्रान्त जीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥
ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगक्षयपरिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।

तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तं योगभूमित्रयं बुधः ॥
स्पृष्ट्वोपरिपतत्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥" इति ॥

योग भूमिका का अभ्यास जिस क्रम से किया जाता है, उसी के अनुसार पूर्व का पाप क्षय हो जाता है। उसके बाद वह अप्सरा सहित देवता के विमान पर बैठकर, लोकपाल के नगर में और मेरु पर्वत पर, उपवनों की घटाओं में क्रीडा करता है। उसके बाद भोग के क्षय द्वारा पूर्व के पुण्य का सञ्चय और पाप के क्षय होने से पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीवान् सत्पुरुषों के सुरक्षित घर में वह योगी जन्म ग्रहण करता है। वहाँ पूर्व जन्मकृत अभ्यास से तीन भूमिकाओं का स्पर्श कर ऊपर की उत्तम भूमिका का यत्न से अभ्यास करता है।

अस्त्येवं योगभूमीनां देवलोकप्राप्तिहेतुत्वम्। तावता तपस्त्वं कुत इति चेत्तच्छ्रुतिरिति ब्रूमः ॥

शङ्का—इस प्रमाण से भूमिकायें देव लोक की प्राप्ति का कारण हैं, यह बात ठीक है, परन्तु वह तप रूप है, इसमें क्या प्रमाण है ?

तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—"तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्" इति।

उत्तर, वह तप रूप है, इसमें श्रुति का प्रमाण है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि—"पूर्व देव गण तप के द्वारा देवभाव को पाये और ऋषियों ने तप के द्वारा स्वर्ग को पाया।

तत्त्वज्ञानात्प्राचीनस्य भूमिकात्रयस्य तपस्त्वे सति तत्त्वज्ञानस्योत्तरकालीनस्य निर्विकल्पसमाधिरूपस्य पञ्चम्यादिभूमिकात्रयस्य तपस्त्वं कैमुतिकन्यायसिद्धम्। अत एव स्मर्यते।

तत्त्वज्ञान होने के पहिले की भूमिका जब तपरूप है, तब तत्त्वज्ञान के बाद निर्विकल्प समाधि रूप पञ्चमी, छठी और सप्तमी भूमिका तपरूप हो इसमें क्या कहना है ? इसी लिये स्मृति वाक्य है।

"मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमन्तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥" इति।

मन और इन्द्रियों की एकाग्रता यह परम तप है। यह तप सब धर्मों से श्रेष्ठ है और वह परम धर्म रूप है।

यद्यप्यनेन न्यायेन तपसा प्राप्यं जन्मान्तरं नास्ति तथाऽपि लोकसंग्रहायेदं तप उच्यते ।

अत एव भगवानाह—

"लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥" इति ।

संग्राह्यश्च लोकस्त्रिविधः । शिष्योभक्तस्तटस्थश्चेति । तत्र शिष्यस्यान्तर्मुखे योगिनि गुरौ प्रामाणिकबुद्ध्यतिशयेन तदुपदिष्टे तत्त्वे परमं विश्वासं प्राप्य चित्तं सहसा विश्राम्यति । अत एव श्रूयते—

यद्यपि इस न्याय से तप के द्वारा पाने योग्य जन्मान्तर नहीं है, तथापि लोक संग्रह के लिए एकाग्रता को तप कहते हैं । इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में कहा है—

"लोक संग्रह को देखता हुआ तू कर्म करने योग्य है" । संग्राह्य अर्थात् विपरीत मार्ग से अपने को रोककर सन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने योग्य लोक तीन प्रकार का है—शिष्य, भक्त और तटस्थ । वहाँ शिष्य की अपनी अन्तर्मुख वृत्ति वाले सद्गुरु में अतिशय प्रामाणिकता की बुद्धि होने से गुरूपदिष्ट तत्त्व में परम विश्वास पाकर उनके शिष्य का चित्त सहसा विश्रान्ति को प्राप्त होता है ।

श्रुति भी कहती है—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" इति ।

जिसको देव अर्थात् ईश्वर में परम भक्ति होती है, वैसी ही गुरु के विषय में होती है उस महात्मा को यह कहा हुआ अर्थ प्रकाशित होता है ।

स्मृति भी कहती है—

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥" इति ।

श्रद्धावाला, इन्द्रियों को वश में करने वाला और श्रीसद्गुरु की सेवा में परायण पुरुष ज्ञान को पाता है । ज्ञान प्राप्त कर थोड़े काल में परम शान्ति पाता है ।

अन्नप्रदाननिवासस्थानकल्पनादिना योगिनं सेवमानो भक्त-स्तदीयं तपः स्वयमेवाऽऽदत्ते ।

तथा च श्रूयते—

अन्न देने के लिये, रहने का स्थान देने के लिये, इत्यादि द्वारा योगी को सेवन करता हुआ उसका भक्त योगी के तप को स्वयं ग्रहण करता है । श्रुति भी कहती है—

"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पाप-कृत्याम्" इति । तटस्थोऽपि द्विविधः—आस्तिको नास्तिकश्च । तत्राऽऽस्तिको योगिनः दृष्ट्वा स्वयमपि सन्मार्गे प्रवर्तते । तथा च स्मृतिः—

उसका (योगी का) दाय पुत्र या शिष्य, उसका सुहृद् उसके पुण्य को और उसका द्वेषी उसके पाप का ग्रहण करते हैं । तटस्थ भी दो प्रकार का है, एक आस्तिक और दूसरा नास्तिक है। इनमें नास्तिक योगी को सन्मार्ग से आचरण करते देखकर स्वयं भी सन्मार्ग में होता है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" इति ।

नास्तिकोऽपि योगिना दृष्टः पापान्मुच्यते ।

श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, अन्य लोग भी वही आचरण करते हैं और जिसको वह प्रमाण मानता, लोग भी उसी को प्रमाण मानता है । नास्तिक पुरुष भी योगी की दृष्टि पड़ने से पाप से छूट जाता है । कहा है—

"यस्यानुभवपर्यन्ता तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्तते ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥" इति ।

अनेन प्रकारेण सर्वप्राण्युपकारित्वं योगिनो विवक्षित्वा पठ्यते—

जिसका साक्षात्कार होने तक, तत्त्व के विषय में बुद्धि की प्रवृत्ति होती है, उसकी दृष्टि जिन प्राणियों पर पड़ती है—वे सब पाप से छूट जाते हैं। इस प्रकार योगी सब प्राणियों का उपकारी है।

इस अभिप्राय से आगे के श्लोक कहते हैं—

"स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले सर्वाऽपि दत्ताऽवनि-
र्यज्ञानां च सहस्रमिष्टमखिला देवाश्च संपूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥
कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
विश्वंभरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मि-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥" इति।

जिसका मन, क्षणमात्र भी विचार में स्थिरता को प्राप्त हो, उसने सर्वतीर्थों में स्नान किया, सारी वसुन्धरा का दान दिया, हजार यज्ञों का अनुष्ठान किया, सब देवताओं का पूजन किया, संसार से अपने पितरों का उद्धार किया और तीनों लोकों का भी पूज्य वही पुरुष है। अपार ज्ञान और सुख के सागर स्वरूप इस ब्रह्म में जिसका चित्त लीन होता है, उसका कुल पवित्र है, उसकी माता कृतार्थ है और पृथिवी उस पुरुष के द्वारा पुण्य वाली है।

न केवलं योगिनः शास्त्रीयव्यवहारस्यैव तपस्त्वम्, किन्तु सर्वस्यैव लौकिकव्यवहारस्यापि। तथा च तैत्तिरीयाः स्वशाखायां नारायणस्यान्तिमेनानुवाकेन विदुषोऽपि महिमानमामनन्ति। तस्मिंश्चानुवाके पूर्वभागे योगिनोऽवयवा यज्ञाङ्गद्रव्यत्वेनाऽऽम्नाताः—

योगी का केवल शास्त्रीय व्यवहार ही तप रूप नहीं, किन्तु सभी लौकिक व्यवहार भी तप रूप है। तैत्तिरीयशाखा पढ़ने वाले ने अपनी शाखा में नारायण उपनिषद् के आखिरी अनुवाक के द्वारा विद्वानों की इस महिमा को कहा है। इस अनुवाक के पूर्व भाग में योगी का अवयव, यज्ञ का अङ्गभूत द्रव्यरूप कहा है—

"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत् ॥" इति ।

अत्र च दानं दक्षिणेति दानपदमध्याहर्तव्यम् ।

इस प्रकार जानने वाला पुरुषरूप यज्ञ का आत्मा यजमान है। श्रद्धा पत्नी है। शरीर समिध है। वक्षस्थल वेदि है। लोभ दर्भ है। शिखा वेद है। हृदय यूप (यज्ञस्तम्भ) है। काम घृत है। क्रोध पशु है। तप अग्नि है। दम शमयिता नाम का पशु का मारने वाला पुरुष है। वाणी होता है। प्राण उद्गाता है। नेत्र अध्वर्यु है। मन ब्रह्मा है। श्रोत्र आग्नीध्र है। इसमें दान यह दक्षिणा है, ऐसा अध्याहार करना चाहिये। क्योंकि—

"अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः" इति छन्दोगैराम्नातत्वात् । उक्तानुवाकमध्यमभागेन योगिव्यवहारास्तज्जीवनकालाश्च ज्योतिष्टोमावयवक्रियारूपत्वेनोत्तरसर्वयज्ञावयवक्रियारूपत्वेन चाऽऽम्नाताः ।

सामवेदीय 'जो उसका तप, दान आर्जव, अहिंसा, और सत्य वचन है, ये सब उसकी दक्षिणारूप है'—ऐसा कहते हैं, ऊपर के अनुवाक में मध्य भाग से योगी का व्यवहार और उसका जीवन काल ज्योतिष्टोम यज्ञ के अवयवरूप क्रियारूप से और उससे पीछे के सब यज्ञों के अवयवरूप क्रियारूप से भी कहा है।

"यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत् पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत् संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति यत्सायं प्रातरत्ति तत् समिधं यत्प्रातर्मध्यंदिनꣳसायं च तानि सवनानि ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौ येऽर्धमासाश्च मासाश्च ते चातुर्मास्यानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणः सर्ववेदसं वा एतत्सत्रं यन्मरणं तदवभृथ" इति ।

जब तक योगी जीता है तब तक उसकी दीक्षा है, जो वह भोजन करता है वह उसका हविष है, जो पीता है वह उसका सोमपान है, जो व्यवहार करता है वह उसका उपसद है, जो फिरता, बैठता हैं और उठता है वह प्रवर्ग्य है, जो मुख है वह आहवनीय है। जो बोलता है वह आहुति है, जो इसका ज्ञान है वह होम है, जो साम-सुबह भोजन करता है, वह होम की लकड़ी है, जो उसके प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल हैं, वह सवनरूप है, जो रात-दिन है वह दर्शपूर्णमास याग है, जो पक्ष और मास हैं वह चातुर्मास्य (याग) हैं, जो ऋतु है, वे पशुबन्ध है जो संवत्सर और परिवत्सर है, वे अहर्गण है, जिसमें सर्वस्व दक्षिणा है, ऐसा, वह "आयुष्य सत्त्र है, जो योगी का मरण है, वह अवभृथ स्नान है।

सर्ववेदसं—सर्वस्वदक्षिणाकम् । अत्रैतच्छन्देन प्रकृताहोरात्रादि परिवत्सरान्तं सर्वकालसमष्ट्युपलक्षितं योगिन आयुर्विवक्ष्यते । यदायुस्तत् सर्वस्वदक्षिणोपेतं सत्रमित्यर्थः । उत्तरानुवाके चरमभागेन सर्वयज्ञात्मकं योगिनमुदासीनस्य क्रममुक्तिरूपं सूर्याचन्द्रमसोः कार्यकारणब्रह्मणोस्तादात्म्यलक्षणं फलमाम्नायते ।

ऊपर के अनुवाक में 'एतत्' (यह) शब्द द्वारा, अहोरात्र से लेकर वह परिवत्सर तक सब काल के समूह द्वारा उपलक्षित योगी की आयु विवक्षित है। जो उसकी सारी आयु है, वह सर्वदक्षिणायुक्त सत्त्ररूप है, ऐसा अर्थ समझना, उत्तर अनुवाक में अन्तिम भाग द्वारा, तब यज्ञस्वरूप योगी को कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्मरूप सूर्य चन्द्र का अभेदरूप क्रम मुक्ति नाम का जो फल मिलता है, उसका निरूपण किया हैं।

"एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रं य एवं विद्वान् उदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वाऽऽदित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोत्येतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत्" इति । जरामरणावधिकं सद्योगिचरितमस्ति

तद्वेदोक्ताग्निहोत्रादिसंवत्सरसत्रान्तं कर्मस्वरूपमित्येवमुपासीनो भावनातिशयेन सूर्याचन्द्रमसोः सायुज्यं तादात्म्यं प्राप्नोति। भावनामान्द्येन समानलोकं प्राप्य तस्मिंल्लोके सूर्याचन्द्रमसोर्विभूतिमनुभूय तत् ऊर्ध्वं सत्यलोके चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो महिमानं कैवल्यमाप्नोति। इत्युपनिषदित्यनेन यथोक्तविद्यायास्तत्प्रतिपादकग्रन्थस्य चोपसंहारः क्रियते।

तदेवं जीवन्मुक्तेस्तपो रूपं द्वितीयं प्रयोजनं सिद्धम्।

जरा मरण पर्यन्त जो योगी का चरित्र है, वह अग्निहोत्र से लेकर सम्वत्सर सत्र तक कर्म स्वरूप है। इस प्रकार से उपासना करने वाला जो उत्तरायण या दक्षिणायन में मरता है वह देव या पितरों की महिमा को पाकर अपनी भावना की दृढ़ता के कारण सूर्यचन्द्र के साथ एक रूपता को पाता है। उस लोक में वह विद्वान् ब्राह्मण सूर्य-चन्द्र की विभूति को अनुभव करता है। वह पीछे चतुर्मुख ब्रह्मा की महिमा को पाता है। वहाँ उसको तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है। उसके बाद सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म की कैवल्यरूप महिमा को प्राप्त होता है। 'इत्युपनिषद्'—यह वचन पूर्वोक्त विद्या को प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ की समाप्ति सूचित करता है।

इस प्रकार जीवन्मुक्ति का तपरूप दूसरा प्रयोजन सिद्ध हुआ।

विसंवादाभावस्तस्यास्तृतीयं प्रयोजनम्।

न खल्वन्तर्मुखे बाह्यव्यवहारमपश्यति योगीश्वरे लौकिकस्तैर्थिको वा कश्चिद्विसंवदते। विसंवादो द्विविधः। कलहरूपो निन्दारूपश्च। तत्र क्रोधादिरहितेन योगिना सह कथं नाम लौकिकः कलहायते। तद्राहित्यं च स्मर्यते।

विवाद का अभाव यह जीवन्मुक्ति का तीसरा प्रयोजन है। योगी या जो अन्तर्मुख होने से बाह्य व्यवहार को नहीं देखता है, उसके साथ कोई लौकिक मनुष्य या साम्प्रदायिक मनुष्य विवाद नहीं करता है। कलहरूप और निन्दारूप इस प्रकार दो प्रकार का विवाद है। इसमें क्रोधादि रहित योगी के साथ लौकिक मनुष्य क्यों कलह करता

है या नहीं करता है ? योगी क्रोधादि दोष रहित होता है ऐसा स्मृति कहती है ।

"क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन् ॥" इति ।

कोई क्रोध करे, तो उस पर क्रोध न करे, कोई निन्दा करे तो भी 'तुम्हारा कुशल हो' ऐसा कहे । अत्यन्त बोले तो क्षमा करे, और किसी का अपमान न करे ।

ननु जीवन्मुक्तेः प्राचीनो विद्वत्सन्यासस्ततोऽपि प्राचीनं तत्त्वज्ञानं तस्मादपि प्राचीनो विविदिषासन्यासः । अत्रैते क्रोधादि-राहित्यादयो धर्माः कथं स्मृता इति चेत् ।

शङ्का—विद्वत्संन्यास, जीवन्मुक्ति के पूर्व है, उसके पहिले तत्त्व-ज्ञान है, और उसके भी पहिले विविदिषा संन्यास है । इस विविदिषा संन्यास में ही क्रोध आदि का त्याग करना चाहिये तो जीवन्मुक्ति दशा में कोधादि रहित होना इत्यादि धर्म स्मृति में किस लिये कहा ? ।

बाढम् । अत एव जीवन्मुक्तस्य क्रोधादयः शङ्कितुमशक्याः । अत्यर्वाचीने पदे विविदिषासंन्यासेऽपि यदा क्रोधादयो न सन्ति तदोत्तमपदे तत्त्वज्ञाने कुतस्ते स्युः, कुतस्तरां च विद्वत्संन्यासे, कुतस्तमां च जीवन्मुक्तौ, अतो न योगिना सह लौकिकस्य कलहः सम्भवति । नापि निन्दारूपो विसंवादः शङ्कनीयः । निन्द्यस्या-निश्चितत्वात् । तथा च स्मर्यते ।

उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है, इसीलिये जीवन्मुक्ति की हालत में तो क्रोधादि की शङ्का भी करना योग्य नहीं है । जब सबसे पहिले विविदिषा संन्यास में ही क्रोधादि नहीं होता है तब उक्त पद तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर वे कहाँ से होंगे ? और विद्वत्संन्यास में तो सम्भव ही नहीं है । जीवन्मुक्ति में तो यह अत्यन्त असम्भव है । इस लिये योगी के साथ लौकिक मनुष्य का कलह सम्भव नहीं है । निन्दारूप विवाद की भी शङ्का न करनी चाहये ।

स्मृति कहती है कि—

"यन्न सन्तं न चासन्तं नाऽश्रुतं न बहु श्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स वै यतिः ॥" इति ।

सदसत्त्वे उत्तमाधमजाती । तैर्थिकोऽपि किं शास्त्रप्रमेये विसंवदते किं वा योगिचरिते । आद्ये न तावद्योगी परशास्त्रप्रमेयं दूषयति ।

जिसको कोई उत्तम या अधम जाति ऐसा नहीं जानता है, वैसे मूर्ख या विद्वान् नहीं जानता और सदाचारी या दुराचारी नहीं जानता वह यति है।

साम्प्रदायिक पुरुष भी क्या शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय में विवाद करते हैं ? या योगी के चरित के सम्बन्ध में झगड़ बैठते हैं ? साम्प्रदायिक पुरुष तो उसके साथ विवाद नहीं करते हैं, क्योंकि योगी किसी शास्त्र का प्रमेय (प्रतिपाद्य) का दूषण नहीं देता है। क्योंकि—

"तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ। नानुध्यायाद् बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" इत्यादि श्रुत्यनुरोधात् । नापि स्वशास्त्रप्रमेयं प्रतिवादिनोऽग्रे समर्थयते ।

"उस एक आत्मा को ही जाने अन्य बात को छोड़ दे। बहुत शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह वाणी को परिश्रम देना मात्र है"। वैसे वह अपने शास्त्र के सिद्धान्त को दूसरे के सामने सिद्ध नहीं करता। क्योंकि—

"पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥"

इत्यादिश्रुत्यर्थपरत्वात् । यदा प्रतिवादिनमपि स्वात्मतया वीक्षते तदा विजिगीषायाः का कथा । नापि लोकायतिकव्यतिरिक्तः सर्वोऽपि तैर्थिको मोक्षमङ्गीकुर्वन्योगिचरितेऽपि विसंवदितुमर्हति । आर्हतकापालिकबौद्धवैशेषिकनैयायिकशैववैष्णवसांख्ययोगादिमोक्षशास्त्रेषु प्रतिपाद्यप्रमेयस्य नानाविधत्वेऽपि

मोक्षसाधनस्य यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगस्यैकविधत्वात्। तस्माद्विसंवादेन सर्वसंमतो योगीश्वरः। एतदेवाभिप्रेत्य वसिष्ठ आह।

जैसे धान्य का प्रयोजन वाला धान्य को निकाल कर उसकी भूसी को छोड़ देता वैसे ही सारे ग्रन्थों को छोड़ दे, परम ब्रह्म को जानने पर उसी के समान उनका त्याग करे।

इस श्रुति के अर्थ में वह तत्पर होता है जब प्रतिवादी को भी अपने आत्मा के रूप में देखता है, तब जीतने की इच्छा की तो बात ही क्या कहनी है? केवल लोकायतिक (चार्वाक के सिवाय सब साम्प्रदायिक पुरुष योगी के चरित्र में विवाद करने योग्य नहीं है। क्योंकि आर्हत, बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, शैव, वैष्णव, शाक्त और सांख्य योगादिकों के मोक्ष शास्त्र में प्रमेय का भेद होने पर भी मोक्ष का साधक जो यम नियमादि अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान है, वह सब सम्प्रदायों में एक ही प्रकार का होता है। इस प्रकार योगी के साथ किसी का भी विवाद न होने से योगीश्वर सबको सम्मत है।

"यस्येदं जन्म पाश्चात्यन्तमाश्वेव महामते!।
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्॥
आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता मुक्तताज्ञता।
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाङ्गनाः॥
पेशलाचारमधुरं सर्वे वाञ्छन्ति तं जनाः।
वेणुं मधुरनिध्वानं वने वनमृगा इव॥
सुषुप्तब्रह्मशमितभाववृत्तिना
स्थितः सदा जाग्रति येन चेतसा।
कलान्वितो विधुरिव यः सदा बुधै-
र्निषेव्यते मुक्त इतीह स स्मृतः।" इति।

हे महामते! जिसका यह अन्तिम जन्म होता है, उसमें जैसे उत्तम बाँस में मोती होती है, वैसे सब निर्मल विद्यायें प्रवेश कर रहती हैं। जैसे स्त्रियाँ आकर हवेली में रहती हैं, वैसे आर्यपन, मनोहरता, मित्रता, सौम्यता, मुक्तपन और ज्ञानीपन उसको सदा आश्रय कर रहती है। जैसे बाँसुरी की सुरीली आवाज को वन में बसने वाले मृग

सुनने की इच्छा करते हैं, वैसे उत्तम आचरणों से प्रिय उस योगी को सब लोग चाहते हैं। सुषुप्ति में स्थित पुरुष के समान जिसकी विषयाकार वृत्ति शान्त होने पर भी जो सदा चित्त से जाग्रद् अवस्था में स्थित है और कलावान् चन्द्रमा की जैसे लोक सेवा करता है, वैसे जिसकी विद्वान् सेवा करता है वह इस संसार में मुक्त कहलाता है।

"मातरीव शमं यान्ति विषमाणि मृदूनि च।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिभिः॥
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च।
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते॥" इति।

तदेवमबाधं जीवन्मुक्तेर्विसंवादाभावरूपं तृतीयं प्रयोजनं सिद्धम्। दुःखनाशसुखाविर्भावरूपे चतुर्थपञ्चमप्रयोजने विद्यानन्दात्मकेन ब्रह्मानन्दगतेन चतुर्थाऽध्यायेन निरूपिते। तदुभयमत्र सङ्क्षिप्योच्यते।

शान्ति शील पुरुष में सब मृदु और विषमभूत माता में जैसे शान्ति पाता है, वैसे ही शान्ति पाता है और विश्वास करता है। तपस्वियों में बहुत जानने वालों में, याजकों में, राजाओं में, बलवानों में और गुणवानों में शान्तिशील पुरुष ही शोभता है।

इस प्रकार निर्बाधपन विवाद का अभाव रूप जीवन्मुक्ति का तीसरा प्रयोजन सिद्ध हुआ। चौथे, पांचवें प्रयोजन का निरूपण; ब्रह्मानन्दान्तर्गत विद्यानन्द नामक चौथे अध्याय में पञ्चदशी में किया है। इन दोनों प्रयोजनों का यहाँ संक्षेप में कहा जाता है—

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥"

इत्यादिश्रुत्या दुःखस्यैहिकस्य विनाश उक्तः—

'यह आत्मा मैं हूँ' इस प्रकार जो कोई आत्मा को जाने तो वह किसकी इच्छा करे, किसकी कामना के लिए शरीर के साथ सन्ताप अनुभव करे? इत्यादि श्रुति से योगी के ऐहिक दुःख का विनाश कहा है—

"एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति ।

इत्यादिश्रुतय आमुष्मिकहेतुपुण्यपापचिन्तारूपस्य दुःखस्य नाशमाहुः । सुखाविर्भावस्त्रेधा सर्वकामावाप्तिः, कृतकृत्यत्वम्, प्राप्तप्राप्तव्यत्वम्, चेति । सर्वकामावाप्तिस्त्रेधा—सर्वसाक्षित्वम्, सर्वत्राकामहतत्वम्, सर्वभोक्तृरूपत्वं चेति । हिरण्यगर्भादिस्थावरान्तेषु देहेष्वनुगतं साक्षिचैतन्यरूपं यद् ब्रह्म तदेवाहमस्मीति जानन्तः स्वदेह इव परदेहेष्वपि सर्वकामसाक्षित्वमस्ति । तदेतदभिप्रेत्य श्रूयते—

"मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया? पाप क्यों किया? इस प्रकार योगी को सन्ताप नहीं होता है। इत्यादि श्रुतियाँ, परलोक के हेतु पुण्य पाप की चिन्ता रूप दुःख नाश को कहती हैं। सुख का आविर्भाव तीन प्रकार का है—सर्वकामावाप्ति, कृतकृत्यता और प्राप्तप्राप्तव्यत्व। सब कामनाओं की प्राप्ति भी तीन प्रकार की है। सबका साक्षीपन सर्वत्र कामनाओं से हत न होना और सबका भोक्तापन हिरण्यगर्भ से जो स्थावर तक सब देहों में व्याप्त साक्षी चैतन्य जो ब्रह्म है, वही मैं हूँ इस रीति से जानने वाले पुरुष का जैसे अपने शरीर में सब भोगों का साक्षित्व है वैसे ही अन्य की देह में भी है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह । ब्रह्मणा विपश्चितलोकेति । भुक्तेषु भोगेष्वकामहतत्वं यत्तत्कामप्राप्तिरित्युच्यते ।

'सर्वज्ञ ब्रह्म स्वरूप से वह एक समय सब भोगों को भोगता है'—संसार में भोग करे उसमें इच्छा नहीं हो इसको 'कामप्राप्ति' कहते हैं। इसलिये सब भोगों में दोष देखने वाले तत्त्ववित् पुरुष को किसी पदार्थ में इच्छा नहीं होती है, इसलिये उसको सर्व काम की प्राप्ति ही है।

तथा च सर्वभोगदोषदर्शिनस्तत्त्वविदः सर्वत्राऽकामहतत्वादस्ति सर्वकामावाप्तिः । अत एव सार्वभौमोपक्रमेषु हिरण्यगर्भ-

पर्य्यन्तेषूत्तरोत्तरशतगुणेष्वानन्देषु—"श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" इति श्रुतम् । सद्रूपेण चिद्रूपेणाऽऽनन्दरूपेण च सर्वत्रावस्थितं स्वात्मानमनुसंदधतः सर्वभोक्तृरूपत्वमस्तीत्यभिप्रेत्यैवं श्रूयते ।

इसलिये चक्रवर्ती राजा से लेकर हिरण्यगर्भ पर्य्यन्त उत्तरोत्तर सौ-सौ गुणा आनन्द में 'श्रोत्रियस्य०' ऐसा कहा है। अर्थात् सब आनन्द कामनाओं करके हत न हुए तत्ववित् पुरुष को प्राप्त ही है इस प्रकार श्रुति कहती है। सत् रूप से, चित् रूप से, आनन्द रूप से सर्वत्र स्थित अपनी आत्मा का अनुसन्धान करता योगी का सर्व भोगों का भोक्तापन है। इस अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः" इति । कृतकृत्यत्वं स्मर्यते—

मैं अन्न (भोग्य) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ। मैं अन्न खाने वाला हूँ, मैं अन्न खाने वाला हूँ, मैं अन्न का खाने वाला हूँ ।

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किंचित् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥" इति ।

ज्ञान रूप अमृत द्वारा तृप्त हुए और कृतकृत्य योगी का कोई भी कर्त्तव्य नहीं है, यदि कर्तव्य हो तो, वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। जो आत्मा ही में रमण करने वाला है, उसके लिए कर्त्तव्य नही है ।

प्राप्तप्राप्यताऽपि श्रूयते—"अभयं वै जनक ! प्राप्तोऽसि" इति "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इति ॥

प्राप्त का प्राप्तव्यत्व (पाने योग्य का पा चुकना) भी श्रुति कहती हैं—'हे जनक ! तूने अभय को पाया है, 'इस कारण वह सर्व रूप हुआ' 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही है'—इत्यादि ।

नन्वेतौ दुःखविनाशसुखाविर्भावौ तत्त्वज्ञानेनैव सिद्धत्वान्न जीवन्मुक्तिप्रयोजयतामर्हतः । मैवम् ।

शङ्का—दुःख का नाश और सुख का आविर्भाव ये दोनों तत्त्व-ज्ञान द्वारा ही सिद्ध है, अत एव ये दोनों जीवन्मुक्ति के प्रयोजन होनें में संघटित ही नहीं होते ।

सुरक्षितयोस्तयोरत्र विवक्षितत्वात् । यथा तत्त्वज्ञानं पूर्व-मेवोत्पन्नमपि जीवन्मुक्त्या सुरक्षितं भवति, एवमेतावपि सुरक्षितौ भवतः ।

उत्तर जैसे पूर्व ही उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान भी जीवन्मुक्ति से सुरक्षित होता है, वैसे ही जीवन्मुक्ति में दुःखनाश और सुखाविर्भाव की सब तरह रक्षा होती है, यह कहने का अभिप्राय है ।

नन्वेवं जीवन्मुक्तेः पञ्चप्रयोजनत्वे सति समाहितो योगी-श्वरो लोकव्यवहारं कुर्वतस्तत्त्वविदोऽपि श्रेष्ठ इति वक्तव्यम् । तच्च रामवसिष्ठयोः प्रश्नोत्तराभ्यां निराकृतम् ।

शङ्का—जीवन्मुक्ति के पाँच प्रयोजन हो तो, समाधिनिष्ठ योगी, लोक व्यवहार करता हुआ तत्त्वज्ञानी से श्रेष्ठ है, ऐसा कहना चाहिये । परन्तु श्रीराम और वसिष्ठजी के सम्वाद से उसकी श्रेष्ठता खण्डित होती है ।

श्रीरामः—

भगवन्भूतभव्येश ! कश्चिज्जातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियमे स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् ! वद ॥

श्री रामजी ने कहा—हे भूत-भावि के नियन्ता भगवन् ! कोई पुरुष समाधिनिष्ठ ज्ञानी के समान व्यवहार करता हुआ भी विश्राम युक्त है, तथा कोई पुरुष एकान्त देश में जाकर नियम से समाधि में ही स्थित है, इन दोनों में कौन अच्छा है ? हे भगवन् यह आप मुझे कहें—

वसिष्ठः—

"इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।

अन्तः शीतलता याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥
दृश्यैर्न मम सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित्संव्यवहारस्थः कश्चिद् ध्यानपरायणः ॥
द्वावेतौ राम ! सुसमावन्तश्चेत्परिशीतलौ ।
अन्तः शीतलता या स्यात्तदनन्ततपःफलम् ॥"

वसिष्ठजी ने कहा—इस गुण के कार्य रूप संसार को अनात्मरूप में देखने वाले के अन्तःकरण की जो शीतलता है, वह समाधिरूप है, ऐसा कहा है। दृश्य के साथ मेरा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसा निश्चय कर शान्त हो कोई पुरुष व्यवहार में स्थिर होता है और कोई पुरुष ध्यान में तत्पर होता है। ये दोनों पुरुष यदि अत्यन्त शीतल अन्तःकरण वाले हों तो, हे राम ! वे समान ही हैं। अन्तःकरण की शीतलता प्राप्त हो तो यह अनन्त तप का फल है।

नैष दोषः । अत्र वासनाक्षयरूपमन्तःशीतलत्वमवश्यं सम्पादनीयमित्येतावदेव प्रतिपाद्यते । न तु तदनन्तरभाविनो मनोनाशस्य श्रेष्ठत्वं निवार्यते । शीतलत्वं तृष्णायाः प्रशमनमित्येतादृशीं विवक्षां स्वयमेव स्पष्टीचकार ।

समाधान—तुम कहते हो यह दोष नहीं है। वासनाक्षयरूप अन्तर की शीतलता का अवश्य सम्पादन करे यही यहाँ वसिष्ठ जी के कहने का आशय है। परन्तु उससे वासनाक्षय होने के बाद होने वाले मनोनाश की श्रेष्ठता का कोई वारण नहीं होता है।

तृष्णा की शान्ति ही शीतलता है, ऐसा अभिप्राय वसिष्ठजी ने स्वयं ही स्पष्ट किया है—

"अन्तः शीतलतायां तु लब्धायां शीतलञ्जगत् ।
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमिदञ्जगत् ॥" इति ।

नन्वु समाधिनिन्दाव्यवहारप्रशंसा चात्रोपलभ्यते—

अन्तर में शीतलता मिली हो तो, उसके लिए संसारभर शीतल है। और जिसका अन्तःकरण तृष्णा से सन्तप्त है, उसके लिए जगत् रूपी वन में अग्नि जलने के समान है।

शङ्का—समाधि की निन्दा और व्यवहार की प्रशंसा भी वसिष्ठ के वचन से मालूम होती है—

"समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद्वृत्तिचञ्चलम् ।
तत्तस्य तु समाधानं सममुन्मत्तताण्डवैः ॥
उन्मत्तताण्डवस्थस्य चेतश्चेत्क्षीणवासनम् ।
तत्तस्योन्मत्तनृत्यं तु समं ब्रह्मसमाधिना ॥" इति ।

समाधि में स्थित पुरुष का चित्त यदि वृत्ति से चञ्चल हो तो, उसकी समाधि उन्मत्त पुरुष के नृत्य के समान है। उन्मत्त ताण्डव में स्थित हो तो भी यदि उसका चित्त वासना से रहित हो तो, उसका उन्मत्त के समान नृत्य भी ब्रह्म में समाधि के समान है।

मैवम् । अत्र हि समाधिप्राशस्त्यमेवाङ्गीकृत्य वासना निन्द्यते । इयमत्र वचनव्यक्तिः । यद्यपि व्यवहारात्समाधिः प्रशस्तस्तथाऽप्यसौ सवासनश्चेत्तदा निर्वासनाद् व्यवहारादधम एवेति स न समाधिः । यदा समाहितव्यवहर्त्तारावुभावप्यतत्त्वज्ञौ सवासनौ चेत्तदा समाधेरुत्तमलोकप्राप्तिहेतुपुण्यत्वेन प्राशस्त्यम् । यदावुभौ ज्ञाननिष्ठौ निर्वासनौ च तदापि वासनाक्षयरूपां जीवन्मुक्तिं परिपालयन्नयं मनोनाशरूपः समाधिः प्रशस्त एव । तस्माद्योगीश्वरस्य श्रेष्ठत्वात्पञ्चप्रयोजनोपेताया जीवन्मुक्तेर्न कोऽपि विघ्न इति सिद्धम् ।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्तिविवेके जीवन्मुक्तिस्वरूपसिद्धिप्रयोजननिरूपणं नाम चतुर्थं प्रकरणम् ॥ ४ ॥

समाधान—यहाँ समाधि की श्रेष्ठता मानकर वासना की निन्दा कही गई है। ऊपर के वचन का आशय यह है कि यद्यपि व्यवहार से समाधि उत्तम है, तथापि यदि वह वासनायुक्त हो तो, वह व्यवहार से भी अधम है। इसलिये यह समाधि ही नहीं गिनी जाती है। यदि समाधिस्थ और व्यवहार करने वाला तत्त्ववित् न होने से वासनायुक्त

हो तो, वह समाधि उत्तम लोक की प्राप्ति का साधन पुण्यरूप होने से अज्ञानी के व्यवहार से श्रेष्ठ है। जो व्यवहार करने वाला और समाहित चित्तवाला पुरुष, दोनों ज्ञाननिष्ठ और वासनारहित हो तो भी, वासना का क्षयरूप जीवन्मुक्ति का पालन करनेवाली यह मनोनाशरूप समाधि श्रेष्ठ ही है। इस प्रकार योगीश्वर श्रेष्ठ है, इसलिये पांच प्रयोजन वाली जीवन्मुक्ति में कोई भी बाधा नहीं है।

इस प्रकार जीवन्मुक्तिविवेक में स्वरूप-प्रमाण-साधन प्रयोजनों द्वारा जीवन्मुक्तिनिरूपण नामक चौथा प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं विद्वत्संन्यासप्रकरणम् ।

स्वरूपप्रमाणसाधनप्रयोजनैर्जीवन्मुक्तिर्निरूपिता । अथ तदुपकारिणं विद्वत्संन्यासं निरूपयामः । विद्वत्संन्यासश्च परमहंसोपनिषदि प्रतिपादितः । तां चोपनिषदमनूद्य व्याख्यास्यामः । तत्रादौ विद्वत्संन्यासयोग्यं प्रश्नमवतारयति ।

अब जीवन्मुक्ति का उपकारक विद्वत्संन्यास का निरूपण किया जाता है । विद्वत्संन्यास का प्रतिपादन परमहंसोपनिषद् में किया है । इस उपनिषद् का पाठ सहित हम व्याख्यान करेंगे । वहाँ आदि में विद्वत्संन्यास के योग्य प्रश्न की अवतारणा करते हैं ।

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपगम्योवाच" इति ।

परमहंस योगियों का कौन सा मार्ग है ? और उनकी स्थिति कैसी है ? इस प्रकार नारदजी ने ब्रह्मा के पास जाकर प्रश्न किया ।

यद्यप्यथशब्दापेक्षित आनन्तर्यप्रतियोगी न कोऽप्यत्र प्रतिभाति तथाऽपि प्रष्टव्यार्थोऽत्र विद्वत्संन्यासः । तस्मिँश्च विदिततत्त्वो लोकव्यवहारैर्विक्षिप्यमाणो मनोविश्रान्ति कामयमानोऽधिकारी । ततस्तादृगधिकारिसंपत्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । केवलयोगिनं केवलपरमहंसं च वारयितुं पदद्वयमुक्तम् । केवलयोगी तत्त्वज्ञानाभावेन त्रिकालज्ञानाकाशगमनादिषु योगैश्वर्यचमत्कारेष्वासक्तः संयमविशेषैस्तत्रोपयुक्ते । ततः परमपुरुषार्थाद् भ्रष्टो भवति । अस्मिन्नर्थे सूत्रं पूर्वमेवोदाहृतम्—"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" इति । केवलपरमहंसस्तु तत्त्वविवेकेनैश्वर्येष्वसारतां बुद्ध्वा विरज्यति । तदप्युदाहृतम्—

यद्यपि 'अथ' शब्द इस स्थल में अनन्तर अर्थ में है, तथापि किसके अनन्तर यह मालूम नहीं पड़ता है, तब भी यहाँ प्रश्न का विषय

विद्वत्संन्यास है। इस विद्वत्संन्यास में, तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी लौकिक व्यवहारों द्वारा विक्षेप पाने से चित्त विश्रान्ति की इच्छा-वाला पुरुष अधिकारी है।

इसलिये वैसे अधिकार के प्राप्त होने पर यह उपनिषद् के आरम्भ में दिये गये 'अथ' का अर्थ है। केवल परमहंस के वारण करने के लिये योगी का ग्रहण किया हैं और केवल योगी के वारण करने के लिये परमहंस का ग्रहण किया है। केवल योगी को तत्त्वज्ञान न होने से, त्रिकाल ज्ञान आकाश में गमन आदि योग ऐश्वर्य कारक व्यवहारों में वह आसक्ति पाता है और उससे विविध संयमों को करके अपने योग बल का उसमें उपयोग करता हैं, जिससे वह परम पुरुषार्थ मोक्ष से भ्रष्ट हो जाता है, 'ते समाधा०' यह सूत्र पहिले ही कहा है। केवल परमहंस तो तत्त्व के विवेक द्वारा ऐश्वर्य को असार जान कर उससे विराग को प्राप्त करता है। उसका भी उदाहरण इस प्रकार आगे दिया है—

"चिदात्मन इमा इत्थं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः।
इत्यस्याऽऽश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम्॥" इति।

विरक्तोऽप्यसौ ब्रह्मविद्याभारेण विधिनिषेधावल्लङ्घयति। तदुक्तम्—

इस जगत् में चैतन्यरूप आत्मा की ये सारी शक्तियाँ इस प्रकार व्यक्त हैं, ऐसा समझ कर आश्चर्य के समूह में इस जीवन्मुक्त पुरुष को कौतुक उत्पन्न नहीं होता है।

विरक्त होने पर भी केवल परमहंस पुरुष, ब्रह्मविद्या के बल के द्वारा विधि-निषेध का उल्लंघन करता है। कहा है—

"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः" इति॥

तथा च श्रद्धालवः शिष्टास्तमेवं निन्दन्ति—

त्रिगुणातीत मार्ग में चलने वाले तत्त्ववित् पुरुष के लिए क्या विधि है या क्या निषेध है? अर्थात् वह विधि निषेध के वश में नहीं है, ऐसे परमहंस की श्रद्धावान् शिष्ट पुरुष इस प्रकार निन्दा करते हैं।

"सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति संप्राप्ते तु कलौ युगे।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः॥" इति।

योगिनि तु परमहंसे यथोक्तं दोषद्वयं नास्ति । अन्योऽप्यस्यातिशयः प्रश्नोत्तराभ्यां दर्शितः ॥

हे मैत्रेय ! कलियुग जब होगा तब सब मनुष्य ब्रह्म की वार्त्ता मात्र करेंगे, परन्तु शिश्नोदरपरायण वे शुभ क्रियाओं को नहीं करेंगे।

योगी परमहंस में तो, सिद्धि में आसक्ति और यथेष्ट आचरण ये दोनों दोष नहीं होते हैं। उस योगयुक्त परमहंस की श्रेष्ठता श्रीरामचन्द्र और वसिष्ठ मुनि के प्रश्नोत्तर से मालूम पड़ती है।

श्रीराम:—

"एवं स्थितेऽपि भगवन् ! जीवन्मुक्तस्य सन्मतेः ।
अपूर्वोऽतिशयः कोऽसौ भवत्यात्मविदां वर ! ॥

श्रीरामजी ने कहा, ऐसा है तब भी हे भगवन् ! हे आत्मज्ञानी में श्रेष्ठ ! शुभ मति वाले जीवन्मुक्त की कोई अपूर्व श्रेष्ठता है तो वह कहें।

वसिष्ठः—

"ज्ञस्य कस्मिंश्चिदेवाङ्ग ! भवत्यतिशयेन धीः ।
नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा स आत्मन्येव तिष्ठति ॥
मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैस्तन्त्रसिद्धैश्च भूरिशः ।
कृतमाकाशयानादि तत्र का स्यादपूर्वता ॥
एक एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः ।
सर्वत्राऽऽस्थापरित्यागान्नीरागममलं मनः ॥
एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्त्तेः
संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य ॥
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह—
लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥" इति ।

वसिष्ठ जी ने कहा, "हे राम ! ज्ञानवान् पुरुष की बुद्धि किसी भी श्रेष्ठ वस्तु में मोह को प्राप्त नहीं करती है। नित्यतृप्त और प्रशान्त चित्तवाले उस स्वरूप में ही स्थिति करनेवाला होता है। मन्त्रसिद्धि-वाला, तप की सिद्धिवाला, उसी तरह तन्त्र की सिद्धिवाला कदाचित्

आकाश में गमन करे तो, उसमें अपूर्वता क्या है ? कोई नहीं। आकाश में बहुत से पक्षी उड़ते हैं, उसी तरह यह भी एक पक्षी है, ज्ञानी में एक विशेषता यह है जो मूढ़ पुरुषों में नहीं है, वह यह है कि सब दृश्य पदार्थों में सत्य बुद्धि न रहने से उसका निर्मल मन राग-रहित होता है।

आगे को सूचित करने वाले इतर चिह्न रहित स्वरूप वाले संसार रूपी अनादि काल का भ्रम जिसका चला जाता है, ऐसे ज्ञानवान् पुरुष का मुख्य चिह्न काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ और आपत्ति की प्रतिदिन अत्यन्त क्षीणता होती है।"

एतेनातिशयेनोपेतानां दोषद्वयरहितानां मार्गस्थिती पृच्छयेते। वेषभाषादिरूपो हि व्यवहारो मार्गः। चित्तोपरमरूप आन्तरो धर्मः स्थितिः।

इस प्रकार की श्रेष्ठता वाला और सिद्धि में आसक्ति और यथेष्ट आचरण ये दो दोषों से रहित ऐसे योगी का मार्ग और स्थिति को पूछते हैं। वेश भाषादिरूप जो उसका व्यवहार है वह उसका 'मार्ग जानो। तथा चित्त का उपरामरूप जो अन्तःकरण का धर्म है, उसे स्थिति समझो।

भगवाँश्चतुर्मुखो ब्रह्मा यथोक्तप्रश्नोत्तरमवतारयति--"तं भगवानाह" इति। वक्ष्यमाणमार्गे श्रद्धातिशयमुत्पादयितुं मार्गं प्रशंसति--

भगवान् चतुरानन ब्रह्मा पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—'नारद से भगवान् कहते हैं।'

आगे कहे जाने वाले मार्ग में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये मार्ग की प्रशंसा करते हैं :—

"सोऽयं परमहंसानां मार्गो लोके सुदुर्लभतरो न तु बाहुल्यम् ॥" इति।

यः पृष्टः सोऽयमिति योजना। अयमित्युत्तरग्रन्थे वक्ष्यमाण आच्छादनादिः स्वशरीरोपभोगेन लोकोपकारेण च निर-

पेक्षो मुख्यो मार्गः परामृश्यते । तादृशस्य परमकाष्ठां प्राप्तस्य वैराग्यस्यादृष्टचरत्वात्तस्य मार्गस्य दुर्लभत्वम् । न चैतावता-ऽत्यन्ताभावः शङ्कनीय इत्यभिप्रेत्य बाहुल्यमेव प्रतिषेधति । न त्विति । बाहुल्येनेति वक्तव्ये लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः ।]

"यह परमहंस मार्ग अत्यन्त दुर्लभ है। उसकी बहुलता नहीं"—'सः' (वह) अर्थात् जो पूछा उसको समझो। और 'अयं (यह) अर्थात् अब जो कहने में आवेगा, और जो आच्छादन आदि अपने शरीर के उपभोग का साधन रहित और लोकोपकार की अपेक्षा रहित है, उसे मुख्य मार्ग समझो, 'इस प्रकार की परम अवधि को प्राप्त' हुआ। वैराग्य पहिले देखे हुए न होने से उसकी दुर्लभता कही गई है। यह ऊपर से वैसे वैराग्य की अभाव की शङ्का हो तो, उसके निवारण के लिये 'न तु बाहुल्यं' (प्रायः नहीं होते) इस वाक्य से उसकी अधिकता का निषेध किया है। 'बाहुल्येन—नहीं कहकर "बाहुल्यं" कहा है, यह छान्दस प्रयोग है।

नन्वयं मार्गो दुर्लभतरश्चेत्तर्हि तदर्थं प्रयासो न कर्त्तव्यः तेन प्रयोजनाभावादित्याशङ्क्याह ।

शङ्का—यदि यह मार्ग अति दुर्लभ है, तो उसके लिये प्रयास करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि उससे कोई प्रयोजन भी नहीं है। ऐसी शङ्का का उत्तर—

"यद्येकोऽपि भवति स एव नित्यपूतस्थः स एव वेद-पुरुष इति विदुषो मन्यन्ते" इति ॥

यदि वैसा पुरुष एक भी होता है तो, वही सदा पवित्र परमात्मा में स्थित और वेद पुरुष है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं।

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥"

इति न्यायेन यत्र क्वापि यदा कदाचित् योगी परमहंसो यदि कश्चिल्लभ्यते तर्हि स एव नित्यपूतस्थो भवति । नित्यपूतः परमात्मा । "य आत्माऽपहतपाप्मा" इति श्रुतेः । एवकारेण

केवलयोगी केवलपरमहंसश्च व्यावर्त्तते। केवलयोगी नित्यपूतं न जानाति केवलपरमहंसो जानन्नपि चित्तविश्रान्त्यभावाद् बहिर्मुखो ब्रह्मणि न तिष्ठति। वेदप्रतिपाद्यः वेदपुरुषः विदुषो विद्वांसो ब्रह्मानुभवचित्तविश्रान्तिप्रतिपादकशास्त्रपारङ्गता योगिनः। परमहंसस्य ब्रह्मनिष्ठत्वं सर्वे जना मन्यन्ते। यथोक्तविद्वांसस्तु तदप्यसहमाना ब्रह्मत्वमेव मन्यन्ते। तथा च स्मर्यते।

हजारों मनुष्यों में कोई एक पुरुष अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि के लिये यत्न करता है और यत्न करने वाले चित्त शुद्धि वालों में से कोई ही एक मुमुक्षु (परमात्मा को) ठीक-ठीक जानता है। इस न्याय से, जहाँ कहीं, और जब कभी जो योगी परमहंस मिले तो वही नित्य पूतस्थ है। नित्य पूत (सदा पवित्र) परमात्मा ही है। क्योंकि, 'जो आत्मा निष्पाप है।' ऐसा श्रुति कहती है। 'यद्येको' इस उपनिषद् वाक्य में 'एव' (ही) ऐसा पद है। वह केवल योगी और केवल परमहंस के निमित्त है। क्योंकि केवल योगी तो, नित्य पूत आत्मा को जानता ही नहीं है और केवल परमहंस जानता भी है तब भी उसका चित्त विश्राम न पाने से बहिर्मुख होता है, इससे ब्रह्म में स्थिति नहीं कर सकता है। वेद से प्रतिपादन करने योग्य पुरुष वेद-पुरुष है। ब्रह्मानुभव और चित्त-विश्रान्ति के निमित्त प्रतिपादन करनें वाले शास्त्रों का पार पाये हुए पुरुष को यहाँ विद्वान् जाने। परमहंस योगी का ब्रह्मनिष्ठत्व सर्वमनुष्य मानते हैं। पूर्वोक्त विद्वान् तो, उसको सहन न कर उसका ब्रह्मत्व ही मानता है। स्मृति में ऐसा कहा है—

"दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्म ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥" इति।

अतो न प्रयोजनाभावः शङ्कितुमपि शक्यते।

दर्शन और अदर्शन का त्याग कर अद्वैत स्वरूप से रहता है, वह पुरुष स्वयं, हे ब्रह्मन्! ब्रह्मवित् नहीं वरन् ब्रह्म ही है।

इसलिये योगी परमहंस दशा का कोई प्रयोजन ही नहीं है, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती है।

नित्यपूतस्थत्वं वेदपुरुषत्वं च मुखतो विशदयन्नर्थात्का स्थितिरिति प्रश्नोत्तरं सूचयति ।

नित्यपूतस्थता और वेदपुरुषता वाणी से स्पष्ट करते हुए 'उनकी स्थिति कैसी होती है ?' इस प्रश्न का उत्तर तात्पर्य्य से कहते हैं ।

"महापुरुषो यच्चित्तं तत्सर्वदा मय्येवावतिष्ठते । तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते ॥" इति ।

वह पुरुष योगी है जो अपना चित्त है वह मुझमें ही स्थित है। इसलिए मैं भी उसी में रहता हूँ ।

वैदिकज्ञानकर्माधिकारिषु पुरुषेषु मध्ये योगिनः परमहंसस्यात्यन्तमुत्तमत्वान्महापुरुषत्वम् । स तु महापुरुषो यच्चित्तं स्वकीयं तत्सदा मय्येवावस्थापयति । संसारगोचराणां तदीयचित्तवृत्तीनामभ्यासवैराग्याभ्यां निरुद्धत्वात् । अत एव भगवान् प्रजापतिः शास्त्रसिद्धं परमात्मानं स्वानुभवेन परामृशन्मयीति व्यापदिशति । तस्माद्योगी मय्येव चित्तं स्थापयति । तस्मादहमपि परमात्मत्वस्वरूपत्वेन तस्मिन्नेव योगिन्याविर्भूतोऽवस्थितोऽस्मि नेतरेष्वज्ञानिषु । तेषामविद्यावृतत्वात् । तत्त्ववित्स्वप्ययोगिषु बाह्यचित्तवृत्तिभिरावृतत्वान्नास्त्याविर्भावः ॥

इदानीं कोऽयं मार्ग इति पृष्टं मार्गमुपदिशति--

वैदिकज्ञान और कर्म के अधिकारी पुरुषों में योगी परमहंस अत्यन्त उत्तम है, इसलिये उसको महापुरुष कहते हैं । यह महापुरुष, सदा मुझमें ही चित्त स्थिर करता है, क्योंकि, अभ्यास और वैराग्य से, संसार के विषयों से उसकी वृत्तियों का निरोध होता है । इसलिये भगवान् प्रजापति स्वयं साक्षात् अनुभूत आत्मा को ग्रहण कर, 'मयि' (मुझमें) ऐसा कहा है, इसलिए यह योगी मुझमें ही सदा चित्त स्थापन करता है, अतः मैं भी परमानन्दरूप से उसमें प्रकट होता हूँ । अन्य अज्ञानी में नहीं रहता हूँ । क्योंकि वे अविद्या से आवृत होते हैं । तत्त्ववित् होने पर भी जो योगी नहीं है, उनमें मेरा स्वरूप बहिर्वृत्ति

से आवृत होने से भी मेरा आविर्भाव नहीं होता है। अब योगी परमहंस का कौन मार्ग है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

"असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीन् शिखायज्ञोपवीते स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहेदि"ति ॥

यह योगी परमहंस अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु आदि को, शिखा और यज्ञोपवीत को, स्वाध्याय और सभी कर्मों का त्याग कर, एवं इस ब्रह्माण्ड का भी त्याग कर, केवल अपने शरीर के उपभोगार्थ निर्वाह के लिये और लोकोपकार के लिये कौपीन (लङ्गोट), दण्ड और आच्छादन को ग्रहण करे।

यो गृहस्थः पूर्वजन्मसञ्चितपुण्यपुञ्जे परिपक्वे सति मातृपितृज्ञात्यादिना निमित्तेन विविदिषासंन्यासरूपपरमहंसाश्रमसस्वीकृत्यैव श्रवणादिसाधनान्यनुष्ठाय तत्त्वं सम्यगवगच्छति, ततो गार्हस्थ्यप्राप्तैर्लौकिकवैदिकव्यवहारसहस्रैश्चित्ते विक्षिप्ते सति विश्रान्तिसिद्धये विद्वत्संन्यासं चिकीर्षति तं प्रति स्वपुत्रमित्रेत्याद्युपदेशः। पूर्वमेव विविदिषासंन्यासं कृत्वा तत्त्वं विदितवतो विद्वत्संन्यासं चिकीर्षोः कलत्रपुत्रादिप्रसङ्गाभावात्।

जो गृहस्थ पूर्वजन्म के सञ्चित पुण्य के परिपाक होने से, माता, पिता, सम्बन्धी आदि के कारण विविदिषासंन्यासरूपपरमहंस के आश्रम को स्वीकार किये विना श्रवण, मनन, आदि साधनों से यथार्थ तत्त्वज्ञान का सम्पादन करता हैं और उसके बाद गृहस्थाश्रम के कारण प्राप्त लौकिक वैदिक हजारों व्यवहारों के कारण, जब उनका चित्त विक्षेपुयक्त होता है, तब चित्त विश्रान्ति के लिये विद्वत्संन्यास धारण करने की इच्छा करता है उसके लिये पुत्र, मित्र आदि के त्याग को कहा गया है। क्योंकि जिसने प्रथम से ही विविदिषासंन्यास धारण कर तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है, और उसके बाद विद्वत्संन्यास धारण करनें की इच्छा रखता है, उसको स्त्री, पुत्रादि का प्रसङ्ग ही नहीं आता है।

नन्वयं विद्वत्संन्यासः किमितरसंन्यासवत् प्रैषोच्चारणादिविध्युक्तप्रकारेण सम्पादनीयः, किं वा जीर्णवस्त्रसोपद्रवग्रामादित्यागवत् लौकिकत्यागमात्ररूपः । नाऽऽद्यः । तत्त्वविदः कर्तृत्वराहित्येन विधिनिषेधानधिकारात् । अत एव स्मर्यते ।

शङ्का—क्या यह संन्यास, इतर संन्यास के समान प्रैषोच्चारण आदि विधि कथितानुसार सम्पादन करना चाहिये ? या जैसे अपने पुराने वस्त्र का त्याग कर दिया जाता है, उसी तरह या जैसे रोगादि उपद्रव वाले गाँव को छोड़ दिया जाता है, उस तरह स्त्री पुत्रादि का त्याग करे ? पहिला अर्थात् प्रैषोच्चारणादि विधिपूर्वक त्याग तो सम्भव नहीं होता है, क्योंकि तत्त्ववित् पुरुष अकर्त्ता होने से उसको विधिनिषेध का अधिकार ही नहीं है । स्मृति भी कहती है ।

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥" इति ।

न द्वितीयः । कौपीनदण्डाद्याश्रमलिङ्गविधानश्रवणात् ।

शङ्का—ज्ञानरूपी अमृत से तृप्ति पाए हुए कृतकृत्य योगी के लिए कुछ कर्तव्य नहीं है । यदि उसका कुछ कर्तव्य है तो, वह तत्त्ववित् नहीं है ।

कौपीन दण्डादि आश्रम के चिह्न के विधान का श्रवण होने से लौकिक त्यागरूप दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है ।

नैष दोषः । प्रतिपत्तिकर्मवदुभयरूपत्वोपपतेः । तथा हि—ज्योतिष्टोमे दीक्षितस्य दीक्षाङ्गनियमानुष्ठानकाले कण्डूयितुं हस्तं प्रतिषिद्ध्य कृष्णविषाणा विहिता ।

समाधान—प्रतिपत्ति कर्म के समान विद्वत्संन्यास लौकिक और वैदिक दोनों कर्मरूप हैं, इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं है । प्रतिपत्ति कर्म इस प्रकार है ।

जिसने ज्योतिष्टोम यज्ञ की दीक्षा ग्रहण की हो—उसके लिये दीक्षा का अङ्गभूत कर्म करते समय हाथ से शरीर को खुजलाने का निषेध कर काले मृग की सीङ्ग से खुजलाने का विधान किया है । इस विषय में प्रमाण :—

"यद्धस्तेन कण्डूयेत पामानं भावुकाः प्रजाः स्युर्यत्स्मयेत नग्नंभावुकाः" इति । "कृष्णविषाणया कण्डूयते"—इति च । तस्याश्च कृष्णविषाणायाः समाप्ते नियमे प्रयोजनाभावाद्धोढुमशक्यत्वाच्च त्यागः स्वत एव प्राप्तः । तं च त्यागं सप्रकारं वेदो विदधाति—

जो हाथ से शिर खुजलावे तो, खुजली की बीमारीयुक्त प्रजा होती है, यदि हास्य करे तो, लज्जाहीन प्रजा होती है। इसलिये काले मृग के सीङ्ग से खुजलावे। नियम पूरा होने पर काले मृग के सीङ्ग का प्रयोजन न होने से और उसको धारण करना भी अशक्य होने से उसका स्वयं त्याग प्राप्त होता है। परन्तु उसका विधिपूर्वक त्याग का वेद विधान करता है।

"नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति" इति । तदिदं प्रतिपत्तिकर्म लौकिकं वैदिकं चेत्युभयरूपम् । एवं विद्वत्संन्यासोऽप्युभयरूपः । न च तत्त्वविदि कर्तृत्वस्यात्ताभावः शङ्कनीयः । चिदात्मन्यारोपितस्य कर्तृत्वस्य विद्ययाऽपोहितत्वेऽपि चितिच्छायोपेतेऽन्तःकरणोपाधौ विक्रियासहस्रयुक्ते स्वतः सिद्धस्य कर्तृत्वस्य यावद्द्रव्यभावितयाऽनपोहितत्वात् । न च ज्ञानामृतेनेत्यादि स्मृतिविरोधः । सत्यपि ज्ञाने विश्रान्तिरहितस्य तृप्त्यभावेन विश्रान्तिसम्पादनलक्षणकर्त्तव्यशेषसद्भावेन कृतकृत्यत्वाभावात् ।

दक्षिणा के चुकने पर कृष्णविषाण को चात्वाल (ज्योतिष्टोम यज्ञ करने के लिए खोदा हुआ गढ़ा या खाई) में डालना चाहिए । यह कर्म लौकिक और वैदिक दोनों रूप में है इसी तरह विद्वत्संन्यास भी दोनों रूप है। तत्त्ववित् में कर्तृत्व का एकदम अभाव है, ऐसी शङ्का न करे। क्योंकि चैतन्यस्वरूप आत्मा में आरोपित कर्तृत्व को ज्ञान से निरोध करने पर भी अनेक विकारयुक्त चिदाभास सहित अन्तःकरणरूप उपाधि में जो स्वतः सिद्धकर्तृत्व है, वह जब तक अन्तःकरण रहता है, तब तक रहने वाला होने से उसको पुरुष दूर नहीं करता है।

इससे 'ज्ञानामृतेन' इस पूर्वोक्त स्मृति के साथ कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि ज्ञान होने पर भी, शेष चित्त की विश्रान्ति नहीं होती है। इसलिये उसको तृप्ति नहीं प्राप्त हुई, अतः चित्तविश्रान्ति-सम्पादन करना रूप कर्त्तव्य शेष होने से वह कृतकृत्य नहीं हुआ है।

ननु तत्त्वविदो विध्यङ्गीकारे सति तेनाऽपूर्वेण देहान्तरमारभ्येत।

शङ्का—तत्त्वज्ञानी की विधि प्रयुक्तता अङ्गीकार करने पर उससे हुए अपूर्व से अन्य देह की प्राप्ति होगी।

मैवम्। तस्याऽपूर्वस्य चित्तविश्रान्तिप्रतिबन्धनिवारणलक्षणस्य दृष्टफलस्य सम्भवे सत्यदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। अन्यथा श्रवणादिविधिष्वपि ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धनिवारणरूपं दृष्टफलमुपेक्ष्य जन्मान्तरहेतुत्वं कल्प्येत। तस्माद् विध्यङ्गीकारे दोषाभावाद् विविदिषुरिव विद्वानपि गृहस्थो नान्दीमुखश्राद्धोपवासजागरणादिविधिमनुसृत्यैव संन्यसेत्।

समाधान—यह दोष यहाँ नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि चित्तविश्रान्ति के प्रतिबन्धक कारणों का निवारण करना यह उस अपूर्व का प्रत्यक्ष फल सम्भव है, इसलिये जन्मान्तर की प्राप्तिरूप अदृष्ट फल की कल्पना उचित नहीं है। यदि ऐसा न मानो तो, श्रवण आदि विधियाँ भी ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति की प्रतिबन्धक होने से उसका निवारणरूप जो दृष्ट फल है, उसका अनादर कर जन्मान्तर प्राप्तिरूप फल की कल्पना हो सकती है। इसलिये तत्त्वज्ञानी का विधि प्रयुक्त कार्य मानने में कोई दोष नहीं है। ज्ञान की इच्छावाले पुरुष के समान ज्ञानवान् गृहस्थ भी नान्दीमुख श्राद्ध, उपवास, जागरण, आदि विधियों को अनुसरण कर विद्वत्संन्यास को धारण करे।

यद्यप्यत्र श्राद्धादिकं नोपादिष्टं तथाऽप्यस्य विद्वत्संन्यासस्य विविदिषासंन्यासविकृतित्वात् "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या" इति न्यायेन तदीया धर्माः सर्वेऽप्यत्र प्राप्नुवन्ति। यथाऽग्निष्टोमस्य विकृतिष्वतिरात्रादिषु तदीयधर्मप्राप्तिस्तद्वत्। तस्मादितरसंन्यास-

यदत्रापि प्रैषमन्त्रेण पुत्रमित्रादित्यागं सङ्कल्पयेत् । बन्ध्वादीनित्यादिशब्देन भृत्यपशुगृहक्षेत्रादिलौकिकपरिग्रहादिविशेषाः संगृह्यन्ते । स्वाध्यायं चेति चकारेण तदर्थनिर्णयोपयुक्तानि पदवाक्यप्रमाणशास्त्राणि वेदोपबृंहकाणीतिहासपुराणानि च समुच्चिनोति । औत्सुक्यनिवृत्तिमात्रप्रयोजनानां काव्यनाटकादीनां त्यागः कैमुतिकन्यायसिद्धः । सर्वकर्माणीति सर्वशब्देन लौकिकवैदिकनित्यनैमित्तिकनिषिद्धकाम्यानि संगृह्यन्ते । पुत्रादित्यागेनैहिकभोगः परिहृतः । सर्वकर्मत्यागेन चाऽऽमुष्मिकभोगाशा चित्तविक्षेपकारिणी परिहृता । अयमिति छान्दसविभक्तिव्यत्ययेनेदं ब्रह्माण्डमिति योजनीयम् । ब्रह्माण्डत्यागो नाम तत्प्राप्तिहेतोर्विराडुपासनस्य त्यागः । ब्रह्माण्डं चेति चकारेण सूत्रात्मप्राप्तिहेतोर्हिरण्यगर्भोपासनस्य तत्त्वज्ञानहेतूनां श्रवणादीनां च समुच्चयः । स्वपुत्रादिहिरण्यगर्भोपासनान्तमैहिकमामुष्मिकं च सुखसाधनं सर्वं प्रैषमन्त्रोच्चारणेन परित्यज्य कौपीनादिकं परिगृह्णीयात् । आच्छादनं चेति चकारेण पादुकादीनि समुच्चिनोति । तथा च स्मृतिः—

यद्यपि विद्वत्संन्यास में श्राद्ध आदि का कथन नहीं किया है, तथापि विद्वत्संन्यास विविदिषा संन्यास की विकृति है, और विकृति को प्रकृति के समान करना न्यायसिद्ध है, इसलिये विविदिषा संन्यास के सभी धर्म विद्वत्संन्यास में प्राप्त होते हैं। जैसे अग्निष्टोम यज्ञ की विकृति अतिरात्र आदि यज्ञ में अग्निष्टोम के सब धर्म प्राप्त होते हैं, वैसे विविदिषा संन्यास की विकृति विद्वत्संन्यास है, इसलिये विविदिषा संन्यास की अङ्गभूत क्रियायें इस विद्वत्संन्यास में भी करनी चाहिये, इसलिये इतरसंन्यासी के समान इस संसार में भी प्रैषोच्चारण द्वारा पुत्र मित्रादि के ज्ञान का त्याग करना चाहिए। श्रुति में बन्धु आदि ऐसा कहा है, इसलिये आदि शब्द से नौकर, पशु, गृह, क्षेत्र आदि लौकिक वस्तुओं का त्याग समझे। 'स्वाध्यायं च' यहाँ चकार का ग्रहण किया है, इसलिए उससे वेदान्त के निर्णय में उपयोगी व्याकरण, न्याय

मीमांसा, आदि शास्त्रों का तथा वेदार्थ का उपबृंहण करने वाले इतिहास पुराण आदि का भी ग्रहण समझना चाहिए, अर्थात् वे भी त्यागने के योग्य हैं, उत्सुकता की निवृत्ति मात्र जिनका प्रयोजन है, इस प्रकार के काव्य-नाटकादि का त्याग तो, कैमुतिकन्याय से सिद्ध है। सभी कर्मों के त्याग में अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग समझना चाहिये। पुत्रादि के त्याग से ऐहिक भोग का त्याग जानना चाहिए। सभी कर्मों के त्याग से चित्त को विक्षेप डालनेवाली आमुष्मिक भोग को आशा का त्याग जान लेना चाहिए। 'अयं' इस छान्दस प्रयोग से उस स्थल में 'इदं ब्रह्माण्डं' ऐसी योजना समझनो चाहिए। ब्रह्माण्ड का त्याग अर्थात् ब्रह्माण्डो की प्राप्ति का कारण विराट् उपासना का त्याग जानना चाहिए। 'ब्रह्माण्डं च' यहाँ चकार के ग्रहण से सूत्रात्मा की प्राप्ति का कारण हिरण्यगर्भोपासना का, तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का कारण श्रवणादि का त्याग समझना चाहिए। अपने पुत्र से उस हिरण्यगर्भोपासना तक इस लोक परलोक के सब सुखों के साधनों को प्रैष मन्त्र का उच्चारण से त्याग कर कौपीन आदि का ग्रहण करना चाहिए। आच्छादन को ग्रहण करने को कहा है, परन्तु च शब्द से पादुका आदि का ग्रहण करना भी समझना चाहिए।

स्मृति में यह कहा है—

"कौपीनयुगलं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम्।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्॥" इति।

दो लङ्गोटा, एक ओढ़ने का वस्त्र, शीत से बचाने के लिये गुदड़ी और पादुका इतनी वस्तु संन्यासी ग्रहण करे, अन्य का संग्रह न करे।

स्वशरीरोपभोगो नाम कौपीनेन लज्जाव्यावृत्तिः। दण्डेन गोसर्पाद्युपद्रवपरिहारः। आच्छादनेन शीतादिपरिहारः। चकारात्पादुकाभ्यामुच्छिष्टदेशस्पर्शादिपरिहारं समुच्चिनोति। लोकस्योपकारो नाम दण्डादिलिङ्गेन तदीयमुत्तमाश्रमं परिज्ञाय तदुचिताभिवन्दनभिक्षाप्रदानादिप्रवृत्त्या सुकृतसिद्धिः। चकाराभ्यामाश्रममर्यादायाः शिष्टाचारप्राप्तायाः पालनं समुच्चिनोति॥

कौपीन से लज्जा की रक्षा होती है, दण्ड से बैल, सर्प, आदि के उपद्रवों से बचता है, आच्छादन से शीत आदि दुःखों का परिहार होता है और पादुका धारण करने से उच्छिष्ट भूमि का स्पर्श नहीं होता है। इन सबको शरीर का उपभोग और दण्डादि चिह्न को देख कर उसका उत्तम आश्रम है, ऐसा समझ कर लोक उसका यथोचित अभिवन्दन करते हैं, और भिक्षा देते हैं, उससे उस लोक के पुण्य की वृद्धि होती है। इस प्रकार चिह्न धारण करने का लोकोपकार भी फल हैं, पूर्वोक्त उपनिषद् के (स्वशरीरोपभोगाय च लोकोपकाराय च) इस भाँति दो चकार का ग्रहण किया है, इससे शिष्टाचार द्वारा प्राप्त आश्रम मर्यादा का पालन भी दण्डादि चिह्न धारण का फल है, ऐसा समझना चाहिए।

कौपीनादिपरिग्रहस्याऽऽनुकूल्यमभिप्रेत्य मुख्यत्वं प्रतिषेधति—

"तच्च न मुख्योऽस्ति" इति।

यत् कौपीनादिपरिग्रहणमस्ति तदप्यस्य योगिनः परमहंसस्य मुख्यः कल्पो न भवति। किं त्वदनुकल्प एव। विविदिषासंन्यासिनस्तु दण्डग्रहणं मुख्यमिति कृत्वा दण्डवियोगस्य निषेधः स्मर्यते—

योगी परमहंस कौपीन आदि धारण करे, उसको अनुकूल पड़े इस अभिप्राय से उनको कौपीनादि धारण करने के लिए कहा है। इसलिये कौपीनादि धारण की मुख्यता का निषेध करता है।

'तच्च न मुख्योऽस्ति' कौपीन आदि ग्रहण करना यह उनका अर्थात् परमहंस के लिए मुख्य विधि नहीं है, किन्तु गौण विधि है। विविदिषा संन्यासी को तो दण्ड ग्रहण आदि मुख्य है। इसलिये ही स्मृति दण्डत्याग का निषेध करती है।

"दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वदैव विधीयते।
न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः॥" इति।

दण्ड और शरीर का सम्बन्ध सदा रखना चाहिये। तीन धनुष (नाप विशेष) जहाँ तक जाये उतनी जमीन तक भी अपने आश्रम धर्म को जानने वाला संन्यासी को विना दण्ड के न चलना चाहिये।

"प्रायश्चित्तमपि दण्डनाशे प्राणायामशतं स्मर्यते—"दण्ड-त्यागे शतं चरेत्" इति।

योगिनः परमहंसस्य मुख्यं कल्पं प्रश्नोत्तरगतं दर्शयति—

किसी निमित्त से यदि दण्ड का त्याग हो जावे तो १०० बार प्राणायाम करे। इस प्रकार दण्ड का नाश हो तो स्मृति में उसका प्रायश्चित्त भी कहा गया है, योगी परमहंस की मुख्य विधि को प्रश्नोत्तर द्वारा कहते हैं।

"कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः, न दण्डं न शिखं न यज्ञोपवीतं नाऽऽच्छादनं चरति परमहंसः" इति॥

न शिखमिति छान्दसो लिङ्गव्यत्ययोऽनुसन्धेयः। यथा विविदिषुः परमहंसः शिखायज्ञोपवीताभ्यां रहितो मुख्यस्तथा योगी दण्डाच्छादनाभ्यां रहितः सन्मुख्यो भवति। दण्डस्य वैणवत्वादिलक्षणमाच्छादनस्य कन्थात्वादिलक्षणं च परीक्षितुं दण्डाधिकं सम्पादयितुं रक्षितुं च चित्ते व्यापृते सति चित्तवृत्ति-निरोधलक्षणो योगो न सिद्ध्येदिति। तच्च न युक्तम्। न हि वरविघाताय कन्योद्वाहः" इति न्यायात्॥

आच्छादनाद्यभावे शीतादिबाधायाः कः प्रतीकार इत्या-शङ्क्याऽऽह—

इसकी मुख्य विधि क्या है? ऐसा पूछो तो, परमहंस दण्ड, शिखा, या यज्ञोपवीत, या आच्छादन, कुछ न रक्खे। यही मुख्य विधि है।

व्याकरण की रीति से 'न शिखा' चाहिये इसके बदले 'न शिखं' ऐसा प्रयोग किया है, यह छान्दस प्रयोग है। जैसे विविदिषा संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत रहित मुख्य है, वैसे ही योगी परमहंस दण्ड और वस्त्र रहित मुख्य है। क्योंकि दण्ड बाँस का है, या अन्य काठ का है, इस प्रकार दण्ड की परीक्षा करने के लिये, वैसे ही आच्छादन भी कन्था रूप है? या अंगरखा के समान है? इस प्रकार आच्छादन की परीक्षा करने के लिये, वैसे ही दण्ड मिलने के लिये और उसकी रक्षा के लिये योगी की वृत्ति बारबार बाहरी व्यापार वाली होने से

उसका मुख्य कर्त्तव्य जो चित्त वृत्ति का निरोध रूप योग है वह सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कन्या का व्याह वर के मारने के लिये नहीं है, किन्तु उसकी वंशवृद्धि के लिये है। वैसे ही जो परमहंस आश्रम धारण किया जाता हैं, वह केवल चित्त वृत्ति के निरोध के लिये ही धारण किया जाता है। किन्तु चित्त वृत्ति के विक्षेप के लिये धारण करने में नहीं आता है। दण्ड आदि धारण करने से तो, ऊपर बताये हुए प्रमाण से चित्त विक्षेप को प्राप्त होता है, इसलिये दण्ड आदि का ग्रहण यह परमहस के लिये मुख्य विधि नहीं है। वस्त्र आदि न रक्खे तो, शीत, आतप. आदि से शरीर की रक्षा किस रीति करे? ऐसी शंका हो सकती है इसलिये श्रुति उत्तर देती है—

"न शीतं न चोष्णं न दुःखं न सुखं न मानावमाने च षडूर्मिवर्जम्" इति ॥

उसको ठण्ड, गर्मी, दुःख, सुख, मान अपमान नहीं होते हैं। वैसे ही वह छः ऊर्मि रहित होता है।

निरुद्धाशेषचित्तवृत्तेर्योगिनः शीतं नास्ति तत्प्रतीत्यभावात्। यथा लीलायामासक्तस्य बालस्याऽऽच्छादनादिरहितस्यापि हेमन्त-शिशिरयोः प्रातःकाले शीतं नास्ति तथा परमात्मन्यासक्तस्य योगिनः शीताभावः। घर्मकाले उष्णाभावश्च तथैवागन्तव्यः। वर्षाभावसमुच्चयार्थश्चकारः। शीतोष्णयोरप्रतीतौ तज्जन्ययोः सुखदुःखयोरभाव उपपन्नः। निदाघे शीतं सुखजनकं हेमन्ते दुःखजनकम्। उक्तविपर्यय उष्णे द्रष्टव्यः। मानः पुरुषान्तरेण सम्पादितः सत्कारः, अवमानः तिरस्कारः।

सभी वृत्तियों का जिसने निरोध कर लिया है, ऐसे योगी को शीत की प्रतीति नहीं होती है। जैसे क्रीड़ा में सर्वथा आसक्त रहने वाला लड़का वस्त्र आदि से रहित हो तब भी हेमन्त शिशिर, ऋतु के प्रातः काल में भी उसको शीत नहीं मालूम पड़ता है। वैसे ही परमात्मा में आसक्त योगी को शीत आदि का असर नहीं होता है, उसी तरह उष्ण काल में गर्मी का अभाव होता है। चतुर्मास में वृष्टि का अभाव भी च शब्द से लेना चाहिये। उसको शीत और उष्णता की अप्रतीति होने से,

उससे होने वाले सुख दुःख का अभाव होता है। यह वार्ता सूचित ही है, उष्ण काल में शीत सुखकारक है, और हेमन्त में दुःखकारक है, उसी तरह हेमन्त में उष्णता सुख जनक है, और उष्ण काल में दुःखजनक है। मान अर्थात् अन्य पुरुष से किया सत्कार अपमान अर्थात् तिरस्कार।

यदा योगिनः स्वात्मव्यतिरिक्तं पुरुषान्तरमेव न प्रतीयते तदा मानावमानौ दूरादपेतौ। चकारः शत्रुमित्ररागद्वेषादिद्वन्द्वाभावं समुच्चिनोति। षडूर्मयः—क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामरणे च। तेषां त्रयाणां द्वन्द्वानां क्रमेण प्राणमनोदेहधर्मत्वादात्मतत्त्वाभिमुखस्य योगिनस्तद्वर्जनं न विरुद्ध्यते॥

जब योगी को अपनी आत्मा से अतिरिक्त अन्य पुरुष ही नहीं है। तब मान अपमान कैसे हो सकता है? चकार का ग्रहण शत्रु, मित्र, राग, द्वेष, आदि द्वन्द्व धर्मों के समुच्चय को दूर करता है। भूख, प्यास, शोक, मोह, और जरा, मरण, ये छ, ऊर्मियाँ समझो, इनमें भूख प्यास, प्राण का धर्म है। शोक मोह अन्तःकरण के धर्म हैं, और बुढ़ापा, मृत्यु, शरीर के धर्म हैं। इसलिये आत्माभिमुख योगी में छः ऊर्मियों का त्याग विरुद्ध नहीं है।

नन्वस्त्वेवं समाध्यवस्थायां शीताद्यभावः, व्युत्थानदशायां तु निन्दादिक्लेशः संसारिणमिवैनं बाधत एवेत्याशङ्क्याऽऽह—

समाधि दशा में योगी को शीत आदि का अभाव हो, परन्तु व्युत्त्थान दशा में तो, संसारी के समान निन्दा आदि क्लेश उसको कष्ट करता ही है, ऐसी शङ्का का उत्तर।

"निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहङ्कारादींश्च हित्वा" इति॥

निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया और अहङ्कार आदि का त्याग कर।

विरोधिभिः पुरुषैः स्वस्मिन्नापादिता दोषोक्तिर्निन्दा। अन्येभ्योऽधिकोऽहमिति चित्तवृत्तिर्गर्वः। विद्याधनादिभिरन्य-

सदृशो भवामीति बुद्धिर्मत्सरः। परेषामग्रे जपध्यानादिप्रकटनं दम्भः। भर्त्सनादिषु दृढबुद्धिर्दर्पः। धनाद्यभिलाषः इच्छा। शत्रुवधादिषु बुद्धिः द्वेषः। अनुकूलद्रव्यादिलाभेन बुद्धिस्वास्थ्यं सुखम्। तद्विपर्ययो दुःखम्। योषिदाद्यभिलाषः कामः। कामितार्थविघातजन्यो बुद्धिक्षोभः क्रोधः। लब्धस्य धनस्य त्यागासहिष्णुत्वं लोभः। हितेष्वहितबुद्धिरहितेषु हितबुद्धिर्मोहः। चित्तगतसुखाभिव्यञ्जिका सुखविकासादिहेतुर्धीवृत्तिर्हर्षः। परकीयगुणेषु दोषत्वारोपणमसूया। देहेन्द्रियादिसङ्घातेऽवात्मभ्रमोऽहङ्कारः। आदिशब्देन भोग्यवस्तुषु ममकारसमीचीनत्वादिबुद्धयो गृह्यन्ते। चकारो यथोक्तं निन्दादिविपरीतं स्तुत्यादिकं समुच्चिनोति। एतान्सर्वान्निन्दादीन् हित्वा पूर्वोक्तवासनाक्षयाभ्यासेन परित्यज्यावतिष्ठेतेति शेषः॥

विरोधी पुरुषों के द्वारा दोषों के कथन का नाम 'निन्दा' है। 'मैं दूसरे से अधिक हूँ' इस प्रकार की चित्त की वृत्ति का नाम गर्व है। 'विद्याधनादि से मैं दूसरों के समान होऊँ' ऐसी बुद्धि को मत्सर जानना चाहिए। अन्य के आगे जप ध्यान आदि प्रकट करना 'दम्भ' हैं। दूसरे के तिरस्कार करने में दृढ़ बुद्धि रखना यह दर्प कहा जाता है। धन आदि की लालसा 'इच्छा' है। शत्रुवधादि-विषयक बुद्धि को 'द्वेष' कहते हैं। धन आदि अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति से बुद्धि की स्वस्थता का नाम सुख है। इससे विपरीत दुःख है अर्थात् प्रतिकूल अनुभव दुःख है। स्त्री आदि की इच्छा का नाम काम है। इच्छित अर्थ के विघात से हुई बुद्धि के क्षोभ का नाम 'क्रोध' है। प्राप्त धन के त्याग को न सह सकना लोभ है। हित में अहित बुद्धि और अहित में हित बुद्धि 'मोह' है। चित्त में रहने वाले सुख को सूचित करनेवाली मुख के विकास का हेतुरूप जो बुद्धि की वृत्ति है, वह हर्ष है। अन्य के गुणों में दोषों का आरोपण करना असूया है। देह इन्द्रिय आदि के सङ्घात में, वह आत्मा है अर्थात् मैं हूँ ऐसी भ्रांति का नाम अहङ्कार है। आदि शब्द से योग्य पदार्थों में ममत्व और उसमें श्रेष्ठता का भी त्याग समझो। चकार का ग्रहण निन्दादि से विपरीत स्तुति आदि

के ग्रहण के लिये है। इन सब निन्दा आदि दोषों को वासनाक्षय के अभ्यास द्वारा त्याग कर जीवनयापन करे।

ननु विद्यमाने स्वदेहे तत्परित्यागो न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—

शङ्का—जब तक शरीर है, उनका त्याग सम्भव नहीं है।

"स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्वस्तम्," इति।

समाधान—अपने शरीर को मुर्दे के समान देखता है, क्योंकि उस शरीर का ज्ञान होने पर नाश हो जाता है।

पूर्वं यत्स्वकीयं वपुस्तदिदानीं योगिना स्वात्मचैतन्यात्पृथग्भूतत्वेन कुणपमिवावलोक्यते। यथा श्रद्धालुः स्पर्शनभीत्या शवदेहं दूरे स्थितोऽवलोकयति तथाऽयं योगी तादात्म्यभ्रान्त्युदयभीत्या सावधानो देहं चिदात्मनः सकाशान्निरन्तरं विविनक्ति, यतः कारणात्तद्वपुराचार्योपदेशागमानुभवैरपध्वस्तं चिदात्मनः सकाशान्निराकृतम्। ततश्चैतन्यवियुक्तस्य देहस्य शवतुल्यतया दृश्यमानत्वात्सत्यपि देहे निन्दादित्यागो घटत इत्यभिप्रायः॥

पूर्व में जिसको, यह मेरा शरीर है, ऐसा माना था, उस शरीर को ज्ञान होने पर योगी चैतन्यस्वरूप आत्मा से अलग मुर्दे की नाईं देखता है। जैसे कोई श्रद्धालु पुरुष छूने के डर से मुर्दे को दूर खड़ा हुआ देखता है, उसी भाँति योगी भी शरीर के साथ तादात्म्य की भ्रांति के उदय के भय से देह का चिदात्मा से सदा विवेक किया करता है। क्योंकि वह शरीर श्रीसद्गुरु के उपदेश से शास्त्र के प्रमाण से, और अपने अनुमान से ही चैतन्य स्वरूप आत्मा से अलग कर लिया है। इसलिये चैतन्य रहित शरीर मुर्दे के समान ही योगी देखता है। अत एव देह रहने पर भी योगी के लिए निन्दा का त्याग घटता है।

ननूत्पन्नो दिग्भ्रमः सूर्योदयदर्शनेन विनष्टोऽपि यथा कदा-

चिदनुवर्तते तथा चिदात्मनि देहात्मत्वसंशयाद्यनुवृत्तौ निन्दादिक्लेशः पुनःपुनः प्रसज्येतेत्याशंक्याऽऽह—

जैसे उत्पन्न हुई दिशा की भ्रान्ति सूर्योदय होने पर यद्यपि हट जाती है किन्तु तब भी किसी समय फिर उदय को प्राप्त होती है। उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा में फिर देह में आत्मत्व का संशय आदि उत्पन्न होता है तो, निन्दादि क्लेश का प्रसंग बार-बार आवे, ऐसी शंका पैदा हो तो उसके निवारण के लिये कहते हैं कि:—

"संशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तः" इति ॥

आत्मा कर्तृत्वादिधर्मोपेतस्तद्रहितो वेत्यादिकं संशयज्ञानम् । देहादिरूप एवाऽऽत्मेति विपरीतज्ञानम् । एतदुभयं भोक्तृविषयम् । मिथ्याज्ञानं तु भोग्यविषयमत्र विवक्षितम् । तच्चाऽनेकविधं "संकल्पप्रभवान् कामान्" इत्यत्र स्पष्टीकृतम् । तद्धेतुश्चतुर्विधः ।

संशयज्ञान, विपरीतज्ञान और मिथ्याज्ञान के जो हेतु हैं, वे योगी से सदैव के लिये निवृत्त हो जाते हैं।

आत्मा कर्त्तृत्व आदि धर्मवाला है ? या वह धर्मों से रहित है ? इत्यादि संशय ज्ञान का स्वरूप है। आत्मा देहादिरूप ही है, यह मिथ्याज्ञान का स्वरूप है। ये दोनों ज्ञान भोक्ता में रहने वाले हैं। इस स्थल में मिथ्याज्ञान योग्य सम्बन्धी समझना चाहिए। यह मिथ्याज्ञान अनेक प्रकार के हैं। (संकल्पप्र०)। इस श्लोक के व्याख्यान में स्पष्ट कहा है। संशय आदि ज्ञान का हेतु ४ प्रकार का श्रीपतञ्जलिमुनि ने कहा है।

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" (पा. सू. २।५) इति ।

अनित्ये गिरिनदीसमुद्रादौ नित्यत्वभ्रान्तिरेका । अशुचौ पुत्रभार्यादिशरीरे शुचित्वभ्रान्तिर्द्वितीया । दुःखे कृषिवाणिज्यादौ सुखत्वभ्रान्तिस्तृतीया । गौणमिथ्यात्मनि पुत्रभार्यादावन्नमयादिकेऽनात्मनि मुख्यात्मत्वभ्रान्तिश्चतुर्थी । एतेषां संशयादीनां हेतुर-

द्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वावरकमज्ञानं तद्वासना च। तच्चाज्ञानं योगिनः परमहंसस्य महावाक्यार्थबोधेन निवृत्तम् । वासना तु योगाभ्यासेन निवृत्ता । उदाहृतायां दिग्भ्रान्तावज्ञाने निवृत्तेऽपि वासनायाः सद्भावाद्यथापूर्वं भ्रान्तिव्यवहारः । योगिनस्तु भ्रान्तिहेतुद्वयराहित्यात् कुतः संशयादीन्यनुवर्तेरन् । तमेवमनुवृत्त्यभावमभिप्रेत्य तेन हेतुद्वयेन योगी नित्यनिवृत्त इत्युक्तम् । सत्यामप्यज्ञानतद्वासनानिवृत्तेरुत्पत्तौ तस्या निवृत्तेर्विनाशाभावान्नित्यत्वं द्रष्टव्यम् । तन्नित्यत्वे हेतुमाह—

अनित्य, अशुचि, दुःख, और अनातम पदार्थ में नित्य, शुचि, सुख, और आत्मापन की जो भ्रान्ति है—वह अविद्या है।

पर्वत, नदी, समुद्र, आदि, पदार्थ जो अनित्य है, उनमें नित्यत्व की भ्रान्ति करना यह पहिली अविद्या है। स्त्री पुत्रादि के अशुचि शरीर में शुचित्व की भ्रान्ति होना यह दूसरी अविद्या है। दुःखरूप कृषि व्यापार आदि में सुखरूप की भ्रान्ति यह तीसरी अविद्या है। स्त्री-पुत्रादि के शरीर जो गौण आत्मा है, वैसे ही अन्न का विकाररूप स्थूल शरीर जो मिथ्यात्मा है, उन दोनों में मुख्यात्मा की भ्रान्ति यह चौथी अविद्या है। पूर्वोक्त संशय आदि का कारण, अपने स्वरूप से अभिन्न ब्रह्म को आवरण करने वाला अज्ञान और उसकी वासना है। उसमें अज्ञान तो महावाक्य के अर्थ के ज्ञान होने से नाश को प्राप्त हो जाता है और वासना योगाभ्यास से क्षीण हो जाती है। पहिले जिस दिये हुए दृष्टान्त से दिशा की भ्रान्ति रूप अज्ञान, सूर्योदय से नाश हो जाने पर भी उसकी वासना बनी ही रहती है, उससे पुनः दिग्भ्रान्ति होती है। योगी को तो भ्रान्ति के दोनों कारणों का नाश होने से उसका संशय आदि कैसे होगा? अर्थात् नहीं होता है। इस प्रकार संशय आदि दो कारणों का अभाव होता है, इस अभिप्राय से ही सदा संशय आदि कारण से रहित है, ऐसा श्रुति कहती है। यद्यपि योगी में अज्ञान तथा वासना की निवृत्ति उत्पन्न होती है, तथापि उस निवृत्ति का नाश न हो इसलिये उसकी सदा निवृत्ति को कहा गया है। संशय आदि के कारणों की निवृत्ति के नित्यत्व में कारण को कहते हैं।

"तन्नित्यत्वबोधः" इति ।

सर्वनामत्वात्प्रसिद्धार्थवाची तच्छब्दोऽत्र सर्ववेदान्तप्रसिद्धं परमात्मानमाचष्टे। तस्मिन्परमात्मनि नित्यो बोधो यस्य योगिनः सोऽयं तन्नित्यबोधः । योगी हि—

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति श्रुतिमनुसृत्य चित्तविक्षेपान् योगेन परिहृत्य नैरन्तर्येण परमात्मविषयामेव प्रज्ञां करोति । अतो बोधस्य नित्यत्वाद्बोधविनाश्ययोरज्ञानतद्वासनयोर्निवृत्तिर्नित्येत्यर्थः ॥ बुध्यमानस्य परमात्मनस्तार्किकेश्वरवत्तटस्थत्वशङ्कां वारयति—"तत्स्वयमेवावस्थितिः" इति ।

यद् वेदान्तवेद्यं परं ब्रह्मास्ति तत्स्वयमेव न तु स्वस्मादन्यदित्येवं निश्चित्य योगिनोऽवस्थितिर्भवति ॥

तस्य योगिनो ब्रह्मानुभवप्रकारं दर्शयति—

'उस परमात्मा का जिसको सदा ज्ञान है। ऐसा योगी पुरुष—धीर ब्रह्मवित् पुरुष उस परमात्मा का साक्षात्कार कर ब्रह्माकार बुद्धि को करे'—इस श्रुति के अनुसार योग के द्वारा चित्त के विशेष का निरोध कर निरन्तर परमात्माकार बुद्धि करता है। इसलिये ज्ञान के नित्यत्व के कारण ज्ञान द्वारा नाश होने वाला अज्ञान और उसकी वासना की निवृत्ति उसमें नित्य है। अनुभवगम्य परमात्मस्वरूप तार्किक के ईश्वर के समान तटस्थ होगा, ऐसी शंका का वारण करते हैं—वह स्वस्वरूप की स्थिति है ।

वेदान्त से जानने योग्य जो परमात्मा का स्वरूप है, वह मैं स्वयं हूँ, मुझसे वह अलग नहीं है। ऐसा निश्चय होने से योगी की ब्रह्मविषयकस्थिति होती है।

योगी को किस प्रकार से ब्रह्म का अनुभव होता है, यह कह रहे है—

"तं शान्तमचलमद्वयानन्दविज्ञानघन एवास्मि तदेव मम परमं धाम," इति ।

वह शान्त, अचल, अद्वितीय, आनन्दस्वरूप, विज्ञानघन परमात्मा मैं हूँ । वही मेरा वास्तविक स्वरूप है ।

तमित्यादिपदत्रये द्वितीया प्रथमार्थे द्रष्टव्या । यः परमात्मा शान्तः क्रोधादिविक्षेपरहितः अचलो गमनादिक्रियारहितः, स्वगत-सजातीयविजातीयद्वैतशून्यः सच्चिदानन्दैकरसोऽस्ति स एवाऽहमस्मि । तदेव ब्रह्मतत्त्वं मम योगिनः परमधाम वास्तवं स्वरूपम् । न त्वेतत्कर्तृत्वभोक्तृत्वादियुक्तम् । एतस्य माया-कल्पितत्वात् ।

जो परमात्मा शान्त अर्थात् क्रोधादि विक्षेपरहित है, अचल अर्थात् गमनादिक्रियारहित है, सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित है, और अखण्ड सत् चित् आनन्द स्वरूप है, वही मैं हुँ । वह ब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ, योगी का परम धाम अर्थात् वास्तविक स्वरूप है । कर्तृत्व, भोक्तृत्व, इत्यादि धर्मों से युक्त मेरा स्वरूप नहीं है, वह तो माया कल्पित है ।

नन्वात्मनः परब्रह्मत्व आनन्दावाप्तिरिदानीं कुतो नेत्यत्रा-ऽऽनन्दावाप्तिः सदृष्टान्तमुक्ताऽभियुक्तैः ।

यदि आनन्द स्वरूप है तब, वह सदा सब में स्थित है, तब इस समय आनन्द की प्रतीति क्यों नहीं होती ? ऐसी शङ्का का उत्तर विद्वानों ने दृष्टान्त के साथ दिया है ।

"गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम् ।
तदेव कर्म रचितं पुनस्तस्यैव भेषजम् ॥
एवं सर्वशरीरस्थः सर्पिर्वत् परमेश्वरः ।
विना चोपासनं देवो न करोति हितं नृषु ॥" इति ।

यदि योगिनः पूर्वाश्रमप्रसिद्धा आचार्यपितृभ्रात्रादयः कर्मिणः श्रद्धाजडाः शिखायज्ञोपवीतसन्ध्यावन्दनादिराहित्येन पाखण्डित्व-मारोप्य व्यामोहयेयुस्तदा व्यामोहनिवृत्तये योगिनां वर्त्तमानं निश्चयं दर्शयति ॥

जैसे घी गौ के शरीर में ही रहता, तब भी वह उसके शरीर का पोषण नहीं करता है, परन्तु वही क्रिया द्वारा बाहर निकाला जाता है, तो शरीर की पुष्टि के लिए औषध स्वरूप होता है। वैसे परमात्मा घी के समान शरीर में रहता है, तथापि वह उपासना के विना मनुष्य का हित नहीं करता है।

यदि योगी के पूर्वाश्रम के प्रसिद्ध गुरु, पिता, भाई, आदि सम्बन्धी-जन, कर्मठ और श्रद्धाजड वे शिखा, यज्ञोपवीत, सन्ध्यावन्दन आदि के अभाव के कारण उसमें पाखंडिपन का आरोप कर उसको व्यामोह उत्पन्न करे तो, उस व्यामोह की निवृत्ति के लिये योगी के वर्तमान निश्चय को प्रदर्शित करते हैं—.

"तदेव च शिखा तदेवोपवीतं च परमात्मनोरैकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा संध्या" इति ।

वह ब्रह्म ही शिखा है, वही उपवीत है, और जीवात्मा परमात्मा के अभेद से जो उनका भेद नाश होता है, वही सन्ध्या है।

यद्वेदान्तवेद्यस्य परब्रह्मणो ज्ञानं तदेव कर्माङ्गभूतबाह्य-शिखायज्ञोपवीतस्थानीयम्। अन्ये च मन्त्रद्रव्यलक्षणे कर्माङ्गभूते चकारात् समुच्चीयन्ते। शिखाद्यङ्गसाध्यैः कर्मभिरुत्पन्नं यत् स्वर्गादिसुखं तत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेनैव लभ्यते। विषयानन्दस्य सर्वस्य ब्रह्मानन्दलेशत्वात्। "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा-मुपजीवन्ति" इति श्रुतेः। एतदेवाभिप्रेत्याऽऽथर्वणिका ब्रह्मोप-निषद्यामनन्ति—

वेदान्त से जानने योग्य परमात्मा का जो ज्ञान, वही कर्म के अङ्ग-भूत बाहरी शिखा, यज्ञोपवीत के स्थान पर है और अन्य मन्त्र द्रव्य लक्षण कर्माङ्गभूत का दो चकार से समुच्चय होता है। शिखा आदि अङ्गों से करने योग्य कर्मों से उत्पन्न हुए जो स्वर्ग आदि सुख हैं, वे सब ब्रह्म ज्ञान से ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण विषयानन्द ब्रह्मानन्द का लेश रूप है, यह श्रुति अन्य प्राणिगण इसी ब्रह्मानन्द के लेश को भोगते हैं, ऐसा कहती है। इसी अभिप्राय से अथर्ववेद के जानने वाले ब्रह्मोपनिषद् में कहते हैं।

"सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥
सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान्॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्॥
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः॥
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते।
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा॥
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः।
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः॥
तैर्विधार्यमिदं सूत्रं कर्माङ्गं तद्धि वै स्मृतम्।
शिखा ज्ञानमयी यस्योपवीतश्चापि तन्मयम्॥
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः।
इदं यज्ञोपवीतं च परमं यत्परायणम्॥
विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात्तज्ज्ञास्तं यज्ज्विनं विदुः॥ इति।

शिखा सहित क्षौर करा के विद्वान् परमहंस बाह्य सूत्र का त्याग करे। नाश रहित जो परब्रह्म है, वह सूत्र है, इसलिये उसको धारण करे। वेदान्त शास्त्र सूचित करता है, इसलिये परम पद (परमात्मा सूत्र है) इस सूत्र को जिसने जाना उसी ब्राह्मग ने वेद का पार पाया है। जिस तरह सूत्र में मणि गुथे रहते हैं वैसे ही सारा दृश्य जगत् जिसके द्वारा व्याप्त है, उस सूत्र को योगवित् और तत्त्वदर्शी पुरुष

धारण करे। उत्तम योग का आश्रय करने वाले विद्वान् को बाह्य यज्ञोपवीत त्यागना चाहिये। जो पुरुष ब्रह्म का सत्तारूप सूत्र को धारण करते हैं, वह ज्ञानवान् है। इस सूत्र के धारण करने से पुरुष उच्छिष्ट या अशुचि नहीं होता है, जो ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत वाले पुरुष के भीतर, ऊपर कहा हुआ सूत्र रहता है, वे जगत् में सूत्र को जानने वाले हैं, और वे ही नित्यसिद्ध यज्ञोपवीत वाले हैं। जिनको ज्ञानरूप शिखा है, जो ज्ञान में ही निष्ठावाला है, तथा जिनको ज्ञानरूप यज्ञोपवीत है, उन्हीं को परम पावन-ज्ञान है, ऐसा कहा है। जैसे अग्नि की, अपने स्वरूप से अलग, शिखा नहीं है, वैसे ही जिसको ज्ञानरूप शिखा है, वही शिखा वाला कहलाता है, इतर केश को धारण करने वाला शिखा युक्त नहीं है। जो ब्राह्मण आदि वर्ण वैदिक कर्म में अधिकारी है, उन्हें बाह्य सूत्र धारण करना चाहिये। क्योंकि वे कर्म के अङ्गभूत हैं। जिनको ज्ञान रूप शिखा है और ज्ञानमय उपवीत है उनका ही सम्पूर्ण ब्राह्मणत्व है, ऐसा वेदवेत्ता लोग कहते हैं। यह प्रसिद्ध, श्रेष्ठ और सबका उत्तम आश्रम रूप जो ब्रह्मरूप यज्ञोपवीत है, उसको अपने से अभिन्न जानता है, वह यज्ञोपवीत वाला है और उसको ही ज्ञानी लोग यज्ञ करने वाला कहते हैं।

तस्माद्योगिनः शिखायज्ञोपवीते विद्येते। तथैव सन्ध्याऽपि विद्यते। यः शास्त्रगम्यः परमात्मा यश्चाहम्प्रत्ययगम्यो जीवात्मा तयोरेकत्वज्ञानेन महावाक्यजन्येन भ्रान्तिप्रतीतो भेदो विशेषेण भग्न एव पुनर्भ्रान्त्यनुदयो भङ्गस्य विशेषः। येयमेकत्वबुद्धिः सेयमुभयोरात्मनोः सन्धौ जायमानत्वात्संध्येत्युच्यते। अहो-रात्रयोः सन्धावनुष्ठेया क्रिया यथा सन्ध्या तद्वत्। एवं च सति योगी श्रद्धाजडैर्न व्यामोहयितुं शक्यः।

कोऽयं मार्ग इति प्रश्नस्यासौ स्वपुत्रेत्यादिनोत्तरमुक्तम्। का स्थितिरित्येतस्य महापुरुष इत्यादिना सङ्क्षिप्योत्तरमुक्त्वा संशयविपरीतेत्यादिना तदेव प्रपञ्चयेदानीमुपसंहरति।

जिस प्रकार योगी के शिखा और यज्ञोपवीत होते हैं। उसी प्रकार उसकी सन्ध्या भी है। जो शास्त्रगम्य परमात्मा है तथा जो

मैं ऐसा प्रतीति के द्वारा गम्य जीवात्मा है, उनके अभेद को विषय करने वाले महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान की भ्रान्ति से प्रतीत होने वाला ज्ञान विशेष रूप से नष्ट होता है और उसका पुनः उदय नहीं होता है, यही नाश में विशेष है। इस प्रकार दोनों का अभेद ज्ञान जीवात्मा परमात्मा की सन्धि में होता है। इसलिये वह योगी की सन्ध्या कही जाती है। जैसे रात दिन की सन्धि में करने योग्य क्रिया सन्ध्या कहलाती, उसी तरह अपरोक्ष ज्ञान भी जीवात्मा और परमात्मा की सन्धि में होता है। इसलिए वह भी परमहंस की सन्ध्या ही समझी जाती है। इस प्रकार विचार करने वाले योगी को श्रद्धाजड़ पुरुष व्यामोह उत्पन्न नहीं कर सकता है।

परमहंस का कौन मार्ग है? उसका उत्तर 'स्वपुत्र०' इत्यादि श्रुति के द्वारा दिया है। उसके बाद उसकी स्थिति कैसी होती है? इसका उत्तर 'महापुरुष०' इत्यादि वचनों से संक्षेप में देकर और 'संशय०' इत्यादि वचनों से उसका विस्तार से उत्तर दिया है, अब उपसंहार करते हैं—

"सर्वान्कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः ॥" इति ।

सब कामनाओं का परित्याग कर योगी परमहंस की परम अद्वैत में स्थिति होती है।

क्रोधलोभादीनां कामपूर्वकत्वात्कामपरित्यागेन चित्तदोषाः सर्वेऽपि परित्यज्यन्ते ।

एतदेवाभिप्रेत्य वाजसनेयिभिराम्नातम्—

क्रोध आदि की उत्पत्ति भी काम से ही है, इसलिए काम के परित्याग के द्वारा चित्त के सब दोषों का त्याग समझना चाहिए इसी अभिप्राय से वाजसनेयी शाखा वाले कहते हैं:—

"अथो खल्वाहुः—काममय एवायं पुरुषः" इति । अतो निष्कामस्य योगिचित्तस्याऽद्वैते निर्विघ्ना स्थितिरुपपद्यते ॥

यह पुरुष निश्चय काममय ही है—इसलिए निष्काम योगी के चित्त की अद्वैत ब्रह्म में निर्विघ्न स्थिति घटती है।

ननु दण्डग्रहणविधिवासनयोपेता विविदिषासंन्यासिनो

योगिनं दण्डरहितं परमहंसं नाभ्युपगच्छन्तीत्याशङ्क्याऽऽह--

दण्ड ग्रहण की विधि की वासना से युक्त विविदिषा संन्यासी दण्ड रहित योगी को परमहंस नहीं मानते हैं, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं—

"ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ॥
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ।
तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ॥
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ।
इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः ॥" इति ।

जिसने ज्ञान दण्ड धारण किया है, वह एकदण्डी कहलाता है। जो काष्ठ का दण्ड धारण कर सबका अन्न खाता, और ज्ञान रहित है, वह संन्यासी महा रौरव नामक घोर नरक में जाता है। तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य और शमादि गुण रहित जो संन्यासी केवल भिक्षा माँगकर जीता है, वह पापी संन्यासियों का स्वरूप भंग करने वाला है। इस प्रकार एकदण्डी, और दण्डरहित योगी पुरुषों में अन्तर समझ कर योगी पुरुष को ही परमहंस कहना ठीक है।

परमहंसस्य योऽयमेकदण्डः स द्विविधः । ज्ञानदण्डः काष्ठ-दण्डश्च । यथा त्रिदण्डिनोवाग्दण्डो मनोदण्डः कायदण्डश्चेति त्रैविध्यम् । वाग्दण्डादयो मनुना स्मर्यन्ते--

परमहंस का एक दण्ड दो प्रकार का हैं—एक काठ का दण्ड दूसरा ज्ञानरूपी दण्ड। जैसे त्रिदण्डी संन्यासी को काठ के दण्ड के सिवाय वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड हैं, वैसे परमहंस का ज्ञानदण्ड है। वाग्दण्डादि तीन दण्ड मनुभगवान् ने कहा है :—

"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता बुद्धौ स त्रिदण्डीति चोच्यते ॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥"

तेषां स्वरूपं दक्षः स्मरति--

वाणी, मन और शरीर को दण्ड के समान पकड़ कर वश में रखने से संन्यासी त्रिदण्डी कहलाता है। मनुष्य सभी प्राणियों में इन तीन दण्डों को रख कर काम क्रोध को नियम से रखे, तब वह सिद्ध हो पाता है।

इनके स्वरूप को दक्षस्मृति कहती है :—

"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते नियता दण्डास्त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कर्मदण्डे त्वनीहताम् ।
मानसस्य तु दण्डस्य प्राणायामो विधीयते ॥" इति ।

वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कर्मदण्ड इन तीन दण्डों को जिसने नियम से वश में कर रक्खा है, वे त्रिदण्डी कहलाते हैं। वाग्दण्ड में मौन धारण करना, कर्मदण्ड में क्रिया रहित होना और मनोदण्ड के बदले प्राणायाम करना।

"कर्मदण्डोऽल्पभोजनम्" इति स्मृत्यन्तरपाठः । ईदृशं त्रिदण्डित्वं परमहंसस्याप्यस्ति । तदेतदभिप्रेत्य पितामहः स्मरति—

'थोड़ा भोजन करना, यह कर्मदण्ड है' ऐसा अन्य स्मृति में पाठ है। ऐसा त्रिदण्डी होना परमहंस के लिए भी है। इसी अभिप्राय से ब्रह्मा कहते हैं :—

"यतिः परमहंसस्तु तुर्याख्यः श्रुतिचोदितः ।
यमैश्च नियमैर्युक्तो विष्णुरूपी त्रिदण्डभृत् ॥" इति ।

परमहंस संन्यासी को श्रुति ने तुर्य—इस नाम से कहा है। यम नियम युक्त और वाग्दण्ड आदि तीन दण्डों को धारण करने वाले यति विष्णुरूप हैं।

एवं सति मौनादीनां वागादिदमनहेतुत्वाद्यथा दण्डत्वं तथैवाज्ञानतत्कार्यदमनहेतोर्ज्ञानस्य दण्डत्वम् । अयं ज्ञानदण्डो येन परमहंसेन धृतः स एव मुख्य एकदण्डीत्युच्यते । मानसस्य

ज्ञानदण्डस्य कदाचिच्चित्तविक्षेपेण विस्मृतिः प्रसज्येतेति तन्निवारणार्थं स्मारकः काष्ठदण्डो ध्रियते। तदेतच्छास्त्रार्थरहस्यमबुद्ध्वा वेषमात्रेण पुरुषार्थसिद्धिमभिप्रेत्य काष्ठदण्डो येन परमहंसेन धृतः स पुरुषो बहुविधसन्तापोपेतत्वाद्घोरान्महारौरवसंज्ञकान्नरकानाप्नोति। तत्र हेतुरुच्यते। परमहंसवेषं दृष्ट्वा ज्ञानित्वभ्रान्त्या सर्वे जनाः स्वस्वगृहे भोजयन्ति। स्वयं च जिह्वालम्पटो वर्ज्यावर्ज्यविवेकमकृत्वा सर्वमन्नमश्नाति तेन प्रत्यवायं प्राप्नोत्यज्ञानी। यानि तु "नान्नदोषेण मस्करीति" "चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्ष्यम्" इत्यादि स्मृतिवचनानि ज्ञानिविषयाणि। अयं च ज्ञानवर्जित इति युक्तोऽस्य नरकः। अत एव ज्ञानहीनस्य यतेर्भिक्षानियममाह मनुः।

इस प्रकार होने से जैसे मन आदि, वाणी आदि के दमन का कारण होने से दण्डरूप है, वैसेही ज्ञान भी अज्ञान और उसके कार्य्य को दमन करने वाला होने से दण्डरूप है। यह ज्ञानदण्ड जिस परमहंस ने धारण किया है वही मुख्य एकदण्डी कहलाता है। मानस दण्ड का किसी समय चित्त के विक्षेप के द्वारा विस्मरण होने का प्रसङ्ग आ पड़े तो, उसके स्मरण के लिये स्मारक चिह्नरूप से काष्ठ दण्ड धारण किया जाता है। इस प्रकार शास्त्र का तात्पर्य समझे विना केवल वेष मात्र से जिसने काठ का दण्ड धारण किया हो यह परमहंस अनेक प्रकार के सन्ताप युक्त होने से घोर महारौरव नामक नरक में जाता है।

नरक प्राप्ति का कारण यह है कि केवल परमहंस का वेष देख कर सब लोग 'यह ज्ञानी होगा' ऐसी भ्रान्ति से उसको अपने-अपने घर भोजन कराते हैं और वह स्वयं भी जिह्वा रस में लम्पट होने से वर्ज्य अवर्ज्य के विवेक को त्याग कर खाता है, उससे वह अज्ञानी वेषधारी परमहंस पापी होता है। 'संन्यासी को अन्न का दोष नहीं लगता है और 'संन्यासी चारो वर्णों की भिक्षा ग्रहण करे' इत्यादि स्मृति-वाक्य ज्ञानवान् संन्यासी के विषय में है, अज्ञानी संन्यासी भक्ष्य और अभक्ष्य के विवेक के त्यागने से नरक का ही अधिकारी है।

जिसको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है वैसे संन्यासी के लिये मनु जी भिक्षा का नियम करते हैं—

"न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥
एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जते ॥" इति ।

ज्ञानाभ्यासिनं प्रति त्वेवं स्मर्यते—

उत्पात के कथन के द्वारा शुभाशुभ निमित्त की सूचना के द्वारा, नक्षत्र विद्या के द्वारा, सामुद्रिक के द्वारा, उपदेश के द्वारा, वाद के द्वारा, किसी समय भी संन्यासी भिक्षा की प्राप्ति की इच्छा न रक्खे। एक ही समय भीख ले, अधिक भिक्षा में आसक्त न हो। क्योंकि जो यति भिक्षा में प्रीति करने वाला होता है, तो वह विषयों में भी आसक्त हो जाता है।

ज्ञानाभ्यासी परमहंस के लिये इस प्रकार स्मृति कहती है—

"एकवारं द्विवारं वा भुञ्जीत परमहंसकः ।
येन केन प्रकारेण ज्ञानाभ्यासो भवेत्सदा ॥" इति ।

एवं च सति ज्ञानदण्डकाष्ठदण्डयोर्यदन्तरमुत्तमत्वाधमत्वरूपं तदिदमवगत्योत्तमं ज्ञानदण्डं यो धारयति स एव मुख्यः परमहंस इत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

परमहंस संन्यासी एक बार या दो बार भोजन करे। सब तरह से वह ज्ञानाभ्यास में ही तत्पर रहे।

इस प्रकार ज्ञानदण्ड की उत्तमता और काष्ठदण्ड की अधमता समझ कर जो ज्ञानदण्ड धारण करता है वही मुख्य परमहंस है ऐसा मानना चाहिये।

नन्वस्त्वभिज्ञस्य परमहंसस्य ज्ञानदण्डो, मा भूत् काष्ठदण्डनिर्बन्धः, इतरा तु चर्या सर्वा कीदृशीत्याशङ्क्याऽऽह ।

ज्ञानवान् परमहंस को ज्ञान दण्ड रहे, उसको काष्ठ दण्ड के लिए

आग्रह न हो, परन्तु बाकी उसकी चर्या (वर्त्ताव) कैसी होती है ? ऐसी शङ्का के उत्तर में कहते हैं।

"आशाम्बरो निर्नमस्कारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद् भिक्षुर्नाऽऽवाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं न पृथक् नापृथक् न चाहं न त्वं न सर्वं चानिकेतस्थितिरेव स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेत् तल्लोकं नावलोकयेच्च" इति।

आशा दिशस्ता एवाम्बरं वस्त्रमाच्छादनं यस्यासावाशाम्बरः। यत्तु स्मृतिवचनम्।

दिशा रूपी वस्त्र धारण करने वाला, नमस्कार रहित, निन्दास्तुति रहित, सब व्यवहारों में आग्रह रहित, संन्यासी को होना चाहिए। देवता आवाहन, विसर्जन, मन्त्रजप, ध्यान और उपासना आदि उसे न करना चाहिये। उसके लिए लक्ष्यार्थ, अलक्ष्यार्थ, पृथक्, अपृथक्, मैं, तू, सर्व, इत्यादि कोई विकल्प नहीं है। उसको एक जगह स्थिति न करनी चाहिये, सुवर्णादि ग्रहण न करे और उसी प्रकार की दृष्टि से संसार आदि का अवलोकन भी न करे।

'आशा' अर्थात् दिशारूपी वस्त्र धारण करने वाले योगी 'आशाम्बरधर' या 'दिगम्बर' कहलाते हैं।

"जान्वोरूर्ध्वमधोनाभेः परिधायैकमम्बरम्।
द्वितीयमुत्तरं वासः परिधाय गृहानटेत्॥" इति।

घुटने के ऊपर और नाभि के नीचे एक वस्त्र धारण कर और ऊपर दूसरा वस्त्र धारण कर यति घर-घर भीख माँगने को जावे।

यह स्मृति-वाक्य, जो संन्यासी योगी नहीं, उसके लिये समझना चाहिए। वैसे ही—

"यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि।
तस्मै प्रणामः कर्त्तव्यो नेतराय कदाचन॥" इति।

जिसने अपनी अपेक्षा से प्रथम संन्यास को ग्रहण किया हो, और धर्म में अपने समान हो उस संन्यासी को प्रणाम करे, इतर संन्यासी को किसी समय भी प्रणाम नहीं करे।

तस्याप्ययोगिविषयत्वान्नास्य नमस्कारः कर्त्तव्योऽस्ति । अत एव ब्राह्मणलक्षणे "निर्नमस्कारमस्तुतिम्" इत्युदाहृतम् । गयाप्रयागतीर्थेषु श्रद्धाजाड्यात्प्राप्तः स्वधाकारो निषिद्ध्यते, पूर्वत्र निन्दागर्वेत्यादिवाक्येन परकृतया स्वनिन्दया क्लेशो निवारितः, अत्र तु स्वकर्त्तृकेऽन्यविषये निन्दास्तुती निषिद्ध्येते । यादृच्छिकत्वं निर्बन्धराहित्यम् । न क्वचिदपि व्यवहारे निर्बन्धं कुर्यात् । यस्तु देवपूजायां निर्बन्धः स्मर्यते--

यह वचन भी अयोगी संन्यासी के लिये हैं। योगी संन्यासी किसी को नमस्कार न करे। इसीलिये पहिले ब्राह्मण लक्षण के वर्णन में 'नमस्कार और स्तुति रहित' ऐसा कहा गया है। गया, प्रयाग आदि तीर्थों में जाकर अतिशय श्रद्धा वशतः प्राप्त हुए श्राद्ध का भी उसके लिए निषेध है। पूर्व में 'निन्दा गर्व' इत्यादि वाक्य से, अन्य द्वारा की हुई अपनी निन्दा से हुए क्लेश का वारण किया है और यहाँ तो अपने से दूसरों की निन्दा तथा स्तुति का निषेध करता हैं। कोई भी व्यवहार उसको आग्रह पूर्वक न करना चाहिये।

"भिक्षाटनं जपः शौचं स्नानं ध्यानं सुरार्चनम् ।
कर्तव्यानि षडेतानि सर्वथा नृपदण्डवत् ॥" इति ।

भिक्षाटन करना, जप, शौच, स्नान, ध्यान, और देवपूजन, ये छः कर्म संन्यासी राजदण्ड के समान सर्वथा करे।

तस्याप्ययोगिविषयत्वमभिप्रेत्य नाऽऽवाहनमित्याम्नातम् । सकृत्स्मरणं ध्यानम्, नैरन्तर्येणानुस्मरणमुपासनमिति तयोर्भेदः । यथा योगिनः स्तुतिनिन्दालौकिकव्यवहाराभावः, यथा वा देवपूजादिधर्मशास्त्रव्यवहाराभावः, तथा लक्ष्यत्वादिज्ञानशास्त्रव्यवहारोऽपि नास्ति । यत्साक्षिचैतन्यमस्ति तदिदं तत्त्वमसीति वाक्ये त्वंपदेन लक्ष्यं देहादिविशिष्टं चैतन्यं लक्ष्यं न भवति किं तु वाच्यम् । तच्च वाच्यं तत्पदार्थात्पृथक्, लक्ष्यं त्वपृथक् । स्वदेहनिष्ठो वाच्योऽर्थोऽहमिति व्यवहारार्हः । परदेहनिष्ठस्त्वमिति

व्यवहारार्हः। लक्ष्यं वाच्यमित्युभयविधं चैतन्योपेतमन्यज्जडं जगत्सर्वमिति व्यवहारार्हमित्येतादृशो विकल्पो न कोऽपि योगिनोऽस्ति, तदीयचित्तस्य ब्रह्मणि विश्रान्तत्वात्। अत एव स भिक्षुरनिकेतस्थितिरेव। यदि नियतनिवासार्थं कञ्चिन्मठं सम्पादयेत्तदानीं तस्मिन्ममत्वे सति तदीयहानिवृद्ध्योश्चित्तं विक्षिप्येत।

तदेवाभिप्रेत्य गौडपादाचार्या आहुः।

इस भाँति स्मृति में देव पूजन में आग्रह बतलाया है, वह भी योगी के लिये नहीं है। इसी अभिप्राय से 'नावाहनं' इत्यादि श्रुति में कहा गया है। एकबार स्मरण करने का नाम 'ध्यान' और निरन्तर स्मरण करने का नाम 'उपासना' है, यही ध्यान और उपासना में भेद है। जैसे योगी के लिए स्तुति आदि लौकिक व्यवहार नहीं होते है और जैसे देव पूजा आदि धर्मशास्त्र सम्बन्धी व्यवहार नहीं होते हैं वैसे लक्ष्यत्व आदि ज्ञान शास्त्र का व्यवहार भी उसको नहीं होता है। इस प्रकार जो साक्षी चैतन्य है, वह "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में 'त्वं' पद का लक्ष्य है, देहादि उपाधि युक्त चैतन्य 'त्वं पद का लक्ष्य अर्थ नहीं है, परन्तु वह 'त्वं' पद का वाच्य अर्थ है। वह वाच्य अर्थ तत् पद के अर्थ से अलग है, लक्ष्य अर्थ पृथक नहीं है। अपने देह में स्थित वाच्य अर्थ 'अहं' (मैं) इस पद के द्वारा व्यवहार करना योग्य है। तथा अन्य देह में स्थित वाच्य अर्थ 'त्वं' (तू) इस पद से व्यवहार करना योग्य है। लक्ष्य तथा वाच्य इन दो प्रकार के चैतन्य रहित सभी जड जगत् है ऐसा व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार का कोई भी विकल्प योगी को स्फुरित नहीं होता है क्योंकि उसका चित्त ब्रह्म में विश्राम प्राप्त करता है। इसलिये वह संन्यासी एक जगह निवास नहीं करता है। क्योंकि एक ही जगह में निवास करने के लिये यदि कोई मठ बनाये तो, उसमें ममत्व बन्धन से उसकी हानि या वृद्धि होने पर, उसका चित्त विक्षेप युक्त होता हो।

इसी अभिप्राय से गौडपादाचार्य्य कहते हैं—

"निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्॥" इति।

यथा मठो न परिग्रहीतव्यस्तथा सौवर्णराजतादीनां भिक्षाचमनादिपात्राणामेकमपि न गृह्णीयात् । तदाह यमः—

किसी की भी स्तुति या नमस्कार करने में प्रवृत्ति रहित, श्राद्ध न करने वाला, शरीर और आत्मारूप घरवाला और आग्रह रहित संन्यासी को होना चाहिये।

जैसे मठ न बनाय, वैसे ही सोना रजत की भिक्षा या आचमनादि के पात्र में से एक भी उसको न रखना चाहिये। यम स्मृति में भी ऐसा ही कहा है—

"हिरण्यमयानि कृष्णायसमयानि च ।
यतीनां नान्यपात्राणि वर्जयेत्तानि भिक्षुकः ॥" इति ।

मनुरपि—

सोने का पात्र, लोहे का पात्र इत्यादि अन्य पात्र यति को नहीं रखना चाहिए। इसलिये भिक्षु उनका त्याग करे।

"अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषां मृद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥" इति ।
"अलाबुदारुपात्रं वा मृन्मयं वैष्णवं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥" इति ।

बोधायनोऽपि—

संन्यासी के लिये धातु के पात्र न हों और टूटे-फूटे या छिद्रवाले वाले भी न हों, जैसे यज्ञ के चमस पात्र की शुद्ध मिट्टी से होती है, उसी तरह संन्यासियों के पात्रों की भी शुद्धि होती है। तुम्बी का पात्र, काठ का पात्र, माटी का पांत्र और बाँस का पात्र इतने यतियों के पात्र होते हैं, यह स्वायम्भुव मनुजी ने कहा है।

बौधायन भी ऐसा ही कहते हैं—

"स्वयमाहृतपर्णेषु स्वयंशीर्णेषु वा पुनः ।
भुञ्जीत न वटाश्वत्थकरंजानां च पर्णके ॥
आपद्यपि न कांस्येषु मलाशी कांस्यभोजनः ।
सौवर्णे राजते ताम्रे मृन्मये त्रपुसीसयोः ॥" इति ।

तथा लोकं जनं शिष्यवर्गं न गृह्णीयात् ।

तदाह मनुः--

स्वयं लाये हुए या स्वयं गिरे पड़े पत्तों पर यति भोजन करें। किन्तु बड़, पीपल और करंज के पत्ते पर भोजन न करें। आपत्काल में भी कांस्य पात्र में भोजन न करें, क्योंकि कांस्य पात्र में भोजन करने वाला यति मल का भोजन करने वाला है। जैसे सोना, रूपा और तामे के पात्र में भोजन न करे उसी तरह मिट्टी की कलाई या सीसा के पात्र में भोजन न करे।

संन्यासी लोक यानी शिष्यों का भी संग्रह न करे इस सम्बन्ध में मनुजी ने कहा है :—

"एक एव चरेत् नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः ।
सिद्धिमेकस्य पश्यन् हि तज्जहाति न हीयते ॥" इति ।

मेधातिथिरपि--

अकेले की सिद्धि देख कर मोक्ष के लिये नौकर आदि की सहायता विना ही यति नित्य अकेला विचरन करे वह किसी का त्याग नहीं करता है और न उसे लोग त्यागते हैं।

मेधातिथि भी कहते हैं—

"आसनं पात्रलोभश्च संचयः शिष्यसंग्रहः ।
दिवा स्वापो वृथाऽऽलापो यतेर्बन्धकराणि षट् ॥
एकाहात्परतो ग्रामे पञ्चाहात्परतः पुरे ।
वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ॥
उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापि न सङ्ग्रहः ।
भिक्षोर्भैक्षभुजश्चापि पात्रलोभः स उच्यते ॥
गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ।
कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्त्तितः ॥
सुश्रुषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ।
शिष्याणां न तु कारुण्यात्स ज्ञेयः शिष्यसंग्रहः ॥

विद्या दिनं प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ।
विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते ॥
आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भैक्षचर्यां सुरस्तुतिः ।
अनुग्रहात्पथि प्रश्नो वृथाऽऽलापः स उच्यते ॥" इति ।

आसन, पात्र का लोभ, संचय, शिष्य का संग्रह, दिन का सोना, व्यर्थ बकना, ये छः संन्यासियों को बन्धन करने वाली वस्तु है। गाँव में एक दिन वास करे, शहर में पाँच दिन रहे और चातुर्मास्य के सिवाय एक जगह स्थिति करें इसको आसन कहते हैं। भिक्षान्न का भोजन करने वाला यति रक्त तुम्बरी आदि पात्रों में से एक एक का भी संग्रह न करे, वह पात्र लोभ कहलाता है। दण्ड आदि जो अपने पास हो उससे विशेष आगे काम में आवेगा इस विचार से ग्रहण करना उसका नाम संचय है। अपनी सेवा के लिये, लाभ के लिये, पूजा के लिये, यश के लिये, या दया वशतः भी शिष्यों को साथ रखना 'शिष्य-संग्रह' जानो। प्रकाशरूप होने से विद्या का नाम दिन और अन्धकारमय होने से अविद्या का नाम रात्रि है, इसलिये विद्या में जो प्रमाद रक्खे उसका दिन में शयन कहते हैं। अध्यात्म शास्त्र की कथा में, भिक्षा माँगते समय, या देवता की स्तुति करते समय जो आवश्यक बोलना पड़े उसके सिवाय रास्ते में जो सामने मनुष्य आते हों उन पर अनुग्रह कर उसी का कुशल प्रश्न पूछना वृथा भाषण है।

लोकं शिष्यजनरूपं न गृह्णीयादित्येतावदेव न भवति, किन्तु तस्य लोकस्यावलोकं दर्शनमपि न कुर्यात् । तस्य बन्धहेतुत्वात् । न चेत्यनेनान्यदपि स्मृतिनिषिद्धं न कुर्यादित्यभिप्रेतम् । तच्च निषिद्धं मेधातिथिर्दर्शयति—

शिष्य का संग्रह न करे ऐसा ही नहीं, किन्तु उनका अवलोकन भी न करे। श्रुति में 'न च' में चकार का ग्रहण किया है, इसलिये स्मृति के निषेध करने से अतिरिक्त अन्य वस्तु का भी त्याग करो ऐसा समझना चाहिये। निषिद्ध वस्तु मेधातिथि दिखलाते हैं—

"स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् ।
षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥

रसायनं क्रियावादं ज्योतिषं क्रयविक्रयम् ।
विविधानि च शिल्पानि वर्जयेत्परदण्डवद् ॥" इति ।

स्थावर, जङ्गम, बीज, तैजस पदार्थ, विष और शस्त्र इन छः वस्तुओं को यति मूत्र और पुरीष के समान ग्रहण न करे। रसायन, कर्म सम्बन्धी वात, ज्योतिष, अर्थात् किसी ग्रह आदि को देखना, क्रय, विक्रय और विविध कारीगरी, इतनी वस्तुओं को परायी स्त्री के समान त्याग दे।

योगिनो लौकिकवैदिकव्यवहारगतानि यानि बाधकानि सन्ति तेषां वर्जनमभिहितम्। अथ प्रश्नोत्तराभ्यामत्यन्तबाधकं प्रदर्श्य तद्वर्जनमाह।

योगी को लौकिक तथा वैदिक व्यवहार में जो बाधक वस्तु हैं, उनके त्याग को कहा गया है, अब प्रश्नोत्तर द्वारा अत्यन्त बाधक वस्तुओं को देखकर उनका त्याग कहते हैं—

"आबाधकः क इति चेदाबाधकोऽस्त्येव। यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत्स ब्रह्महा भवेत्। यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत्स पौल्कसो भवेत्। यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत्स आत्महा भवेत्। तस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च" इति।

यति को अत्यन्त बाध करने वाला क्या पदार्थ हैं?—उत्तर,—उसको अत्यन्त्र बाध करने वाली वस्तु है, क्योंकि यनि वह सुवर्ण को प्रीति पूर्वक देखे, तो वह ब्रह्महत्या करने वाला होता, और जो सुवर्ण को प्रीति पूर्वक छूवे तो, वह चाण्डाल होता है और भिक्षु जो सुवर्ण को प्रीति से ग्रहण करता है हो वह आत्मा को हनन करने वाला होता है। इसलिये संन्यासो सुवर्ण को प्रीति से न देखे, प्रीति से उसका स्पर्श न करे और प्रीतिपूर्वण उसको ग्रहण भी न करे।

आकारोऽभिव्याप्त्यर्थः "आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ" इत्यभिहितत्वात्। अभिव्याप्तो बाधकोऽत्यन्तबाधकस्तस्य सद्भावं प्रतिज्ञाय हिरण्यस्य तथाविधबाधकत्वमुच्यते। रसेनाभिलाष-

युक्तेनाऽऽदरेण हिरण्यं यदि दृष्टं स्यात्तदानीं स द्रष्टा भिक्षुर्ब्रह्महा भवेत् । हिरण्यासक्त्या तत्सम्पादनरक्षणयोः सर्वदा प्रयतमानस्तद्वैयर्थ्यपरिहाराय प्रपञ्चमिथ्यात्वप्रतिपादकान् वेदान्तान् दूषयित्वा तत्सत्यत्वमवलम्बते । ततः शास्त्रसिद्धमद्वितीयं ब्रह्म तेन भिक्षुणा हतमिव भवति । तस्मादसौ ब्रह्महा भवेत् । तथा च स्मर्यते ।

'यति को ही अत्यन्त बाधक है, ऐसी प्रतिज्ञा कर सुवर्ण को अत्यन्त बाधक कहा है। जो यति सुवर्ण को इच्छा पूर्वक आदर रहित देखे तो वह ब्रह्म हत्या करने वाला होता है। क्योंकि सुवर्ण में आसक्ति होनें से उसको मिलने और रक्षा करने के लिये सदा यत्न करता है, यति, सुवर्ण की व्यर्थता को हटाने के लिये, संसार के मिथ्यापन को प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्यों को दूषण देकर, उसकी सत्यता का अवलम्बन करता है तो उससे शास्त्र सिद्ध अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को मानो संन्यासी ने मार डाला है। इससे वह ब्रह्म हत्या करने वाला होता है। स्मृति में भी ऐसा ही कहा है :—

"ब्रह्म नास्तीति यो ब्रूयाद्द्वेष्टि ब्रह्मविदं च यः ।
अभूतब्रह्मवादी च त्रयस्ते ब्रह्मघातका ॥" इति ।
"ब्रह्महा स तु विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः ।"

अभिलाषपूर्वकं हिरण्यं स्पृष्टं चेत्तदा तत्स्प्रष्टा भिक्षुः पतितत्वात्पौल्कसो म्लेच्छसदृशो भवेत् । पातित्यञ्च स्मर्यते—

जो 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा कहता है और जो ब्रह्मावित् पुरुष से द्वेष करता है और जो मिथ्या ब्रह्मवादी है, ये तीन पुरुष ब्रह्महत्या करनें वाले हैं। सर्व धर्मों से भ्रष्ट हुए पुरुष को ब्रह्महत्या करने वाला जानो।

इच्छा पूर्वक सुवर्ण का स्पर्श करे तब भी वह स्पर्श करने वाला संन्यासी पतित होने से पुल्कस अर्थात् उसे म्लेच्छ के समान जानो। इसका पतित होना स्मृति में लिखा है :—

"पतत्यसौ ध्रुवं भिक्षुर्यस्य भिक्षोर्द्वयं भवेत् ।
धीपूर्वं रेत उत्सर्गो द्रव्यसंग्रह एव च ॥" इति ।

जो संन्यासी बुद्धिपूर्वक वीर्यपात और धनका संग्रह इन दो कामों को करता है। वह भिक्षु निश्चय पतित होता है।

अभिलाषपुरःसरं हिरण्यं न ग्राह्यम्। गृहीतं चेत्तदा स भिक्षुर्देहेन्द्रियादिसाक्षिणमसङ्गं चिदात्मानं हतवान् भवेत्। असङ्गत्वमपोह्य स्वात्मनो हिरण्यादि द्रव्यं प्रति भोक्तृत्वेन प्रतिपन्नत्वात्। तस्याश्चान्यथाप्रतिपत्तेः सर्वपापरूपत्वं स्मर्यते--

संन्यासी इच्छा पूर्वक सुवर्ण का ग्रहण न करे। क्योंकि सुवर्ण ग्रहण करने से वह देहेन्द्रिय का साक्षी आत्मा का हनन करने वाला होता है। क्योंकि अपने आतमा के असङ्गपन को त्याग कर उसने आतमा को हिरण्य आदि द्रव्य का भोक्ता होना माना है। आतमा का अन्यथा ज्ञान सभी पापरूप है—ऐसा स्मृति कहती है।

**"योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते,।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा॥"**

किञ्चाऽऽत्मघातिनः सुखलेशेनापि रहिता बहुविधदुःखेनाऽऽवृता लोकाः श्रूयन्ते—

जो आतमा के स्वरूप को अन्य प्रकार का और स्वयं उससे अन्य प्रकार का मानता है उस आतमा को हरण करने वाले चोर पुरुष ने कौन पाप नहीं किया है? बहुत किया है।

आतमघाती को जिसमें लेश मात्र भी सुख नहीं है ऐसे अनेक दुःखयुक्त लोक की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुति कहती है।

दृष्टं चेत्यनेन चकारेण श्रुतं च समुच्चीयते। स्पृष्टं चेत्यनेन कथितस्य समुच्चयः। ग्राह्यं चेत्यनेन व्यवहृतं चेति समुच्चयः। दर्शनस्पर्शनग्रहणवदभिलापपूर्विका हिरण्यवृत्तान्तश्रवणतद्गुणकथनतदीयक्रयादिव्यवहारा अपि प्रत्यवायहेतव इत्यर्थः। यस्मात्साभिलाषहिरण्यदर्शनादयो दोषकारिणस्तस्माद् भिक्षुणा हिरण्यदर्शनादयो वर्जनीया इत्यर्थः॥

हिरण्यवर्जनस्य फलमाह—

सुवर्ण का दर्शन, उसका छूना, और उसका ग्रहण जैसे दोषों का कारण है, वैसेही अभिलाषा पूर्वक सुवर्ण सम्बन्धी बात करना, और उसके गुणों को कहना और उसके द्वारा खरीद-फरोखत करना आदि व्यवहार करना भी प्रत्यवाय का ही कारण है। सुवर्ण की इच्छा पूर्वक उसका दर्शन इत्यादि दोष उपजाने वाला होने से संन्यासी सुवर्ण सम्बन्धी सारे व्यवहारों को छोड़ दे।

सुवर्ण के त्याग का फल कहते हैं :—

"सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते दुःखे नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहस्त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदते च सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते," इति।

जो पुरुष (द्रव्य की इच्छा त्यागकर) परमात्मा में ही स्थिति करता है उसके मन में रही हुई इच्छाओं का नाश हो जाता है। दुःख में तो उद्वेग नहीं हो पाता है, सुख में स्पृहारहित होता है। उसके राग में त्याग होता है। सर्व शुभ में वह स्नेह रहित होता है। वह किसी से द्वेष नहीं करता है, वह किसी पदार्थ से हर्ष को प्राप्त नहीं करता है, और उसकी सभी इन्द्रियों की गति विषयों से निवृत्त होती है।

पुत्रभार्यागृहक्षेत्रादिकामानां सर्वेषां हिरण्यमूलत्वाद्धिरण्ये परित्यक्ते सति ते कामा मनोगता मनस्यवस्थानाद् व्यावर्तन्ते व्यावृत्ता भवन्ति। कामनिवृत्तौ सत्यां कर्मप्राप्तयोर्दुःखसुखयोरुद्वेगस्पृहे न भवतः। एतच्च स्थितप्रज्ञप्रस्तावे प्रपञ्चितम्। ऐहिकयोः सुखदुःखयोरधिक्षेपकत्वे सत्यामुष्मिकविषयरागेऽपि त्यागो भवति। ऐहिकसुखस्पृहायुक्तो हि तद्दृष्टान्तेनानुमित आमुष्मिके सुखे रागवान् भवति। तस्मादैहिकनिःस्पृहस्याऽऽमुष्मिके रागाभावो युज्यते। एवं सति सर्वत्र लोकद्वयेऽपि यौ शुभाऽशुभावनुकूलप्रतिकूलविषयौ तयोरनभिस्नेहः। एतच्च द्वेषराहित्यस्याप्युपलक्षणम्। तादृशो विद्वान् शुभकारिणं कंचिदपि पुरुषं न द्वेष्टि शुभकारिणि च मोदं न प्राप्नोति। द्वेषमोदरहितो यः पुमानात्मन्येव सर्वदाऽवतिष्ठते तस्य सर्वस्य सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिः

प्रवृत्तिरुपरमते। इन्द्रियोपरतौ न कदाचिदपि निर्विकल्पकसमाधेर्विघ्नो भवति। तेषां का स्थितिरिति प्रश्नस्य सङ्क्षेपविस्तराभ्यामुत्तरं पूर्वमुक्तं तदेवात्र पुनरपि हिरण्यनिषेधप्रसङ्गेन स्पष्टीकृतम्॥

पुत्र, स्त्री, घर, क्षेत्र, इत्यादि सब भोग्यपदार्थों का मूल सुवर्ण अर्थात् द्रव्य है। इसलिये उसका त्याग करने से स्त्री पुत्रादि के मन में रही हुई इच्छा भी निवृत हो जाती है। काम की निवृत्ति होने पर कर्म के द्वारा प्राप्त सुख और दुःख से स्पृहा और उद्वेग दूर हो जाते हैं। यह वार्त्ता स्थितप्रज्ञ के प्रसङ्ग में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। ऐहिक सुख-दुःख के अनादर होने से परलोक के सुख में भी राग का त्याग होता है। क्योंकि जिसको इस लोक के सुख में स्पृहा होती है उसको इस लोक के सुख से अनुमान किया गया पारलौकिक सुख की भी इच्छा होना सम्भव है। इसलिये ऐहिक सुख में निःस्पृह पुरुष को परलोक के सुख में विराग सम्भव होता है। इस प्रकार इन दोनों लोकों में शुभ और अशुभ अनुकूल और प्रतिकूल वैसे ही विषयों में राग द्वेष रहित होता है। ऐसा विद्वान् अपने अशुभ करने वाले किसी भी पुरुष से द्वेष नहीं करता है, उसी तरह अपने शुभ करने वाले पर प्रसन्न नहीं होता है। राग-द्वेष रहित जो पुरुष आत्मा में ही स्थिति करता है उसकी इन्द्रियों की प्रवृत्ति सर्वथा उपरत हो जाती हैं। वैसा होने पर किसी समय भी उसको निर्विकल्प समाधि में विघ्न नहीं होता है।

जीवन्मुक्त पुरुष की कैसी स्थिति होती है? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप और विस्तार से पहिले दिया गया है। उसका ही यहाँ फिर हिरण्य के निषेध के प्रसङ्ग से स्पष्टीकरण किया है।

अथ विद्वत्संन्यासमुपसंहरति।

"यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति" इति।

यद्ब्रह्म वेदान्तेषु पूर्णानन्दैकबोधः परमात्मेति निरूपितं तद्ब्रह्माहमस्मीत्येवं सर्वदाऽनुभवन्नयं योगी परमहंसः कृतकृत्यो भवतीति। तथा च स्मर्यते—

अब विद्वत्संन्यास का उपसंहार किया जाता है। जिस ब्रह्म का वेदान्त में पूर्णानन्द स्वरूप, अखण्ड ज्ञान स्वरूप और परमात्मारूप से निरूपण किया है, वह ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार निरन्तर अनुभव करता हुआ योगी परमहंस कृतकृत्य होता है, स्मृति में भी ऐसा ही कहा है —

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥" इति ।

ज्ञान रूप अमृत द्वारा तृप्ति को प्राप्त हुए कृतकृत्य योगी के लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है। और यदि कर्त्तव्य हो तो, वह तत्त्वज्ञ नहीं है।

जीवन्मुक्तिविवेकेन बन्धं हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थमखिलं देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

जीवन्मुक्ति के विवेक से हृदय के बन्धनों को नाश करता हुआ ऐसे विद्या तीर्थ गुरु से अभिन्न श्रीमहेश्वर सम्पूर्ण पुरुषार्थ को दे।

इति श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीते जीवन्मुक्तिविवेके विद्वत्संन्यास-
निरूपणं नाम पञ्चमं प्रकरणम् ॥ ५ ॥
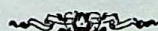
भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसन्देहवृत्तिः ।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ॥ १ ॥
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् पाषाणमृन्मयान् ।
योगिनो न प्रपद्यन्ते आत्मज्ञानपरायणाः ॥ २ ॥
अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम् ।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥ ३ ॥
सर्वत्रावस्थितं शान्तं न प्रपद्ये जनार्दनम् ।
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वादन्धः सूर्यमिवोदितम् ॥ ४ ॥

सम्पूर्णोऽयं श्रीमद्विद्यारण्यप्रणीतो जीवन्मुक्तिविवेकः ॥ ५ ॥

जहाँ वाणी नहीं पहुँचती और जो तीन गुणों से रहित ऐसे परमात्मा का ज्ञान पा कर भेद और अभेद उसी समय नष्ट हो जाते हैं; पुण्य और पाप क्षीण हो जाते हैं, अविद्या और मोह का भी क्षय हो जाता है और सन्देह रूप वृत्ति भी नष्ट हो जाती है। त्रिगुणातीत मार्ग पर चलने वाले पुरुष के लिये क्या विधि? या क्या निषेध होता है? अर्थात् ऐसा पुरुष विधि निषेध से रहित होता है। आत्मज्ञान में तत्पर योगी जल से पूर्ण तीर्थ को और पाषाण और मिट्टी के बने देवों को शरण में नहीं जाते हैं। द्विजातियों के देव अग्नि, मुनियों का देव हृदय में, स्वल्पबुद्धिवालों का देव प्रतिमा में, और आत्मवेत्ताओं का देव सर्वत्र है। जैसे अन्धा पुरुष सूर्य के उदय होने पर भी नही देखता, वैसे अज्ञ पुरुष ज्ञान रूपी नेत्र से हीन होने से सर्वत्र व्यापक एवं शान्त और सब लोग जिसको इच्छा करते हैं ऐसे परमात्मा को नहीं देखते हैं।

विद्यारण्यविरचित जीवन्मुक्तिवेक का श्रीउदयनारायणसिंह कृत भाषानुवाद पूर्ण हुआ।

शब्दानुक्रमणिका

श्लोकानुक्रमणिका

नवीन प्रकाशित दुर्लभ ग्रन्थ

१ श्रीमद्भगवद्गीता (गीता) मधुसूदन सरस्वती कृत संस्कृत टीका तथा सनातन देव कृत हिन्दी टीका (१९८३) राज संस्करण १५०-०० कार्ड बोर्ड संस्करण १००-००

२ नामलिङ्गानुशासनम् नाम अमरकोशः (कोश)। अमर सिंह कृत। भानुजी दीक्षित (रामाश्रय) कृत 'रामाश्रमी' (वाक्यसुधा) संस्कृत टीका तथा हरगोविन्दशास्त्री कृत 'मणिप्रभा' (प्रकाश) हि० टीकादि। राज संस्करण २५०-०० कार्ड बोर्ड संस्करण १५०-००

३ काव्यप्रदीपः। म० म० श्रीगोविन्दप्रणीतः। वैद्यनाथ कृत टीका। पं० दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर सम्पादित- (१९८२) ५०-००

४ वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः। स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि विरचित। (१९८२) १५०-००

५ हरविजयम्। राजानक रत्नाकर विरचित। राजानक अलक कृत टीका सहित। पं० दुर्गाप्रसाद एवं काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब (१९८२) १००-००

६ चम्पूरामायण। राजाभोज कृत १-५ खण्ड तक, लक्ष्मणसूरि कृत छठवाँ खण्ड। रामचन्द्रबुधेन्द्र कृत टीका। वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर सम्पादित। (१९८२) ४०-००

७ भामिनीविलासः (काव्य) जगन्नाथ कृत। राधेश्याम मिश्र कृत 'प्रकाश' हिन्दी टीका। अन्योक्ति विलास-प्रस्ताविक विलास २५-०० संपूर्ण ६०-००

८ कामसूत्र (कामशास्त्र)। वात्स्यायन मुनि कृत। यशोधर कृत 'जयमङ्गला' संस्कृत। देवदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीकादि (१९८२) १५०-००

९ नारदसंहिता (ज्योतिष)। नारद महामुनि कृत। सान्वय, विमला हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार-राम जन्म मिश्र (१९८२) ६०-००

१० नाट्यशास्त्रम् (नाट्य)। भरतमुनि कृत। सं० बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय संशोधित (१९८२) सम्पूर्ण १००-००

११ योगसूत्रम। (योग) पतञ्जलि कृत। भोजराज कृत 'राजमार्तण्ड'-भावागणेश कृत 'प्रदीपिका'-नागोजि भट्ट कृत 'वृत्ति' ब्रह्मानन्द यति कृत-'मणिप्रभा' अनन्त देव कृत 'चन्द्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योग सुधाकर' षः टीका। विस्तृत हिन्दी भूमिका डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी (१९८२) ५०-००

प्राप्तिस्थान—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पो० बा० ११३९ बाराणसी-१